राधाकृष्ण मूल्यांकन माला

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

रामपूजन तिवारी,
एम० ए०, पी-एच, डी०
हिन्दी विभाग,
विश्वभारती विश्वविद्यालय

राधाकृष्ण प्रकाशन

प्रथम संस्करण, १९७१

मूल्य

मूल्य

१० रुपये नये

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन,
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
रूपक प्रिन्टर्स,
नवीन शाहदरा
दिल्ली-३२

दो शब्द

इस पुस्तक के लिखे जाने की योजना वर्षों पहले बन चुकी थी लेकिन लिखी नही जा सकी। अतएव आज इसकी समाप्ति पर सन्तोष अनुभव कर रहा हूँ। पुस्तक के सम्बन्ध मे मुझे कुछ नही कहना है। जैसी बन पडी है, आपके सामने है। साहित्य मे रुचि रखने वालो के किसी काम आ सकी तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा।

पुस्तक के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहने पर भी हिन्दी विभाग के अपने दो सहकर्मियो का स्मरण किए बिना नही रह सकता। श्रीमती मनोरमा तथा श्री भोलानाथ मिश्र ने पाडुलिपि पढकर अनेक स्थलो पर त्रुटि-विच्युतियो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया और उनके संशोधन मे सहायता दी। धैर्यपूर्वक आद्योपान्त पाडुलिपि पढने के अलावा श्री भोलानाथ मिश्र ने और भी कई प्रकार से मेरी सहायता की। इन दोनो के प्रति आभार-प्रदर्शन कर इनके स्नेह और आत्मीयता का मूल्य कम नही करना चाहता।

बन्धुवर श्री ओमप्रकाश को कहाँ तक धन्यवाद दूँ? इस पुस्तक को प्रकाशित करने का उनका आग्रह रहा है। राधाकृष्ण प्रकाशन की ओर से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है।

हिन्दी भवन,
शान्तिनिकेतन
(प० बगाल)

रामपूजन तिवारी

क्रम

आलोचक और आलोचना

पाश्चात्य विचारकों तथा आलोचकों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से काव्य तथा कलाकृतियों में निहित सौन्दर्य-तत्त्व की विभिन्न दृष्टिकोणों से गहराई में जाकर छानबीन की है। उन दृष्टिकोणों से परिचय पाना तथा उन पर गहराई से विचार करना हमारे लिए आवश्यक है। इसका कारण केवल जिज्ञासा और कुतूहल-वृत्ति को ही शान्त करना नहीं है बल्कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य और कलाकृतियों को समुचित ढंग से समझने के लिए और उनके रसास्वादन के लिए यह जानकारी आवश्यक है।

किसी प्रकार की गलतफहमी की जिसमें गुंजाइश न रह जाए इसलिए हम यहां स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के अध्ययन के लिए पाश्चात्य आलोचकों और विचारकों के मतों की जानकारी हमारे लिए आवश्यक क्यों है? आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य और कला के क्षेत्र में विभिन्न प्रयास केवल रूप-विधान की दृष्टि से ही नहीं बल्कि विचारधारा की दृष्टि से भी बहुत दूर तक अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य और कला से प्रभावित हैं। ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भारतीय लेखकों तथा कलाकारों ने हू-ब-हू पश्चिम की नकल की है। एक या दो उदाहरण ले लें। प्रेमचन्द के उपन्यास अथवा प्रसादजी के नाटक पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति और वातावरण का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन साहित्य की ये दोनों विधाएँ निश्चित रूप से पश्चिम की देन हैं।

उपन्यास आधुनिक युग की उपज है और इसका जन्मदाता पश्चिम ही है। नाटक-साहित्य भारतवर्ष में समृद्ध अवश्य था लेकिन आधुनिक नाटक ने रूप-विधान की दृष्टि से पश्चिम की ओर ही अधिक देखा है। इसके साथ ही सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं के चित्रण की दृष्टि प्रेमचन्द तथा प्रसाद की आधुनिक है और इसके लिए आधुनिक भारतीय लेखक तथा कलाकार पश्चिम के ऋणी हैं।

अतएव हमारे लिए यह समझना कठिन नहीं कि पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त, उसके क्रमिक विकास, उसकी खूबियों तथा उसकी त्रुटियों से परिचय

पाना हमारे लिए कितना आवश्यक है। अपने आधुनिक साहित्य और कला-कृतियो को समझने के लिए उसका ज्ञान अनिवार्य है।

साधारणत जब हम आलोचना की बात कहते हैं तब सहज ही हमारे मन मे यह आता है कि आलोचना का अर्थ एक प्रकार से निर्णय देना है। चाहे आलोचना का व्यापक अर्थ मे ही हम प्रयोग क्यो न करें, हमारे मन मे यह बात बराबर बनी रहती है कि वह एक प्रकार का निर्णय है। वास्तव मे पहले आलोचक का यही काम समझा भी जाता था। आलोचक का यह काम था कि वह किसी कृति को अच्छा और किसी को बुरा कह अपना निर्णय दे दे।

साहित्य के आलोचक के बारे मे यह धारणा हमारे भीतर बनी हुई है कि वह एक विशेषज्ञ होता है और अपने ज्ञान और अध्ययन का उपयोग किसी कवि या कलाकार को समझने मे करता है और उसे अच्छा या बुरा कहने का अधिकार रखता है।

आलोचक के सम्बन्ध मे तरह-तरह की धारणाएँ लोगो मे देखने को मिलती है। यह कहना मुश्किल है कि यह धारणा लोगो की कैसे बनी कि जो साहित्य के अन्य क्षेत्रो मे असफल हो जाता है यह आलोचना के क्षेत्र को अपनाता है। लेकिन साथ ही यह भी देखा जाता है कि भले ही लोगो ने आलोचक के बारे मे भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए हो लेकिन सभी उसे अलग एक विशेष कोटि का मानते हैं। साहित्य की आलोचना की एक ऐसी परम्परा चल गई है कि आलोचक के लिए यह जरूरी नही समझा जाता कि जिस विषय (कविता, नाटक, उपन्यास आदि) की वह आलोचना करने जा रहा है उसका प्रणयन भी वह कर सके। अन्य क्षेत्रो मे ऐसी बात नही देखी जाती। किसी मकान या पुल की जाँच करने वाला या उसके सम्बन्ध मे लिखने वाला इजीनियर ही होगा। अगर दूसरा कोई उसमे दखल देने जाए तो उसकी कोई भी सुनने को तैयार नही होगा।

साहित्यिक कृति म साहित्यकार का व्यक्तित्व तो हम पाते ही है अर्थात् उस कृति मे साहित्यकार तो वर्तमान रहता ही है, साथ ही उसम एक लक्ष्यीभूत श्रोता भी रहता है। यह लक्ष्यीभूत श्रोता ही आलोचक है। उसम साहित्य को समझने की क्षमता रहती है। वह साहित्यकार के भावो की गम्भीरता और सूक्ष्मताओ को समझने म समर्थ होता है और उसे प्रकाश मे लाता है। इस प्रकार से आलोचक एक साथ ही पाठक, गुण-दोष का विवेचक तथा निर्णायक आदि है।

वास्तव म कवि, उपन्यासकार अथवा नाटककार का वास्तविक जीवन को लेकर होता है। जीवन की विविधताओ तथा विभिन्न परिस्थितियो को साहित्य म रूप देना साहित्यकार का काम होता है। वह जीवन की गहराइयों म पैठने की क्षमता रखता है और अपनी दृष्टिभगी से उन्हे समझने और रूपायित करने का प्रयास करता है। एक शब्द मे यह तो कहा जा सकता है कि साहित्यकार अथवा

कलाकार 'जीवन को जानने' का प्रयास करता है और उसे कलात्मक रूप देने की चेष्टा करता है।

'जीवन को जानने' का यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसका मतलब यह नहीं है कि जीवन को देखने से जो हमारी अनुभूति होती है अथवा जिन भावों का हमारे भीतर उद्रेक होता है, उतना ही भर जानकर हम रह जाएँ बल्कि उससे भी अधिक गहरे में हमें पैठना होगा। वास्तव में जीवन को 'देखने' की हमारी जो दृष्टि होती है उसके पीछे एक बहुत बड़ी शक्ति क्रियाशील रहती है। हम आज जो हैं उसके बनने में केवल आज की ही परिस्थितियाँ नहीं है। *वर्तमान के साथ ही हमारा पिछला इतिहास हमारे साथ लगा हुआ है।* हमारे सोचने के ढंग, हमारे अच्छे या बुरे संस्कार के मूल में हमारे पिछले इतिहास का बहुत बड़ा हाथ है। अतएव जब हम कहते हैं कि साहित्यकार या कलाकार के लिए 'जीवन का जानना' आवश्यक है, तब अन्य बातों के अलावा उसके लिए मनुष्य के प्राचीन इतिहास, संस्कृति, परम्परा तथा विभिन्न ज्ञान विज्ञान से भी परिचय प्राप्त करने की बात हम कहते हैं।

यह सही है कि मनुष्य वातावरण से प्रभावित होता है। देश की राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों से वह अछूता नहीं रह सकता। जिस समाज या परिवार का वह सदस्य है उसकी भी अपनी विशेषताएँ होती हैं। इन सबको लेकर तथा परम्परा से पाए हुए अपने संस्कारों के साथ आज के मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है अतएव साहित्यकार अथवा कलाकार को इन सारी बातों की बारीकियों को देखने में समर्थ होना चाहिए।

इस 'जीवन को देखने और समझने' में समर्थ होकर ही वह निपुणता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार से जीवन से परिचय प्राप्त कर साहित्यकार अथवा कलाकार अपनी रचना में प्रवृत्त होता है। साहित्यकार अपनी रचना में जीवन को चित्रित करने का प्रयास करता है तथा जीवन की व्याख्या करता है। और यह भी निर्विवाद है कि उसकी रचना में जीवन का जो चित्रण होता है अथवा उसकी जो व्याख्या वर्तमान रहती है वह रचनाकार की दृष्टिभंगी का ही प्रतिनिधित्व करती है। साहित्यकार ने जीवन को जैसा देखा है अथवा 'समझा' है उसी के अनुरूप उसका चित्रण होगा अथवा उसकी व्याख्या होगी।

आलोचक भी कलाकार की नाईं जीवन को 'देखने' और 'समझने' में समर्थ होता है। आलोचक साहित्यकार तथा उसकी रचना की समीक्षा करता हुआ यह बतलाने का प्रयत्न करता है कि उसकी विशेषताएँ क्या है अथवा उसमें किस बात की कमी है। अपनी ओर से वह यह भी सुझाने की चेष्टा करता है कि कवि या कलाकार के लिए क्या उपयुक्त होता है। आलोचक यह कहने का अधिकारी होता है कि रचनाकार को किस प्रकार अपनी 'वस्तु' को उपस्थित करना चाहिए

अथवा उसके किस पहलू का चित्रण समीचीन होगा।

आलोचक यह भी समझने मे समर्थ होता है कि साहित्यकार ने भाषा का प्रयोग ठीक किया है या नही क्योंकि जो बात रचनाकार कहना चाहता है या जिस भाव को वह अभिव्यक्ति देना चाहता है उसे आलोचक अच्छी तरह समझता है। कवि के भाव-चित्र के सौन्दर्य को देखने मे आलोचक सक्षम होता है इसलिए उसकी रचना के सम्बन्ध मे वह कह सकता है कि सचमुच मे कवि उस भाव-चित्र को प्रस्तुत करने मे सफल हुआ है या नही।

कुछ लोग यह मानते हैं कि किसी रचना द्वारा किसी कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को नही समझा जा सकता है लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि भले ही कवि या कलाकार जिन अनुभूतियो तथा प्रभावो को चित्रित कर रहा है वे उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश न डालते हो लेकिन 'वस्तु' को प्रस्तुत करने के ढग तथा उसकी शैली मे उसका व्यक्तित्व रहेगा ही। अतएव आलोचक कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को भी समझने की चेष्टा करता है वैसे मुख्य रूप से उसकी दृष्टि उसकी रचना की ओर ही रहती है।

कहा जाता है कि आलोचक का काम एक प्रकार से वैज्ञानिक जैसा है कि वह भावो और विचारो तथा शब्दो को लेकर इस बात की जाँच करता है कि कहाँ तक वे एक-दूसरे के अनुरूप हैं। व्याकरण, छन्द, अलकारो की विशेषताओ को ध्यान मे रख वह काव्य पर विचार करता है। केवल इतना ही नही, किसी काव्य के पाठ को लेकर उसकी व्याख्या तथा शब्दो और उनके प्रयोगो के औचित्य-अनौचित्य का विचार कर वह पाठ-निर्धारण भी करता है। पाठ-निर्धारण करना, काव्य के प्रसगो का स्पष्टीकरण, काव्य म वर्णित आचार विचार तथा विश्वासो आदि पर प्रकाश डालना, शब्दो और वाक्याशो की विशेषताओ और अर्थ-गाम्भीर्य का उद्घाटन करना आदि आलोचक का काम समझा जाता है।

लेकिन वास्तव म काव्य का मूल्याकन अथवा जिसे हम काव्य की आलोचना कहते हैं वह इससे भिन्न है। काव्य के रूप विधान तथा बाह्य तत्त्वो की आलोचना को काव्य के मूल्याकन अथवा काव्यालोचन से दूर नही समझा जा सकता, फिर भी काव्य मे निहित सौन्दर्य-तत्त्व तथा उसकी आनन्द विधायिनी शक्ति का उद्घाटन तथा उसके प्रति पाठक को जागरुक बनाना एव उनके रसास्वादन मे सहायक होना ही वास्तविक काव्यालोचन है।

आलोचक के लिए एक-दो काम तक ही अपने को सीमित रखना यथेष्ट नही माना जाता। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचार कर भिन्न-भिन्न प्रकार के काम आलोचक के लिए निर्धारित किए जाते है। सबसे पहला उसका कर्म यह समझा जाता है कि वह किसी रचना अथवा कलाकृति के सम्बन्ध मे सहज भाव से यह

बतलावे कि वह विशेष रचना या कलाकृति उसे अच्छी लगी या बुरी लगी। उसके लिए यह भी समझा जाता है कि वह या तो किसी रचना की व्याख्या करता है अथवा उसकी विवेचना में प्रवृत्त होता है। वह किसी रचना के स्पष्टीकरण का भी भार लेता है। ऐतिहासिक तथ्यों को भी वह सामने ला सकता है या कलाकृति तथा किसी रचना में अन्तर्निहित तथ्य को प्रकाश में ला सकता है। लेकिन चाहे जो भी काम वह करे यह स्वीकार करना होगा कि उसका काम विशुद्ध वैज्ञानिक का नहीं है।

आलोचक स्वयं कलाकार है और उसने कलाकार का हृदय पाया है और जैसा कि Sainte Beuve ने कहा है—"कविता कवि-हृदय का ही स्पर्श पाती है," आलोचक और कवि एक हो जाते हैं। कवि के अन्तर ने जिस पथ का अनुसरण किया है आलोचक उससे परिचित होता है। दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि कलाकार स्वतन्त्र होता है और उसकी कल्पना की उड़ान निर्बाध होती है जबकि आलोचक को उस रचना या कलाकृति को बराबर अपने सामने रखना पड़ता है। वैसे आलोचक भी स्वतन्त्र ढंग से कल्पना-जगत् में विचरण कर सकता है, यद्यपि उसके लिए उस रचना को जिसकी आलोचना में वह लगा हुआ है अपनी आँखों से ओझल होने देना कठिन है।

हमने ऊपर कहा है कि आलोचक स्वयं कलाकार है और उसे कवि-हृदय प्राप्त है, इसी प्रकार यह भी ठीक है कि कवि भी आलोचक होता है। ऐसा कहने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि बड़े-बड़े कवि भी आलोचक हो गए हैं बल्कि ऐसा कहने का उद्देश्य आलोचना की एक विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी है।

यह तो सभी जानते हैं कि किसी रचना या कलाकृति के प्रकाश में आने के बाद ही उसकी आलोचना होती है लेकिन प्रायः ही इस बात की ओर ध्यान नहीं जाता कि आलोचना का अस्तित्व कलाकृति के पूर्व भी रहता है। इसका मतलब यह है कि कोई भी कलाकृति तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि वह कलाकार की आलोचना और विवेचना के द्वारा खरीदी न गई हो। अपनी कला के उस रूप तक पहुँचने के पहले कलाकार मन ही मन आलोचना करता रहता है। साहित्य तथा अन्य कलाकृतियों की सृष्टि के पूर्व इस आलोचना की क्रिया प्रबल रूप में बनी रहती है।

साहित्य की आलोचना की बात जब हम कहते हैं, तो उस आलोचना के दो पहलुओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। एक तो यह कि जब साहित्यकार जीवन की प्रतिच्छवि के निर्माण में लगा हुआ है अथवा उसका चित्र उपस्थित करने में लगा हुआ है तब वह जाने या अनजाने जीवन की विवेचना भी करता जाता है। साहित्यकार जीवन को किस दृष्टि से देखता है यह उसके

उपस्थित किए हुए चित्र को देखकर सहज ही समझा जा सकता है।

जीवन कैसा है अथवा उसे कैसा होना चाहिए, यह साहित्यकार की कृति से स्पष्ट हो जाता है और जो कुछ हमारे सामने स्पष्ट होता है वह साहित्यकार या कलाकार की अपनी दृष्टि से देखा हुआ होता है। जीवन की इस विवेचना को उपस्थित करना अन्य ललित कलाओं जैसे स्थापत्य, चित्र तथा मूर्तिकला आदि की अपेक्षा साहित्य के लिए अधिक सहज होता है। वास्तव में जीवन का जो चित्र साहित्यकार उपस्थित करता है वह हू-ब-हू जीवन की नकल नहीं है यद्यपि वह जीवन का वास्तविक चित्र ही उपस्थित करने में लगा हुआ है।

आलोचना का दूसरा पहलू यह है कि जब साहित्यकार या कलाकार 'वस्तु' (जीवन, प्रकृति आदि) को रूप देता है, तो वह चित्र चित्र ही हो सकता है, ठीक वही 'वस्तु' नहीं। अतएव निश्चित रूप से वास्तविकता से उसमें कमी रह जाएगी। जैसे घोड़े का चित्र चित्र ही है, सजीव घोड़ा नहीं। चित्र से घोड़े का बोध अवश्य हो जाएगा, उससे अन्य किसी चौपाये का भ्रम नहीं होगा, अगर वह चित्र ठीक तरीके से बना हुआ है लेकिन वह सजीव घोड़े की बराबरी नहीं कर सकता।

इतना स्वीकार करने पर भी यह बात सहज ही देखी जा सकती है कि चित्रित 'वस्तु' वास्तविक 'वस्तु' से अधिक विशिष्टता वाली हो जाती है क्योंकि उस चित्रित 'वस्तु' में स्वयं साहित्यकार तथा कलाकार वर्तमान रहता है। साहित्यकार उसे एक वैशिष्ट्य, एक सौन्दर्य की महिमा से मंडित कर देता है। आलोचक इस वैशिष्ट्य से हमें परिचित कराता है तथा हमारे भीतर सौन्दर्य को जाग्रत कर हमारे लिए रसास्वादन का मार्ग प्रशस्त करता है। सब कुछ पर विचार कर हम देखेंगे कि आलोचना का मुख्य उद्देश्य यही होता है।

पाश्चात्य आलोचना का प्रारम्भ

(क) प्लेटो

पाश्चात्य आलोचना का इतिहास प्लेटो (ईसापूर्व ४२८-७—ईसापूर्व ३४८-७) से प्रारम्भ होता है। साहित्य और कला के विकास में जो शक्तियाँ सक्रिय रहती है उनके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्लेटो ने जैसे अपने सहज ज्ञान से प्राप्त किया था। साहित्य और कला-संबंधी जिन सिद्धान्तों का उसने निर्देश किया है वे मानव-जीवन के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को ध्यान में रखकर स्थिर किए गए हैं। प्लेटो आदर्शवादी था। मानव-जीवन के अध्ययन से जो कुछ भी उसने समझा, जो सिद्धान्त उसने स्थिर किए उन्हें ही दृष्टि में रखकर उसने साहित्य पर विचार किया है। उसके समक्ष जो साहित्यिक सामग्री थी उसकी ओर उसने ध्यान नहीं दिया। सत्य की खोज की भावना को ध्यान में रखकर उसने साहित्य और कला पर विचार किया। उसके लिए कला और काव्य का महत्त्व इसी बात में था कि लोगों को शिक्षा देने और उनके मार्ग-प्रदर्शन में काम में लगाए जा सकते हैं। उसने इनका विवेचन इसी दृष्टि से किया कि वे इस दृष्टि से कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होंगे। ईसापूर्व चौथी शताब्दी से लेकर आज तक पाश्चात्य कविता पर प्लेटो का प्रभाव चला आ रहा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' से कई तरह की कविताओं को बहिष्कृत कर दिया और जो कविता के प्रति संदिग्ध दृष्टि रखता था उसका कविता के क्षेत्र में ऐसा दीर्घकाल-व्यापी प्रभाव हो। यह प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी बना हुआ है। वैसे इतने लम्बे काल में कभी उसका प्रभाव बहुत अधिक रहा है और कभी कुछ मंद पड़ गया है। कम से कम चार ऐसे युग गए हैं जिनमें प्लेटो के मत का प्रभाव शक्तिशाली रहा है। पहले तो नव-अफलातूनी युग (सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं तक) में प्लेटो पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी गईं। दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच भी प्लेटो के संबंध में पर्याप्त अध्ययन-विवेचन होता रहा। इसे डायोनिसियन युग कहा गया है। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के बीच पुनर्जागरण काल में तथा उन्नीसवीं

शताब्दी के रोमेन्टिक (स्वच्छन्दतावादी) युग में प्लेटो ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। प्राचीन काल के सुप्रसिद्ध कवियों जैसे ओविड (Ovid), वर्जिल (Virgil), दान्ते (Dante) आदि पर उसका पूरा प्रभाव पड़ा था।

साहित्य के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए प्लेटो ने कहा कि भाव (thought) का अस्तित्व रूप-विधान (form) के पूर्व वर्तमान रहता है। उसका कहना है कि चित्रकार वस्तुओं का अनुकरण करता है और वस्तुएँ भाव का प्रतिनिधित्व करती हैं। वस्तुओं में निहित भाव ही उसका सत्य है। भाव (idea) से प्लेटो का मतलब ईश्वरीय आद्यरूप (archetype) से है और इसे वह यथार्थ या सत्य मानता है। जगत की वस्तुएँ प्रेम, न्याय, सुन्दरता आदि इसी ईश्वरीय आद्यरूप की नकल हैं। सभी आद्यरूपों का उद्गम परमात्मा है। भाव या आद्यरूप परमात्मा द्वारा सम्भव होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए खाट का सुप्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जैसे कहा जाता है कि संसार भर में अनगिनत खाटें हैं। इन *खाटों का अस्तित्व इसलिए है कि 'खाट का भाव' वर्तमान है।* जब कोई बढ़ई खाट बनाता है तो वह अपने मन के भीतर के 'खाट के भाव' का अनुकरण करता है। उसके मन के भीतर खाट का जो भाव-चित्र है वह परमात्मा द्वारा निर्मित खाट का आद्यरूप है। प्लेटो इसी आदर्श रूप को सत्य कहता है। खाट के उदाहरण में अगर ध्यान से देखें तो तीन रूप आते हैं। पहला भाव (idea) या आद्यरूप। परमात्मा द्वारा इसका अस्तित्व सम्भव होता है। दूसरा बढ़ई है जो अपने मन के भीतर के भाव-चित्र के अनुरूप खाट का निर्माण करता है। तीसरा बढ़ई द्वारा निर्मित खाट का कलाकार द्वारा चित्रण। इस दृष्टि से देखने पर खाट बनाने वाला बढ़ई सत्य से दूसरे स्थान की दूरी पर है और कलाकार सत्य से तीसरे स्थान की दूरी पर। अतएव प्लेटो ने कहा है कि होमर से *प्रारम्भ कर जितने भी कवि हैं वे सद्गुणों अथवा जिस किसी भी विषयवस्तु* का चुनाव करते हैं उनके छायाभास का अनुकरण करते हैं। सत्य से उनका कभी भी सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता है।

सत्य (True), शिव (Good) और सुन्दर (Beautiful) को प्लेटो सर्वोच्च मूल्य स्वीकार करता है। उसका कहना है कि अन्त में तो ये सभी एक ही हैं, फिर भी वह शिव (Good) को अधिक महत्त्व देता है। वह व्यक्ति, परिवार या समाज की समस्याओं के संबंध में नैतिकता को सबसे प्रमुख स्थान देता है। कला या साहित्य में प्लेटो की उतनी ही दूर तक रुचि है कि अच्छे नागरिक के जीवन और चरित्र-गठन में उनसे कहाँ तक सहायता मिलती है। प्लेटो का नागरिक आदर्श व्यक्ति है। वह सत्य और नैतिकता का पुजारी है। उसकी दृष्टि में कलाएँ अवास्तव में संलग्न रहती हैं। प्लेटो का विश्वास था कि अन्य कलाओं के समान कविता भी व्यक्ति और समाज के लिए नैतिक दृष्टि

से उपादेय नही है। उसका कहना था कि राज्य के लिए यह उचित है कि वह उस कविता से नागरिको की रक्षा करे जो उन्हे अनैतिक बनाती है। उसका सब समय इसी बात पर ध्यान रहता था अतएव उसने पूर्ण रूप से कविता को बहिष्कृत नही किया है। जो कविता या कला नागरिको के उत्कर्ष-साधन मे सहायक हो उन्हे वह प्रश्रय देने की बात कहता है। सभी प्रकार की कविताओ को वह गर्हित नही कहता। उन कवियो को उसने अपने 'रिपब्लिक' मे रहने की अनुमति दी थी जो देवताओ और महान् व्यक्तियो का गुणानुवाद करने वाले थे।

साहित्य के सबध मे प्लेटो की तीन स्थापनाएँ हैं (१) बाह्य जगत् की वस्तुओ और व्यापारियो की अनुकृति साहित्य-रचना के मूल मे है। (२) साहित्य से मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है और उससे उसे एक अनिर्वचनीय सुखद अनुभूति होती है, इसलिए साहित्य मनुष्य पर बहुत बडा प्रभाव डालता है। मनुष्य को प्रभावित करने की साहित्य मे एक बहुत बडी शक्ति है। (३) वह साहित्य को भावावेगो से परिचालित होने वाला मानता है। उसका कहना है कि उसकी प्रक्रिया भावनात्मक होती है, बौद्धिक नही। इन्ही तीन स्थापनाओ के आधार पर उसने अपने साहित्य-सबधी विचार प्रकट किए हैं। साहित्य के सबध मे उसकी दृष्टि नकारात्मक है। उसका कहना है कि चूँकि साहित्य अनुकृति है इसलिए वह सत्य के निकट नही है और इसलिए उसमे किसी प्रकार के तात्त्विक सत्य की खोज करना सपूर्ण भूल है। उसका यह भी कहना है कि नैतिकता के विचार से साहित्य मे केवल उच्च आदर्श तथा उदात्त विचार वाले चरित्रो का निर्माण होना चाहिए और तभी वह सात्त्विक आनन्द को देने वाला होगा। उसका कहना है कि साहित्य मे श्रेष्ठ और निम्न प्रकार के चरित्रो का चित्रण होता है इसलिए उसमे नैतिकता का होना सभव नही। तीसरे वह मानता है कि वह हमारी चेतन वृत्ति और सदसद् विवेक को नही जगाता बल्कि उसके विपरीत वह आत्मविस्मृत और आत्मविभोर कर देता है इसलिए वह आदर्श प्रजातन्त्र के योग्य नही समझा जा सकता। उसका कहना है कि साहित्य का प्रभाव बौद्धिक न होकर भवेगात्मक होता है साथ ही वह हम ऊपर न उठाकर पाशविक बनाता है, इसलिए प्लेटो की दृष्टि मे वह आदर्श समाज की स्थापना मे सहायक नही सिद्ध हो सकता।

प्लेटो इस जगत् को ईश्वरीय आद्यरूप (Divine archetype) की त्रुटिपूर्ण अनुकृति मानता है। रिपब्लिक' मे कविता को वह अनुकरणमूलक (mimetic) कला कहता है। उसके अनुसार कवि इस निर्मित जगत् की वस्तुओ और उसके क्रियाकलापो को देखता है और उन्हे ही आदर्श प्रतिमान मानकर चित्रण करता है। इस प्रकार से यह अनुकृति की अनुकृति है। प्लेटो का कहना है कि कलाकार को केवल छाया, आभास (appearance) से मतलब है

अथवा यों कहा जा सकता है कि छाया की छाया से मतलब है। उस दुनिया को लेकर उसका कारबार है जिसे हम अपनी आँखों से प्रत्यक्ष करते हैं, कानों से सुनते हैं। यह प्रतीयमान जगत् है जिसमें वे वस्तुएँ, जिन्हें हम प्रत्यक्ष करते हैं, आती-जाती रहती हैं। एक क्षण बड़ी प्रतीत होती हैं और दूसरे क्षण छोटी। कभी किसी वस्तु की अपेक्षा गर्म मालूम होती हैं और अन्य की अपेक्षा ठंडी। एक क्षण में मीठी, दूसरे क्षण में खट्टी प्रतीत होती हैं। यह दुनिया सब समय परिवर्तित होने वाली, अनेकत्व वाली, छाया मात्र है जबकि यथार्थ अपरिवर्तनशील है, एक है। दीख पड़ने वाली बहुत-सी वस्तुओं को हम सुन्दर कहते हैं लेकिन वास्तव में केवल एक ही चरम सौन्दर्य है जिसे अन्तर ही प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि प्रतीयमान वस्तु का ही अनुकरण करता है, सत्य का नहीं।

अतएव प्लेटो का कहना है कि कवि अनुकृति की अनुकृति करता है। उसके विषय और उसकी शैली अयथार्थ हैं। वह बुद्धि को प्रभावित नहीं करता, केवल आवेगों को ही उद्दीपित करता है। आत्मा के निकृष्टतम अंश को वह उत्तेजना प्रदान करता है, शक्तिशाली करता है तथा उसके लिए खाद्य जुटाता है। वह अनियंत्रित भावनाओं को प्रभावित करता है तथा विशृंखल भावावेगों को उभाड़ता है। ये भावनाएँ और भावावेग ऐसे हैं कि अपने सामान्य नित्य नैमित्तिक जीवन में उनकी बात सोचकर भी लज्जा का अनुभव होता है। प्लेटो का कहना है कि कवि या कलाकार की ऐसी कृति भले ही मन-बहलाव की एक वस्तु हो लेकिन यह सत्य की ओर ले जाने वाली नहीं होगी। सत्य के विपरीत ले जाने वाली वह कृति होगी। प्लेटो के इस कथन का यह अर्थ होगा कि कविता एक तुच्छ, नगण्य वस्तु है।

प्लेटो के अयान (Ion) में बतलाया गया है कि कवि अथवा कविता-पाठ करने वाला चारण, दोनों ही ईश्वरीय शक्ति से अनुप्रेरित होते हैं। अन्यत्र प्लेटो ने संकेत किया है कि सचमुच की कविता अंतःप्रेरणा के बिना संभव नहीं। कवि जब उस अवस्था को प्राप्त करता है तब वस्तुओं में निहित चरम सत्य की एक झाँकी पाता है। प्लेटो का कहना है कि कलाकार की नैतिकता पर उसकी कला की महानता निर्भर करती है। उसने यह भी कहा कि कला और नैतिकता का पारस्परिक संबंध होता है। कलाकार का चरित्र उसकी कृति में देखने को मिलता है। दूसरी ओर कलाकृति मनुष्य के जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव डालने वाली होती है। प्लेटो के अनुसार वही वस्तु सुन्दर कही जाएगी जो नैतिकता को अभिव्यक्त करती है। प्लेटो ने अपने 'डायलॉग' में बताया है कि किसी भी वक्तव्य को एक जीवधारी के समान होना चाहिए जिसका शरीर ऐसा हो कि न उसके सिर में और न पैर में किसी प्रकार की अपूर्णता या त्रुटि हो। उसे ऐसा होना चाहिए कि उसका संपूर्ण शरीर और उसके अंग आपस में सामंजस्यपूर्ण हों। अंग-

प्रयत्न में भी सामञ्जस्य रहना चाहिए।

प्लेटो की अनुकृति के सम्बन्ध में जो धारणा थी उसके मूल में उसका सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त था। उसका कहना था कि मनुष्य के लिए यह उचित है कि वह सत्य से अपना सम्बन्ध जोड़े। सत्य की खोज-सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण का फल यह हुआ कि उसने कला के सत्य और प्रकृति के सत्य में अन्तर न कर उनका एक समान विवेचन किया। काव्य के सौन्दर्य-तत्त्व और आनन्द देने की उसकी शक्ति की ओर भी उसने ध्यान नहीं दिया। एरिस्टाटल ने अपने 'पोएटिक्स' में इस समस्या का समाधान सुझाया है। उसका कहना है कि काव्य में जो अनुकृति होती है वह व्यापक सम्भावनाओं (general probablities) पर आधारित होती है अतएव उसमें अधिक दार्शनिकता है और इसलिए वह इतिहास से अधिक सत्य है। नव-अफलातूनी (Neo-platonists) तो एरिस्टाटल से भी आगे चले गए। प्लॉटिनस से आरम्भ कर सभी नव-अफलातूनियों का मत है कि काव्यात्मक अनुकृति सभी अनुकृतियों में महत्तम है क्योंकि कवि ईश्वरीय आदर्श (Divine archetype) की अनुकृति करता है। और यह कारीगर (artisan) का काम है कि जो नमूना सामने है उसकी वह नकल करता है। इस प्रकार से नव-अफलातूनी प्लेटो के कथनों से ही इस परिणाम तक पहुँच गए कि कलाकार का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इस सिद्धान्त का प्रभाव पुनर्जागरण काल में पूर्ण रूप से बना रहा और स्वच्छन्दतावादी युग में भी इसका महत्त्व कम नहीं हुआ।

अपने भावों की व्यञ्जना के लिए प्लेटो ने मिथकों, प्रतीकों और बिंबों का सहारा लिया है। ये सभी पहले से चले आते हुए धर्म से लिए गए हैं। प्रेरणा (*inspiration*) और अनुकृति (*imitation*) के सिद्धान्तों को नव-अफलातूनियों ने उस जगह तक पहुँचाया कि उनकी दृष्टि में कविता में रहस्यवादी और गूढ़ (occult) तत्त्व वर्तमान रहते हैं। इसी रहस्यवादी प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर उन्होंने कविता की अस्पष्टता की व्याख्या की। इस अस्पष्टता के उन्होंने दो कारण बताए : (१) कवि जो कुछ व्यक्त करना चाहता है वह मानवीय दृष्टि से परे है। सामान्य प्रचलित भाषा में उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता इसीलिए उसे प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। (२) कवि को अपने ज्ञान को अविश्वासियों से छिपाना पड़ता है क्योंकि गलत ढंग से वे उसका व्यवहार कर सकते हैं। कवि के प्रतीक और उसकी अन्योक्तियाँ एक प्रकार से पर्दे का काम करती हैं जिसके भीतर केवल दीक्षित (initiated) ही जा सकते हैं।

प्लेटो का यह कथन सही है कि कलाकार वास्तविकता से कुछ कम की सृष्टि करता है लेकिन साथ ही यह भी सही है कि उसकी कृति में वास्तविकता से एक कुछ विशेष हम पाते हैं। उसकी कृति में उसकी भावना और उसकी दृष्टिभंगी का भी समावेश रहता है। वह इस क्षणिक और नाशवान जीवन को कल्पना द्वारा

एक रूप देना चाहता है, भावाभिमंडित करना चाहता है जो अपने आप में चिर-स्थायी होता है। वह प्रकृति का मात्र अनुकरण नहीं करता। कलाकार ने प्रकृति को जिस तरह से देखा है, उसने उसे जैसा पाया है, उसको कृति में हम पाते हैं। यद्यपि यह प्रकृति की हू-ब-हू नकल नहीं है इसलिए यथार्थ से इसमें 'कमी' अवश्य रहेगी क्योंकि यथार्थ की बराबरी यथार्थ ही कर सकता है और कलाकृति के लिए इस दृष्टि से उसके साथ होड़ लगाना व्यर्थ है। लेकिन कलाकार की कृति में प्रकृति के यथार्थ से हम कुछ 'अधिक' भी पाते हैं क्योंकि उसमें वह 'स्वयं' भी वर्तमान है।

नैतिकता और कला के अलग-अलग क्षेत्र हैं। नैतिकता उपदेश देती है जबकि कला उसकी ओर उन्मुख नहीं होती। कला बड़े आत्मविश्वास के साथ कहती है कि जीवन देखने में 'कुछ इस प्रकार का' है और इसका चाहे तुम जो भी अर्थ समझो। कलाकार कहना चाहता है कि यह उसका देखा हुआ 'जीवन' है, अगर उसमें तुम्हारे काम का कुछ मिले तो ठीक है, अगर नहीं मिले तो उसे कुछ लेना-देना नहीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि कलाकृतियों की 'कमियों' की ओर तो प्लेटो का ध्यान गया लेकिन उनमें एक कुछ 'अधिक' भी है जिसके कारण उनमें एक विशिष्टता आ गई है, इस ओर उसका ध्यान नहीं गया। वास्तव में प्लेटो की दृष्टि आध्यात्मिक थी और भाव (Idea) से वह वस्तु तक पहुँचता है इसलिए काव्य और कला की इस विशिष्टता की ओर उसकी दृष्टि नहीं गई।

(ख) एरिस्टाटल

एरिस्टाटल (ईसापूर्व ३८४—ईसापूर्व ३२२) प्राचीन काल में पाश्चात्य जगत् का प्रथम विचारक था जिसने कविता और नाटक के संबंध में क्रमबद्ध रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। उसके सामने ग्रीक साहित्य तथा अन्य विषयों से संबंधित ग्रीक भाषा की रचनाएँ थीं। स्वभावतः उस काल में न अधिक संख्या में रचनाएँ ही वर्तमान थीं और न बहुत-से विषयों की चर्चा ही थी। अतएव एरिस्टाटल के लिए आलोचना का क्षेत्र सीमित ही था, फिर भी पाश्चात्य देशों के विचारकों पर उसका व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा। अपने समय का वह सुप्रसिद्ध विचारक तो था ही, फिर भी आज भी उसके विचारों में ताजगी का अनुभव होता है। काव्य और साहित्य की आलोचना के विकास में एरिस्टाटल का प्रभाव अत्यन्त महत्त्व का है।

एरिस्टाटल प्लेटो का शिष्य था। वह सत्रह वर्ष की उम्र में प्लेटो के विद्यालय 'एकेडमी' में प्रविष्ट हुआ। प्लेटो की मृत्यु के बाद उसने भी अपना विद्यालय स्थापित किया था। यद्यपि वह प्लेटो का शिष्य था, फिर भी प्लेटो के विचारों से उसके विचारों में बहुत अन्तर है। प्लेटो की दृष्टि आध्यात्मिकता से प्रभावित

थी और एरिस्टाटल में तार्किकता और वैज्ञानिकता थी। प्लेटो ने कलात्मक कृतियों के अध्ययन में नीतिशास्त्र और नैतिकता को प्रधानता दी थी लेकिन एरिस्टाटल ने उनके अध्ययन में सौन्दर्यशास्त्र और कलात्मकता को प्रधानता दी। एरिस्टाटल का मन वस्तुओं से भावों या विचारों (ideas) तक पहुँचता था और प्लेटो का भावों या विचारों से वस्तुओं तक। इसका अर्थ यह हुआ कि भावों या विचारों में जो कुछ यथार्थ है वह वस्तुओं के विश्लेषण द्वारा प्राप्त किया हुआ यथार्थ है; जैसे किसी वृक्ष-विशेष की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर उस वृक्ष की जाति की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त की जाती है। प्लेटो के लिए ठीक इसके विपरीत है। वह भावों या विचारों के यथार्थ से वस्तुओं के यथार्थ तक पहुँचता है।

एरिस्टाटल का कहना है कि कवि या तो प्रतिभा लेकर ही जन्म ग्रहण करता है और अपनी बुद्धि या सहृदयता के बल पर अपने विषय के साथ एकाकार हो सकता है अथवा उसमें एक पागलपन होता है जिसके सहारे वह अपने आप से दूर चला जाता है और ऊँचा उठकर भावोन्माद की अवस्था को प्राप्त होता है। एरिस्टाटल यद्यपि कवि नहीं था, फिर भी उसने अपनी बुद्धि या सहृदयता के बल पर ही कविता-संबंधी समस्याओं को अत्यन्त निपुण भाव से सुलझाने का प्रयास किया है। एरिस्टाटल में एक ऐसी निर्ममता पाई जाती है कि ज्ञान के क्षेत्र में आकर वह बड़े ठंडे दिमाग से विचार करता है। कला, साहित्य, राजनीति आदि पर विचार करते समय उसने सम्पूर्ण रूप से अपने को उन्हीं में सीमित रखा है। अगर वह काव्य पर विचार करता है तो काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं जाता। उसी प्रकार से नाटक पर विचार करते समय नाटक के क्षेत्र में ही वह अपने को सीमित रखता है। एक के साथ दूसरे को लेकर उसने गड़बड़ नहीं किया है, इसलिए बहुत-सी बातों में वह उन भूलों से बच गया जिनसे प्लेटो अपने को नहीं बचा सका। ज्ञान-विज्ञान के नाना क्षेत्रों में उसका प्रवेश था इसलिए उसके विचारों में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं आने पाई और व्यापक दृष्टि से देखने में वह समर्थ हो सका। किसी विशेष सिद्धान्त या मतवाद का प्रचार करना उसका उद्देश्य नहीं था, अतएव सहज बुद्धि और विश्लेषण द्वारा वह तर्कसंगत परिणामों पर पहुँचता था। काव्य, नाटक आदि के संबंध में उसने कुछ सिद्धान्त स्थिर किए हैं जिनसे आगे आने वाली पीढ़ी का मार्ग-प्रदर्शन हुआ है। वैसे प्लेटो के समान न उसने कवि-हृदय ही पाया था और न उतना बड़ा वह प्रतिभा-सम्पन्न ही था। प्लेटो प्रतिभावान था तथा उसमें सर्जन की शक्ति थी। एरिस्टाटल की प्रतिभा विश्लेषण और व्यवस्था की ओर अधिक झुकी हुई है। कलाकृतियों को, चाहे वे काव्य हों या चित्र हों, एरिस्टाटल 'सुन्दर' मानता है और उन्हें आनन्द देने वाली मानता है। सुन्दर को छोड़कर वह उनकी कल्पना नहीं करता। सौन्दर्य को वह

कलाकृति का एक तत्त्व मानता है। उसने कहा है कि कविता हो या चित्र उसमे आनुपातिकता और अनुपात का रहना आवश्यक है। जीवधारी वस्तु के शरीर और अंग-प्रत्यंग मे जो ऐक्य सन्निविष्ट रहता है वही जैव ऐक्य (organic unity) कलाकृतियो मे भी रहना चाहिए। एरिस्टाटल के इस मत के अनुसार अगर हम किसी कलाकृति को अच्छी कहते है तो उसका तात्पर्य यह है कि हम उसे सुन्दर कहते हैं। प्लेटो के समान कलाकृतियो से पाए जाने वाले आनन्द की जाति—अच्छी या बुरी—निर्धारित करने की ओर उसकी दृष्टि नही है।

काव्य के सबध मे उसने अपने ग्रन्थ 'पोएटिक्स' मे बहुत कुछ कहा है। वैसे काव्य-सबधी उसके ये विचार क्रमबद्ध रूप मे 'पोएटिक्स' मे नही कहे गए, बल्कि उस ग्रन्थ मे वे इधर-उधर बिखरे हुए हैं। अपने 'रेटरिक' और 'पोएटिक्स' ग्रन्थो मे उसने अपने पहले के ग्रन्थकारो का भी उल्लेख किया है। इसमे इतना तो पता चल ही जाता है कि उन विषयो की चर्चा पहले से होती चली आ रही थी। फिर भी क्रमबद्ध रूप मे पहले-पहल एरिस्टाटल ने ही उन्हे सबके समक्ष रखा। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' मे नाटक और विशेष रूप से दुखान्तिकी (tragedy) की चर्चा की है। 'पोएटिक्स' की रचना पुस्तक के रूप मे नही हुई है। सभवत एरिस्टाटल ने अपने शिष्यो से काव्य के सबध मे जो कुछ कहा है वही बाद मे 'पोएटिक्स' के नाम से परिचित हुआ। यह भी हो सकता है कि उसने अपने लिए कुछ टिप्पणियाँ लिखी हो तथा कुछ शिष्यो को समझाने के लिए कहा हो और बाद मे इन दोनो को सकलित कर पुस्तक का रूप दे दिया गया हो। चाहे जिसने भी इसे पुस्तक का रूप दिया हो यह सबके पढने की दृष्टि से नही किया गया था। इतना होने पर भी 'पोएटिक्स' ऐसी प्रथम रचना है जिसमे साहित्य के दर्शन पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। बाद की साहित्य सबधी विवेचनाओ का यह आधार है। इस ग्रन्थ मे ट्रैजेडी के सबध मे इतनी व्यापक दृष्टि से और इतनी गहराई मे जाकर विचार किया गया है कि वह साहित्य का सिद्धान्त बन गया है। ट्रैजेडी सबधी अपने विचारो म थोडा-सा सशोधन कर एरिस्टाटल ने महाकाव्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' म बतलाया है कि इन्द्रियोद्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तु से सक्रिय होकर 'फैन्टेसी' (कल्पना) सक्रिय होकर वस्तुओ और उनके सबधो की प्रतिच्छवि (image) का निर्माण करती है और इन प्रतिच्छवियो से तर्कणा (reason) शक्ति भावो को रूप देती है। इस प्रकार से इन्द्रियानुभूति से भाव तक की प्रक्रिया मे प्रतिच्छवियो का महत्त्व का स्थान है। ये प्रतिच्छवियाँ इन्द्रिय और भाव के बीच सेतु का काम करती हैं।

प्लेटो की नाईं एरिस्टाटल भी कला को अनुकृति मानता है लेकिन उसकी अनुकृति का अर्थ भिन्न है। एरिस्टाटल अनुकृति को मानवीय मूलभूत प्रवृत्ति

मानता है। इसे वह बौद्धिक प्रवृत्ति मानता है जो कविता तथा संगीत, चित्रकला और स्थापत्य कला में अपने को प्रकाश करती है। अनुकृति को वह हू-ब-हू नकल नहीं मानता। उसे वह जीवन की आदर्श रूप में अभिव्यक्ति मानता है। अनुकृति होते हुए भी कला हू-ब-हू वही नहीं है जिसका कि अनुकरण किया जा रहा है बल्कि वह उसकी कुछ विशिष्टता प्रस्तुत करती है। अनुकृति (mimesis) को वह सामान्यों (universals) का प्रस्तुतीकरण मानता है। एरिस्टाटल के सामान्यों का अर्थ मानवीय भाव (thought), संवेदना (feeling) तथा कार्य (action) का स्थायी और विशिष्ट प्रकार या विधि (mode) है। उसके सामान्यों को आध्यात्मिकता से कुछ लेना-देना नहीं है। इन सामान्यों का ज्ञान केवल दार्शनिकों को ही नहीं होता। वह मानता है कि इन सामान्यों का चित्रण कवि कर सकता है और पाठक समझ ले सकता है। पाठक को उसे समझने के लिए आध्यात्मिकता का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। काव्यात्मक अनुकृति सिर्फ पात्रों की नहीं बल्कि कार्यरत पात्रों की अनुकृति है। केवल 'यथार्थ' की नकल को एरिस्टाटल अनुकृति नहीं मानता। उसका कहना है कि कवि का 'सत्य' इतिहासज्ञ का सत्य नहीं है। वह 'सत्य' उसी का सत्य है। अतएव कला का कार्य पूरी तरह से नकल नहीं करना है बल्कि जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से गुजरने वाले मनुष्य के चरित्र और उसके मानसिक द्वन्द्व तथा कर्तव्याकर्तव्य के चित्रण द्वारा उसके अन्तर को प्रत्यक्ष करना है। इस प्रकार से जहाँ तक अनुकरण का प्रश्न है उसमें तो 'यथार्थ' में कुछ कमी पड़ जाती है लेकिन उससे कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु हमें प्राप्त होती है और वह है जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं का प्रत्यक्षीकरण। एरिस्टाटल की दृष्टि में यह अनुकृति सुन्दर है। वह तर्कसंगत है। वह पाठक या दर्शक के सहज विश्वास को आघात नहीं पहुँचाती अर्थात् उसे वैसी ही जैसी कि वह दीख पड़ती है मान लेने में पाठक या दर्शक को संकोच नहीं होता। वह प्रत्ययकारी होती है। उसमें व्यक्ति का चित्रण होता है लेकिन उसका उद्देश्य व्यापक सत्य को अभिव्यक्त करना है। वह भावात्मक होती है। यह अनुकृति आनन्द प्रदान करने वाली है और मन को इस भौतिक जगत् से ऊपर उठाकर एक अनिर्वचनीय लोक में पहुँचा देने वाली है।

प्लेटो ने कहा है कि कविता चित्रकला की तरह है लेकिन एरिस्टाटल के अनुसार कविता, संगीतकला या नृत्यकला की तरह है। चित्रकला में जिस तरह की अनुकृति होती है वह संगीतकला तथा नृत्यकला में निहित अनुकृति से भिन्न है। इस प्रकार एरिस्टाटल काव्य अथवा ललितकला में अनुकृति की विशिष्टता को स्वीकार करता है। ये अनुकृतिमूलक हैं। उसने महाकाव्य, दुखान्त और सुखान्त नाटक, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि को अनुकृतिमूलक कहा है। एरिस्टाटल के अनुसार अनुकृति में तीन तत्त्व निहित हैं (क) वस्तुएँ जिनका

अनुकरण किया जा रहा है अर्थात् अनुकार्य, (ख) माध्यम, जिनके द्वारा अनुकार्य की अभिव्यक्ति हो रही है, (ग) अभिव्यक्ति की विभिन्न शैली या प्रकार जिनका उपयोग उस माध्यम के द्वारा किया जा रहा है। अर्थात् अनुकृति का वर्गीकरण वह वस्तु, माध्यम और शैली को दृष्टि में रखकर कर रहा है।

अनुकार्य मनुष्य भी हो सकता है, देवी-देवता भी। मनुष्य जैसा है उससे अच्छा भी दिखलाया जा सकता है और बुरा भी दिखलाया जा सकता है। कविता में किस वस्तु की अनुकृति होती है इसके सम्बन्ध में एरिस्टाटल का कहना है कि सामान्यतया कविता में क्रियारत मनुष्य (man in action) की अनुकृति होती है। लेकिन क्रियारत से उसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य जिन कार्यों में लगा हुआ है उनकी अनुकृति, बल्कि उसका अर्थ यह है कि मनुष्य की प्रकृति के संदर्भ में जो कुछ हो रहा है अर्थात् घटनाएँ जो मनुष्य के जीवन में घट रही हैं उनकी अनुकृति। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि उसका तात्पर्य मनुष्य के जीवन की कहानी से है जिसमें प्रमुख वस्तु मनुष्य है। इस प्रकार अनुकृति से एरिस्टाटल का तात्पर्य ज्यों का त्यों चित्रण, हू-ब-हू नकल नहीं है। कवि अपनी कल्पना शक्ति द्वारा बाह्य जगत् से प्रेरणा ग्रहण करता है और कविता में कल्पना द्वारा ग्रहण की हुई इसी प्रेरणा की अनुकृति होती है। अतएव हम देखते हैं कि कविता या कला कल्पनात्मक आवेग (impulse) को रूप देती है। कवि जीवन को जैसा है वैसा ही चित्रित नहीं करता है बल्कि जीवन कैसा हो सकता है इसका चित्रण करता है। जीवन कैसा हो सकता है यह कल्पना का व्यापार है। जीवन कैसा हो सकता है इसके संधान में जब कल्पना संलग्न रहती है तब वह एक आवेग बन जाती है और हृदय में प्रेरणा बनकर कविता को उत्पन्न करती है।

एरिस्टाटल के अनुसार 'ट्रेजेडी' किसी गंभीर कार्य की उसकी संपूर्णता में अनुकृति है। यह कार्य कुछ ऐसा होता है कि उस पर किसी विशिष्ट व्यक्ति की खुशी निर्भर करती है। अनुकृति कविता की कथावस्तु में अवस्थित रहती है। कथावस्तु से एरिस्टाटल का मतलब घटनाओं के अनुक्रम मात्र से नहीं है बल्कि घटनाओं की संरचना (गठन) से है। ये घटनाएँ कुछ इस प्रकार से नियोजित रहती हैं कि सब-कुछ मिलाकर हम एक जैव सम्पूर्णता (organic whole) को प्रत्यक्ष करते हैं। अतएव कवि का मुख्य कार्य कथावस्तु (plot) को एक सुगठित रूप देना है। कथावस्तु का यह सुगठित रूप उसे बना-बनाया नहीं प्राप्त होता, उस ढाँचे का निर्माण उसे स्वयं करना पड़ता है इसीलिए कवि को निर्माता कहा जाता है। एरिस्टाटल ने अनुकृति के संदर्भ में कार्य (action) पर जो बल दिया है इससे अनुकृति का विषय केवल प्रकृति ही नहीं रह गई बल्कि पात्र, भाव, कोई सच्ची घटना अथवा कल्पना प्रसूत घटना या प्राकृतिक वस्तुएँ सभी अनुकृति

के विषय हो सकती हैं।

जहाँ तक माध्यम का प्रश्न है उसका कहना है कि कविता का माध्यम शब्द है। लेकिन वह कहता है कि सचमुच में कविता के माध्यम का कोई नाम नही है। मूर्तिकला में जिस प्रकार से माध्यम का नाम लिया जा सकता है उस प्रकार से कविता के माध्यम का नाम लेना सभव नही। एरिस्टाटल का कहना है कि लोगो के मन में यह धारणा बनी हुई है कि छन्दोबद्ध होने से ही कोई रचना कविता कही जा सकती है। वास्तव मे छन्दोबद्ध होने पर भी कोई रचना कविता नही कही जा सकती और बिना छन्दो के भी किसी रचना में कविता के गुण रह सकते हैं अर्थात् गद्य में भी कविता के मुख्य तत्त्व पाए जा सकते है।

कविता के सदर्भ मे एरिस्टाटल के अनुकृति के सिद्धान्त का अर्थ यह हो जाएगा कि कविता शब्दो में कल्पनात्मक प्रेरणा का अनुकरण करती है। कविता और बाह्य जगत् के बीच के सम्बन्ध पर इस सिद्धान्त में बहुत ध्यान नही दिया गया है। एरिस्टाटल द्वारा प्रतिपादित अनुकृति, कला के अन्तर्गत कलात्मक सक्रियता तक ही सीमित है। इसमें काव्य के आवेग और काव्य की भाषा के बीच का सबध स्पष्ट हो जाता है। जहाँ तक शैली के अनुसार साहित्यिक कृति के वर्गीकरण का प्रश्न है एरिस्टाटल के अनुसार चाहे वह नाटक के रूप मे हो सकता है, चाहे कथा के रूप मे। वह मानता है कि महान् साहित्यकार मनुष्य की उदात्त वृत्तियो का चित्रण महाकाव्य तथा दुखान्त काव्य मे करता है और साधारण कोटि के साहित्यकार मनुष्य की कुप्रवृत्तियो का चित्रण करते हैं और सुखान्त काव्य (कामेडी) की रचना करते है। काव्य द्वारा नैतिकता या शिक्षा का प्रसार हो इसमे एरिस्टाटल को कोई आपत्ति नही थी लेकिन उसका कहना था कि वह अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए। उसका यह भी कहना था कि सपूर्ण वस्तु को ध्यान में रखकर ही उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का विचार करना चाहिए तथा काव्य के किसी भी अश को सदर्भ से अलग करके विचार करना उचित नही।

तत्कालीन साहित्य को ध्यान मे रखने के कारण ही एरिस्टाटल इस प्रकार के विचार प्रकट करता है। उसके सामने अगर आज का व्यापक साहित्य होता तो सभवत अन्य प्रकार से वह विचार करता। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने व्यावहारिक समीक्षा की धारा का श्रीगणेश किया। विश्लेषण, वर्गीकरण आदि के द्वारा उसने आगे आने वाले समीक्षको का पथ प्रदर्शन किया। यही आगे चलकर क्लासिकल (शास्त्रीय) समीक्षा के रूप मे परिणत हुआ।

दुखान्तिकी (tragedy) की चर्चा करते हुए ही एरिस्टाटल ने कविता के सबध मे अपने विचार प्रकट किए हैं। उसके दुखान्तकी के सबध मे प्रकट किए हुए विचार इतने व्यापक हैं कि उनमे साहित्य और कविता के सामान्य सिद्धान्तों

पर प्रकाश पड़ता है। कविता के संबंध में एरिस्टाटल ने जो विचार प्रकट किए हैं वे ट्रेजेडी के परिप्रेक्ष्य में प्रकट किए गए हैं। ट्रेजेडी में अन्विति (unity) के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर उसने कविता और साहित्य की बात कही है। एरिस्टाटल कविता को इतिहास से कहीं अधिक दर्शनात्मक और उदात्ततर मानता है। वस्तुओं, घटनाओं में अन्तर्निहित जो नियम हैं उन्हें समझने और जानने की एक सहज प्रवृत्ति कविता में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि कविता में दर्शन की तरह वस्तु-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने का आग्रह है। वस्तुओं में अन्तर्निहित इन नियमों को अधिक से अधिक व्यापक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति कविता में होती है। ये नियम किस तरह वस्तुओं में समान रूप से सक्रिय हैं यह जानने का प्रयास कविता में होता है। ये सामान्य नियम भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बीच संबंध स्थापित करते हैं। एरिस्टाटल का कहना है कि कवि यह नहीं बतलाता कि क्या हुआ है बल्कि यह बतलाता है कि क्या हो सकता है और क्या संभव है। कविता और इतिहास में इस बात में भिन्नता नहीं है कि उनमें छन्दों का व्यवहार होता है या नहीं। छन्दों में उतारने पर भी इतिहास इतिहास ही रहेगा। वास्तव में उनमें अन्तर इस बात में है कि इतिहास जो कुछ हो चुका होता है उसका वर्णन करता है और कविता इस बात का चित्रण करती है कि क्या हो सकता है। संभावनाओं अथवा आवश्यकताओं के नियमों के परिप्रेक्ष्य में कविता यह बतलाती है कि क्या होने की संभावना है। इतिहास इतना ही भर बतलाता है कि कौन-सी घटना घटी है लेकिन वह उसी प्रकार से क्यों घटी है इसकी निश्चित जानकारी हम नहीं हो पाती। इसका कारण यह है कि वास्तविक घटना के पूर्व सचमुच में क्या-क्या घटित हुआ है इसकी पूर्ण रूप से हमें जानकारी नहीं हो सकती। उन घटनाओं के पीछे कौन-कौन से कारण सक्रिय थे उनकी पूर्ण रूप से जानकारी प्राप्त करना कठिन है। और फिर उन घटनाओं के परिणामों का पूरा-पूरा लेखा-जोखा भी संभव नहीं हो पाता। घटनाओं के घटित होने के पूर्व तथा बाद के परिणामों के मूल में कौन-कौन से कारण सक्रिय थे इनका हम अनुमान भर कर सकते हैं। इतिहास में न कुछ शुरू होता है और न कुछ समाप्त होता है। घटनाओं के अनुक्रम का कुछ परिचय हमें मिल जाता है। उसी से जितना भी हो सके हम जान लेना चाहते हैं कि उन घटनाओं के पीछे कौन-सा रहस्य छिपा हुआ है। कविता में किसी घटना को हम उसकी संपूर्णता में देखते हैं। उसका निश्चित प्रारम्भ और निश्चित अन्त होता है। प्रारम्भ से अन्त तक उसमें एक सामंजस्य बना रहता है। उसमें पहले क्या बीत चुका है यह हम जानते हैं और इससे हम उसके निश्चित परिणाम को जान पाते हैं। इस प्रकार से घटनाओं में रहते हुए हम उस जगत् में रहते हैं जिसमें बने रहने की हमारी प्रबल आकांक्षा होती है। हमारे लिए वह ऐसा जगत् होता है जिसमें सभी वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। कविता से इतिहास

की अपेक्षा एक व्यापक सत्य वर्तमान है और उसका लक्ष्य इतिहास से उच्च है। कविता का कारबार निर्विशेष (universal) को लेकर है और इतिहास का विशेष को लेकर। कविता और राजनीति के तथ्यों के औचित्य में जितना भेद है उतना ही अन्य कलाओं और कविता के तथ्यों के औचित्य में भी भेद है। कविता इस असंभव को जो विश्वसनीय है, उस संभव से जो अविश्वसनीय है, अधिक पसन्द करती है।

एरिस्टाटल ने दुःखान्त नाटक (tragedy) को लेकर विशद विवेचन किया है। उसके संकलन-त्रय (three unities) का बहुत अधिक प्रभाव रहा है। ये संकलन-त्रय, वस्तु की अन्विति (unity of plot), काल की अन्विति (unity of time) तथा स्थान की अन्विति (unity of place) के नाम से अभिहित किए जाते हैं। लेकिन इस संकलन-त्रय को लेकर लोगों में मन में बहुत भ्रम फैला हुआ है। बहुत-से आलोचकों ने दिखलाया है कि 'पोएटिक्स' में कहीं भी एरिस्टाटल ने स्थान की अन्विति की बात नहीं कही है। जहाँ तक काल की अन्विति का प्रश्न है एरिस्टाटल ने बतलाया है कि पहले के नाटककारों में इस तरह का कोई भी सिद्धान्त देखने को नहीं मिलता। वैसे उसका कहना है कि बाद के ग्रीक नाटककारों में उसने काल की अन्विति का समावेश देखा है। एरिस्टाटल ने बतलाया है कि बाद के इन ग्रीक नाटककारों ने काल की अन्विति के सिद्धान्त का पालन किया है। उन्होंने एक दिन या उससे कुछ ही अधिक की अवधि में घटना को सीमित कर रखा है। एरिस्टाटल केवल एक ही अन्विति की बात कहता है और वह जैव अन्विति (organic unity) है। दूसरी अन्वितियाँ की बात अन्य रूप में आ गई है। जैसे वह कहता है कि किसी कहानी में केवल एक व्यक्ति का होना वस्तु की अन्विति नहीं है। लेकिन सन् १५७० ई० में पुनर्जागरण काल में जब लोगों का ध्यान एरिस्टाटल की 'पोएटिक्स' की ओर गया तब लोगों में यह धारणा प्रचलित हो गई कि एरिस्टाटल ने तीन अन्वितियों पर केवल प्रकाश ही नहीं डाला है बल्कि उसने नाटककारों के लिए यह आवश्यक बताया है कि उन्हें उनको ध्यान में रखना चाहिए और उनका पालन करना चाहिए। अन्विति के सिद्धान्त का सबसे अधिक फ्रांसीसी नाटककारों ने पालन किया है।

दुःखान्तिकी (tragedy) के सम्बन्ध में एरिस्टाटल का कहना है कि वह ऐसे कार्य की अनुकृति है जो गंभीर हो जो अखंड तथा सम्पूर्ण हो तथा जिसमें कुछ महत्ता हो। इस अनुकृति के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता है उसके संबंध में एरिस्टाटल का कहना है कि उसे अलंकृत शैली वाली होना चाहिए जिसमें कि वह आनन्द-प्रदायिनी हो। यह अनुकृति कहानी कहने वाली शैली में नहीं होती बल्कि कार्य का रूप लेती है। एरिस्टाटल के अनुसार दुःखान्तिकी में जो करुणा और भय के भाव होते हैं उनके द्वारा दर्शक के चित्त का अवसाद दूर हो जाता है

तथा उसका चित्त निर्मल और निर्विकार हो जाता है और उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। कार्य (action) के सम्बन्ध में एरिस्टाटल का कहना है कि ट्रैजेडी में कार्य की अनुकृति का अर्थ जीवन की अनुकृति नहीं है बल्कि जीवन-सम्बन्धी धारणा की अनुकृति है। कवि के मन में घटनाओं की एक विशेष क्रिया ग्रहण की जाती है जो उसकी कल्पना की तीव्रता से जीवन की एक धारणा का रूप ले लेती है। उस कार्य में जिसकी अनुकृति ट्रैजेडी में होती है जीवन की धारणा की अन्विति (unity) रहती है। कथा-वस्तु (plot) में नाटककार की प्रेरणा निबद्ध रहती है। कथा-वस्तु के द्वारा ही प्रभाव की अन्विति सम्भव हो पाती है।

कहा जाता है कि अगर कार्य (action) का प्रस्तुतीकरण समुचित ढंग से हो तो वह करुणा (pity) और भय (fear) के भावों को इस प्रकार से उभाड़ता है कि उससे इन संवेगों का विरेचन सम्भव हो पाता है। प्लेटो का कहना था कि काव्यात्मक नाटक मन में एक अव्यवस्था और उत्तेजना उत्पन्न करता है। नाटक उन संवेगों को प्रश्रय देता है और प्रोत्साहन पाकर ये संवेग मनुष्य के अन्दर में आलोड़न पैदा करते हैं। एरिस्टाटल का कहना है कि उन संवेगों की अगर समुचित ढंग से अभिव्यक्ति की जा सके तो वे अशांति पैदा नहीं करते बल्कि प्रशमित करते हैं। उसकी दृष्टि में इन संवेगों के दमन से वांछित फल नहीं पाया जा सकता। दुःखान्तिकी (ट्रैजेडी) एक ओर इन संवेगों को उभाड़ती है और उनमें कमी कर एक संवेगात्मक उपचार का काम करती है। ट्रैजेडी जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति को चित्रित करती है लेकिन दुःखान्तिकी में कथा-वस्तु की अन्विति के कारण दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति भी महत्तर हो उठती है और दर्शक उसमें रस लेने लगता है। सामान्य जीवन में उन दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों का सामना करना कठिन है लेकिन नाटक में उनकी अनुकृति में कुछ ऐसी चीज आ जाती है कि विपत्ति भी हमारे लिए शुभ और सुखकर हो उठती है। इसे ही एरिस्टाटल ने 'कैथेरिसिस' कहा है।

एरिस्टाटल का कहना है कि दुःखान्तिकी के नायक को उच्चवर्ग का होना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह असाधारण हो तथा सर्वोत्कृष्ट गुणों से विभूषित हो, फिर भी उसे सद्‌गुणों वाला होना चाहिए। उसके प्रति दर्शक के मन में करुणा का भाव इसलिए नहीं आता कि वह अपनी बुराइयों के कारण बुरी दशा को प्राप्त होता है बल्कि इसलिए कि अच्छाइयों के रहते हुए भी किसी विशेष अवसर पर वह दुर्बलता का शिकार हो जाता है या किसी प्रकार की भूल कर बैठता है। इस प्रकार से दुःखान्तिकी भावना के मूल में नायक का मानसिक या चारित्रिक दोष मुख्य रहता है। अगर नायक में दुष्ट भावना या पाप हो तो उसके प्रति दर्शक की करुणा नहीं जाग्रत हो सकती। 'पोएटिक्स' में यह कहा गया है कि सभी रचनाएँ सहृदय को आनन्द देने वाली हैं, जैसे साधारण भाव

से देखा जाए तो उसका आनन्द किसी बात की जानकारी में है। जैसे ईडिपस के सम्बन्ध में दर्शकों को जब यह पता चलता है कि उसने अनजाने अपने पिता को मार डाला है और अपनी माँ से विवाह कर लिया है तो यह नाटकीय जानकारी दर्शकों के मन में एक विचित्र प्रकार की संवेदना उत्पन्न करती है। इसके साथ ही 'कैथेरिसिस' जुड़ा हुआ है। दर्शक के मन में भय और करुणा के भाव उदय होते हैं। दर्शक के मन में यह भय होता है कि जीवन में उससे भी किसी प्रकार की भूल न हो जाए जिस पर उसका नियन्त्रण नहीं और उसे भी वैसी ही परिस्थितियों में पड़कर कष्ट न उठाना पड़े। और फिर नायक के लिए उसमें करुणा के भाव जगते हैं। नाटक की घटनाएँ अग्रसर होती रहती हैं और फिर अन्त होते न होते उन भावों का अवसान हो जाता है। इसे ही एरिस्टाटल ट्रैजेडी का आनंद कहता है।

एरिस्टाटल कहता है कि नाटक या महाकाव्य में उनकी योजना और रूप-रचना पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। कथावस्तु को नायक की प्रकृति के अनुसार अग्रसर होना चाहिए। नायक को अच्छा होना ही चाहिए अर्थात विषम परिस्थिति न हो तो उसे दयालु और न्यायी होना चाहिए। जीवन की दृष्टि से उसे वास्तविक प्रतीत होना चाहिए। नायक इस जगत् का अगर प्रतीत न हो तो उसे हम अपनी सहज सहानुभूति नहीं दे पाएँगे। इसलिए एरिस्टाटल के अनुसार नायक इस जगत् का होते हुए भी अपनी एक आदर्शवादिता लिए हुए होता है। वह अपनी अच्छाइयों और आदर्शवादिता के बावजूद परिस्थितिवश असहाय हो जाता है और झुकने को बाध्य होता है। उसमें कुछ ऐसी कमी या दोष होना चाहिए जिससे कार्य (action) की उत्पत्ति हो। यह कहना उचित नहीं कि एरिस्टाटल चरित्र चित्रण पर ध्यान नहीं देता। उसने कथा-वस्तु, नायक और चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया है। तर्कसंगत ढंग से पात्रों का चित्रण की बात वह कहता है। उसका कहना है कि कथा-वस्तु (plot) के बाद महत्त्व की दृष्टि से चरित्र-चित्रण का ही स्थान है और चरित्र-चित्रण के बाद पात्रों का युक्ति संगत कथोपकथन है। इसके बाद समुचित शब्दों, पदों तथा वाक्यांशों के प्रयोग का स्थान है। संगीतात्मकता का स्थान उसके बाद ही है। और अंत में दृश्य है क्योंकि सब कुछ को मूर्त, प्रत्यक्ष दर्शकों के सामने रखना है। जीव-धारी के अंग प्रत्यंग और सम्पूर्ण शरीर के समान नाटक के सभी तत्त्व एक-दूसरे से सामंजस्य बनाए रखते हैं। ग्रीक विचारधारा का यह मूलभूत सिद्धान्त है। प्लेटो ने 'फिड्रस' (phaedrus) में इसकी चर्चा की है। कामेडी के सम्बन्ध में भी एरिस्टाटल ने ऐसी ही कुछ बात कही है। कामेडी में हास्य के भाव वर्तमान रहते हैं। एरिस्टाटल का कहना है कि सौंदर्य, सुव्यवस्था, क्रम और आकार-प्रकार से उत्पन्न होता है। एक सुन्दर वस्तु न अधिक बड़ी होनी चाहिए और न

अधिक छोटी। इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि सपूर्ण और अशो मे पारस्परिक सन्तुलन हो।

एरिस्टाटल मे दो बातो की कमी बहुत खटकती है (क) उसकी दृष्टि पीछे की ओर ही लगी रही। प्राचीन साहित्य और साहित्यकारो को लेकर ही उसने अपने सिद्धान्तो का निरूपण किया। अतएव भविष्य म रचित होने वाले साहित्य की आलोचना म ये सिद्धान्त पीछे पड जाते हैं। (ख) किसी विशेष साहित्यकार या किसी विशेष साहित्यिक कृति के मूल्यांकन की ओर उसने ध्यान नही दिया। काव्य के वर्गीकरण और अलकार तथा शैली की ओर ही उसकी दृष्टि लगी रही। कविता और गद्य के भेद पर एरिस्टाटल ने प्रकाश डाला है। शब्दों के चुनाव, उनके प्रयोग तथा वाक्य-विन्यास सम्बन्धी उसने महत्वपूर्ण नियम बनाए। लेकिन जिस गद्य को आदर्श मानकर उसने नियम निर्धारित किए वह बोलचाल म प्रयुक्त होने वाला गद्य था। उसका कहना है कि शैली सुस्पष्ट और और काव्यात्मक तथा सामजस्यपूर्ण होनी चाहिए। वक्तव्य-विषय के अनुरूप उस स्वाभाविक प्रवाह भी होना चाहिए।

एरिस्टाटल के समय आलोचना का एक ढग कुछ इस प्रकार का था कि उस समय के आलोचक यही कहकर सन्तोष कर लेते थे कि अमुक दु खान्त नाटक म अपरिचित शब्दो का प्रयोग हुआ है तथा शिष्ट प्रयोगो का अभाव है। छन्द-दोष और यति-भग की ओर भी उन आलोचकों की दृष्टि जाती थी। एरिस्टाटल न इन दोनो ही बातो को बहुत महत्व नही दिया। उसने कहा कि श्रेष्ठ कलाकार नवीन प्रयोग भी कर सकते हैं और नियम भग भी कर सकते है। आलोचना के क्षेत्र म एरिस्टाटल का स्थान बहुत ही महत्त्व का रहा है। काव्य की आत्मा, उसकी कलात्मक व्याख्या, नाटको का वर्गीकरण तथा उनके तत्त्वो का विवेचन कर आलोचना के क्षेत्र को उसने नवीन जीवन प्रदान किया।

प्रारंभिक काल के रोम के आलोचक

ईसापूर्व चौथी शताब्दी के बाद की दो शताब्दियों में आलोचना के क्षेत्र में किसी प्रकार की भी प्रगति नहीं हुई। इस काल का कोई ग्रन्थ भी नहीं मिलता। यूनान (ग्रीस) पर रोम का आधिपत्य हो चुका था और वह दासता में जकड़ गया था। उस काल में बहुधा होने वाले युद्धों के कारण वातावरण अशान्त बना रहा और साहित्यिक क्षेत्र में किसी प्रकार के जीवन का चिह्न अवशेष नहीं रह गया। युद्धों के कारण यूनानी नेताओं का ध्यान साहित्य से खिंचकर भाषण-कला की ओर अधिक गया, क्योंकि युद्ध में लोगों से सहयोग प्राप्त करने के लिए भाषण-शक्ति तथा वाक्पटुता आवश्यक थी। इसका फल यह हुआ कि उस काल में भाषण-कला का विवेचन और वक्तृत्व-कला-संबंधी शास्त्र के प्रणयन की ओर ही लोगों का ध्यान गया। यूनान के साहित्यिक और कलात्मक क्षेत्रों में ह्रास होने के साथ-साथ आलोचना का क्षेत्र भी अवनति को प्राप्त हुआ। डायोनिसस (Dionysius) या ल्यूसियन (Lucien) की रचनाओं में कहीं-कहीं कुछ सुन्दर स्थल देखने को मिल जाते हैं, लेकिन आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से वे विशेष महत्त्व के नहीं हैं।

एरिस्टाटल के बाद छन्द, व्याकरण, पुराने ग्रन्थों के पाठ-शोध आदि पर लोगों का ध्यान गया। साहित्य की दृष्टि से उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। रोम के साहित्यिकों और आलोचकों ने भी इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं की। उनका ध्यान ग्रीस की ओर ही था। वे यूनानी लेखकों को आदर्श मानते रहे और उनके अनुकरण पर ही वे बराबर बल देते रहे। इस दृष्टि से सिसेरो (Cicero) का प्रभाव बहुत अच्छा नहीं रहा। सिसेरो (ईसापूर्व १०६—ईसापूर्व ४३) रोम का बहुत बड़ा वक्ता था। वह पुरातनपन्थी था और राजनीति में उसे पूरी दिलचस्पी थी। केवल मनोरंजन के लिए वह कला और साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ था। उसकी दृष्टि में इनका स्थान राजनीति के बाद ही था। वह राज्य की भलाई के लिए वक्तृता को बड़ा स्थान देता है। अपनी रचनाओं में उसने एरिस्टाटल और अलंकारवादियों का ही अनुकरण किया। वह कला का उद्देश्य शिक्षा देना, आनन्द देना मानता है। चलते शब्दों के

प्रयोग पर उसने बल दिया। क्विन्टिलियन ने उसके गद्य को आदर्श गद्य कहा। उसके व्यवहृत शब्दों को ही प्रमाण माना गया। उसका प्रभाव बहुत दिनों तक बना रहा। उसके अन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति लोगों में देखने को मिलती है। लय, छन्द और संगीतात्मकता को उसने महत्त्व का बताया। नवीन कुछ देने की न उसमें प्रतिभा थी और न साहस ही।

सिसेरो का प्रभाव डायोनिसस पर पूर्ण रूप में था। डायोनिसस होरेस का समकालीन था। वैसे डायोनिसस की एक विशेषता यह रही है कि वातावरण को ध्यान में रखकर उसने यूनानी लेखकों की समीक्षा की है। ऐतिहासिक दृष्टि-कोण को भी उसने भुलाया नहीं है। उसकी रचनाओं से यूनानी साहित्यकारों की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। धीरे-धीरे रोम के आलोचकों ने यूनानी लेखकों का सहारा लेकर ही अपने यहाँ के कवि और कार्य पर भी विचार करना शुरू किया। अब कवियों की विशेषता और काव्य का सौन्दर्य भी आलोचकों के विवेचन के विषय बने। इसी पर से तुलनात्मक समीक्षा का श्रीगणेश हुआ।

होरेस का नाम प्राचीन काल के रोम के कवियों और आलोचकों में उल्लेख-नीय है। होरेस (ईसापूर्व ६५—ईसापूर्व ८) रोम का सुप्रसिद्ध कवि था। वह प्रतिभाशाली था लेकिन वह भी परम्परावादी था। उसने ग्रीक काव्य को आदर्श माना। अपनी 'कविता की कला' (Ars Poetica) में वह कला पर बल देता है। रोम की सभ्यता और संस्कृति के स्वर्ण-युग में साहित्य के क्षेत्र में वह एक प्रमुख स्थान का अधिकारी था। रोम साम्राज्य का वह शान्ति का काल था। सभी लड़ाई-झगड़े समाप्त हो गए थे।

होरेस की 'आर्स पोएटिका' तथा एरिस्टाटल की 'पोएटिक्स' बाद के क्ला-सिकल युग के आदर्श थे। होरेस की 'आर्स पोएटिका' से क्विन्टिलियन बहुत प्रभावित था और उसके बाद से लोगों का उसकी ओर ध्यान अत्यधिक आकृष्ट हुआ। होरेस का प्रभाव बहुत दिनों तक मध्ययुग में चलता रहा। होरेस की 'आर्स पोएटिका' तथा एरिस्टाटल के 'पोएटिक्स' को ध्यान में रखकर बाद में क्लासिकल साहित्य के नियमों का निर्धारण किया गया। पुनर्जागरण काल के आलोचकों ने होरेस के मत को ध्यान में रखा और उसे ही अपने कथनों का आधार बनाया। होरेस एक प्रकार से उस काल का साहित्यिक 'डिक्टेटर' था। जब एरिस्टाटल के ग्रन्थ 'पोएटिक्स' का पुनरुद्धार हुआ तो सन् ईसवी की सोलहवीं शताब्दी के इटली के आलोचकों ने होरेस की 'आर्स पोएटिका' को उसी का इतालवी संस्करण कहा। 'आर्स पोएटिका' को फ्रान्स में बहुत लोकप्रियता मिली। स्पेन, जर्मनी, हालैण्ड में भी इसके अनुवाद हुए और इस पर विवेचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी गईं। होरेस ने कवि को नीति निर्धारण करने वाला और उप-देश देने वाला कहा। उसके इस मत को इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण काल में कवियों

और आलोचना ने बड़े आग्रह के साथ अपनाया। होरेस कवि को समाज की भलाई करने वाला मानता है।

कवियों की वह इसलिए भर्त्सना करता है कि वे अपनी प्रतिभा के बाहर विषय का चयन करते हैं। वह कहता है कि साहित्य की प्रत्येक विधा के लिए उपयुक्त शैली होनी है। वह 'टाइप' (नमूना) के रूप में पात्रों का चित्रण करने की सलाह देता है। पुराने छन्दों का ध्यान में रखने की उसने सलाह दी है। कलात्मक सम्पूर्णता (artistic whole) पर वह बल देता है। उसका कहना है कि नाटककार को मंत्रास और विभीषिका वाले दृश्यों को कथात्मक अंशों तक ही सीमित रखना चाहिए। अनुपात और व्यवस्था तथा पूर्वापर क्रम पर ध्यान रखने के लिए उसने कहा है। उसका कहना है कि कविता का उद्देश्य शिक्षा देना (to instruct) और आनंद देना (to delight) है। इस प्रकार से उसने कुछ प्लेटो से लिया और कुछ एरिस्टाटल से। उसका यह कथन कि कविता चित्र जैसी है (ut Pictura Poesis) शताब्दियों तक चर्चा का विषय बना रहा। यह संक्षिप्त कथन कला के विशद विवेचन का आधार बन गया। ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में इसकी पूरी चर्चा होती रही।

रोम के आलोचकों में क्विन्टिलियन (Quintilian) सबसे अधिक निपुण, उदार तथा व्यापक दृष्टिवाला था। ६८ ई० से प्रारंभ कर लगभग बीस वर्षों तक यह साहित्य, अलंकार आदि की शिक्षा देता रहा। उसकी वक्तृत्व-कला संबंधी पुस्तक बारह खंडों में है, जिसमें वक्तृत्व कला-संबंधी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया गया है। उसकी भी दृष्टि भी परंपरावादी थी। उसने भी वक्तव्य विषय की अपेक्षा प्रकाशन शैली तथा बाहरी आकार प्रकार पर ही ध्यान दिया है। गद्य-लेखन में किन किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है क्विन्टिलियन ने इस पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि गद्य में प्रवाह पटुता, स्पष्टता, कहने का ढंग, समास शैली आदि पर रचनाकार की दृष्टि पड़नी चाहिए तथा उसे यह भी देखना चाहिए कि उसमें वक्रोक्ति आदि का प्रयोग कहाँ तक हुआ है। साहित्यकार का ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि रचना पाठक के लिए कहाँ तक हृदयग्राही हुई है। उसमें तर्क-संगति, भाव प्रवणता, विनोदन आदि का समावेश होना चाहिए। इन सबों को ध्यान में रखने पर उनके द्वारा पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनों को स्पर्श किया जा सकता है। वर्णन की शैली, छन्द और लय सभी आवश्यक हैं। शैली के संबंध में उसका कहना है कि पुराने क्लासिकल माडेलों (नमूना) की अनुकृति तो अवश्य होनी चाहिए लेकिन युग को ध्यान में रखकर नवीनता लाने का भी प्रयास करना चाहिए। उसका कहना है कि पहले के चले आते हुए नियमों से पूरा-पूरा बँध जाना कुछ

काम की बात नहीं होगी। साहित्यकार को अपना मन खुला रखना चाहिए। अलंकारों से भाराक्रान्त, आडम्बरपूर्ण वाक्यों और पदों के प्रयोग को उसने उचित नहीं माना।

उसका कहना है कि अच्छी वक्तृता या अच्छी रचना शिक्षा देती है, अनुप्राणित करती है और आनन्द देती है। आवश्यकता पड़ने पर नये शब्दों अथवा नयी प्रकाशन-भंगी को अपनाने की भी वह सलाह देता है। आलोचना में प्रयुक्त होने वाले शब्दों और वाक्यों को जैसे उसने गढ़ा। इस प्रकार से आलोचकों और लेखकों को उसने शब्दों और उनके प्रयोग के प्रति जागरूक बनाया। उसने इस बात पर बल दिया कि गद्य-लेखन एक कला है। गद्य की लयात्मकता की भी बात उसने कही है। उसका कहना था कि शब्दों में हेरफेर से अगर शैली का वैशिष्ट्य न रह जाए तो उस कृति का विशेषत्व नष्ट हो जाता है, उससे उसकी लोकप्रियता को धक्का लगता है लेकिन उसका ध्यान इस बात की ओर नहीं गया कि भाव और भाषा का एक पारस्परिक-संबंध होता है। भाषा अभिव्यक्ति के लिए है। क्विन्टिलियन की एक विशेषता रही है कि उसका ध्यान तुलनात्मक अध्ययन की ओर था। उसने लैटिन और ग्रीक साहित्य की विशिष्टताओं को देखा और दोनों भाषाओं की प्रकृति पर प्रकाश डालने में समर्थ हुआ। एरिस्टाटल के सामने ग्रीक साहित्य के सिवा अन्य साहित्य नहीं था और वर्जिल तथा होरेस के समय रोम में साहित्यकारों पर ग्रीक साहित्य का प्रभाव पूर्ण रूप से था और उसमें अभिभूत होकर उसके अनुकरण में ही वे चरम सार्थकता मानते थे। क्विन्टिलियन उनके बहुत बाद हुआ, अतएव व्यापक दृष्टि से विचार करने में वह समर्थ हुआ। भाषा के संबंध में वह कितना जागरूक था इसका पता उसके इसी कथन से चल जाता है कि हम लोग (लैटिन भाषा का व्यवहार करने वाले) ग्रीकों के समान भाषा के प्रयोग में सूक्ष्मता और सुकुमारता का परिचय न दे सकें तो हम लोग ओजस्विता को अपनाकर उसकी पूर्ति करने में समर्थ हो सकेंगे। क्विन्टिलियन ने हास्य के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।

उदात्तीकरण के सिद्धान्त के साथ लांजिनस (Longinus) का नाम जुड़ा हुआ है। कैसियस लांजिनस सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में वर्तमान था। लेकिन जो रचना उदात्तीकरण के सिद्धान्त का आधार है उसमें किसी भी रचयिता का नाम नहीं दिया हुआ है। इस रचना का नाम 'पेरी हिपसुस' (Peri Hypsous) है। यह ग्रीक भाषा की रचना है। अब लोगों ने प्रायः इस बात को स्वीकार कर लिया है कि यह रचना ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी की है। सन् ५० ईसवी के लगभग की लिखी हुई यह समझी जाती है। सुविधा के लिए इस सिद्धान्त की चर्चा करते समय हम लांजिनस का ही नाम लेंगे। उदात्त-तत्त्व संबंधी रचना का लेखक चाहे जो भी हो उस रचना को देखने से इतना तो पता चल ही

जाता है कि उसका रचयिता अलंकारवादी था और कला का अध्यापक था। सन् ईसवी की सत्रहवीं शताब्दी से इस रचना की ओर लोगों का ध्यान अत्यधिक आकृष्ट हुआ।

लांजिनस के पहले लगभग छः सौ वर्षों तक अलंकारवादियों का प्रभाव साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में बना रहा। इस रचना ने फिर से भावावेग मूलक साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। लांजिनस ने एरिस्टाटल की तार्किकता को स्वीकार तो किया लेकिन उसके साथ उसने प्लेटो की अंतःप्रेरणा और कल्पना को उसके ऊपर ला बिठाया। वैसे उसकी दृष्टि अध्यात्मवादी नहीं थी। लांजिनस भी अलंकारवादियों की परम्परा में पड़ता है। उसने छंद और अलंकार का सुंदर अध्ययन किया था। शब्दों, पदों, वाक्यांशों के समुचित प्रयोग तथा व्याकरणादि का उसे अच्छा ज्ञान था। उसके पहले तक काव्य का उद्देश्य शिक्षा देना, आनन्द देना और प्रत्यय उत्पन्न करना था। लांजिनस इससे आगे बढ़कर कहता है कि काव्य का लक्ष्य संवेदनशील बनाना, भावाभिभूत करना है। कवि और पाठक काव्य के द्वारा जैसे अपने-आपको भूल जाते हैं तथा भावजगत् में पहुँच जाते हैं जहाँ सभी तर्क और स्थूल जगत् की सभी क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। लांजिनस ने काव्य की इस शक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

लांजिनस के पेरी हिप्सुस में हिप्सुस का अर्थ उच्च, उदात्त है। लांजिनस का कहना है कि साहित्य में औदात्य का उद्देश्य प्रत्यय या विश्वास उत्पन्न करना नहीं है बल्कि भावाविष्ट करना है। भाषा में एक ऐसी महत् वस्तु होती है, एक ऐसी परिपूर्णता होती है जो उसे उदात्त बनाता है। लांजिनस के अनुसार यही वह वस्तु है जिससे महान् कवि और गद्य-लेखक सर्वोच्च सम्मान और चिरस्थायी यश के अधिकारी होते हैं। कवि की कृति अथवा किसी महान् कृति में भावाविष्ट करने की ऐसी एक शक्ति होती है जो पाठक को आत्मविभोर कर देती है, उसे बेसुध कर देती है। लांजिनस के अनुसार आश्चर्य की बात यह है कि जब भी और जहाँ भी यह देखने को मिलती है हमें चौंका देती है। जहाँ पर प्रत्ययात्मकता (Persuasiveness) अथवा मनोहरता असफल हो जाती है वहाँ यह केवल सफल ही नहीं होती बल्कि पूर्ण अधिकार जमा लेती है। प्रत्यय का होना न होना हमारे ऊपर निर्भर करता है लेकिन जहाँ प्रतिभा का आधिपत्य है वहाँ उसका विरोध संभव नहीं। वह अपनी इच्छा हम सभी पर आरोपित कर देता है और उसका प्रतिरोध करना असंभव है।

काव्य को इस प्रकार से लांजिनस अलौकिक आनन्द में विभोर कर देने वाला मानता है, जिसके द्वारा मनुष्य एक दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है। लांजिनस उसे केवल सुखानुभूति या शिक्षा का साधन नहीं मानता। काव्य को वह नैतिकता

से महत्तर मानता है। काव्य में वह एक ऐसी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करता है जो बुद्धि और तर्कणा को अतिक्रम कर जाती है। काव्य अपने तेज से आलोकित करता है और पाठक के चित्त को विमुग्ध कर देता है। इसे ही लांजिनस उदात्तीकरण कहता है। यह काव्य का अनिवार्यात्मक गुण है। तर्क के द्वारा यह गुण काव्य में नहीं आता बल्कि इसके आलोकित और उद्घाटित कर देने की शक्ति से आता है। यह कल्पना को सक्रिय और सजीव कर देती है। मन पर इसका तात्कालिक प्रभाव होता है जैसे आँखों के सामने बिजली कौंध जाय। यह बुद्धि का व्यापार नहीं है।

काव्य के उद्देश्य के संबंध में होमर का कहना है कि कवि की रचना में आनन्द प्रदान करने की जो शक्ति है वह कम महत्त्व की नहीं है। इसी प्रकार एरिस्टोफेनीज (Aristophanes) का कहना है कि कवि का मुख्य उद्देश्य अगर यही रहे कि अपनी रचना द्वारा वह पाठक को अच्छाई की ओर ले जाय, उसमें न्याय की निष्ठा को और बढ़ाए तो उसे बड़ी बात माननी चाहिए। लेकिन अलंकारवादियों का ध्यान दूसरी ओर था। उनकी दृष्टि में साहित्यिक रचना का वैशिष्ट्य इस बात में था कि वह लोगों को प्रभावित करे, उनके मन पर काबू कर ले तथा शब्दों एवं तर्कों के कुशल प्रयोग तथा संयोजन द्वारा उनमें प्रत्यय और विश्वास उत्पन्न करे। लेकिन लांजिनस का कहना है कि काव्य में जो औदात्य है उसका उद्देश्य प्रत्यय उत्पन्न करना नहीं है। वह अलौकिक आनन्द में विभोर कर मनुष्य को ऊपर की ओर उठाता है, उसे एक दिव्यतर स्थिति में पहुँचा देता है। उदात्त-तत्त्व में दो बातें हैं, एक तो विचारों का औदात्य है और दूसरी भावों के प्रकाशन के लिए सबल, सुगठित भाषा का प्रयोग है। महान् कृति हमें अभिभूत कर देती है। जहाँ प्रत्यय उत्पन्न करने का उद्देश्य असफल सिद्ध होता है और मानव मन उसका विरोध कर सकता है वहाँ महान् कृति की विशेष शक्ति अजेय सिद्ध होती है। वह अभिभूत करके ही रहती है। उदात्त हमें सहज भाव से ऊपर उठाता है। इसमें आनन्दविधायिनी शक्ति होती है। महान् कृति में यह शक्ति बराबर बनी रहती है। बार-बार उसे पढ़ें या सुनें लेकिन उसमें ताजगी बनी रहती है। यह सबको सब समय आनन्द देनेवाली होती है। विभिन्न भाषा, संस्कार, अवस्था के लोग तथा भिन्न-भिन्न कार्यों के करनेवाले लोग जब एक स्वर से उच्छ्वसित प्रशंसा करें तो उसमें हमारा विश्वास और भी दृढ़ और अडिग हो जाता है। लांजिनस का कहना है कि औदात्य आत्मा की वस्तु है। यह एक चिनगारी के समान है जो रचनाकार के हृदय से निकलकर पाठक के हृदय तक जा पहुँचती है। यह आत्मा की महानता की प्रतिध्वनि है (Sublimity is the echo of greatness of spirit.)। यह आत्मा की वस्तु है अतएव यह सभी कृतियों में स्थायी रहती है। औदात्य को वह आवेगों के साथ एक नहीं कर देता।

वह कहता है कि सभी संवेग (motions) महान् या सत्य हो ही ऐसी बात नही है। लाजिनस कलात्मकता को प्रतिभा के बाद ही स्थान देता है। रचनाकार अपनी रचना के शिल्पविधान को उन्नत बनाने का प्रयास करता रहता है लेकिन उदात्त-तत्व ठीक मौके पर वज्र की तरह अपने सामने की सभी वस्तुओं को तितर-बितर कर देता है और रचनाकार की पूर्णतम शक्ति को प्रकाश में ला देता है। उसका कहना है कि भारी-भरकम दीखने वाली भाषा उदात्तता नहीं है। उदात्तता बचकानापन भी नहीं है। भाषा को सजाने-सवारने की प्रवृत्ति का एकमात्र कारण वह नवीनता का प्रदर्शन मानता है।

उदात्त के वह पाँच स्रोत बतलाता है (क) उच्च विचार या भाव, (ख) तीव्र, उत्तम संवेदना, (ग) भाव और भाषा को समुचित रूप देना, (घ) समुचित शब्दो, पदों और रूपकादि अलकारों का प्रयोग, (ङ) सुव्यवस्थित भव्य रचना। लाजिनस का कहना है कि इनमें से बहुत कुछ को तो पहले के महान् कवियों और साहित्यकारों का अनुकरण कर आयत्त किया जा सकता है। आदर्श रचनाओ की अनुकृति या उन्हे आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखकर उदात्तता लाई जा सकती है। करुणा, भय, दु ख आदि जैसी वासनाओं को वह उदात्त नही मानता। सच्ची और अकृत्रिम वासना उचित स्थल पर जब प्रबल हो उठती है तब वह एक भावोन्माद का रूप ले लेती है और वक्ता तथा साहित्यकार के शब्द जैसे एक पागलपन (frenzy) से परिपूर्ण हो जाते हैं।

अपने प्रतिपादित सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर लाजिनस ने व्यावहारिक आलोचना के भी उदाहरण उपस्थित किए हैं। होमर, सिसेरो आदि की रचनाओं को लेकर उन पर उसने अपने विचार प्रकट किए हैं। बोआलो (Boileau) ने लाजिनस के उदात्त के सिद्धान्त को अधिक लोकप्रिय बनाया और यह सिद्धान्त क्लासिसिज्म के आन्दोलन के ह्रास का कारण हुआ। अठारहवीं शताब्दी में उदात्त के सिद्धान्त का प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर और भी अधिक पडा। स्वच्छन्दतावादी विचारधारा को इससे बहुत प्रश्रय मिला। नये सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) के मूल में इस विचारधारा का बहुत हाथ रहा है।

लाजिनस कला-सृष्टि को सहज, सरल नही मानता। उसने प्राचीन सिद्धान्तों को वर्तमान के साथ जोडा। क्लासिकल साहित्य में जो कुछ भी उसे काम का लगा उसका उपयोग उसने तत्कालीन साहित्य के लिए किया। वह यह स्वीकार करता है कि कवि में भाव-प्रवणता होनी चाहिए। यह अन्तःप्रेरणा से अनुप्रेरित होकर ही कविता लिखता है लेकिन वह यह भी मानता है कि उसे इसके लिए अभ्यास करना पड़ता है। अभ्यास के द्वारा ही आलोचक या कवि नैपुण्य प्राप्त करता है। लाजिनस न यह भी कहता है कि शब्दों का ज्ञान और चयन की शक्ति, अलङ्कृत शैली और रचना की मर्यादा का ध्यान कवि के लिए आवश्यक

है। शब्दों के उचित प्रयोग, उपयुक्त शब्दों के चयन तथा रचना के सौष्ठव पर लाजिनस बल देता है। उसने कवि तथा काव्य के पारखी के लिए निरन्तर काव्याभ्यास की आवश्यकता बतलाई है। वह उसे ही काव्य का सच्चा पारखी मानता है जिसकी रुचि निरन्तर काव्याभ्यास से परिष्कृत हो गई है। इसी प्रकार से कला के लिए उसका कहना है कि प्रतिभा तो प्राथमिक वस्तु है लेकिन टेकनीक के द्वारा वह नियन्त्रित और संयमित होती है। साहित्य में भाव और भाषा एक-दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं, अतएव वह कवि को सलाह देता है कि उसे अपनी कला की टेकनीक का अध्ययन करना चाहिए कि जिससे वह उसमें पूर्णता ला सके।

मध्ययुग और पुनर्जागरण काल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

क्लासिसिज्म (आभिजात्यवाद) और रोमैण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) पर कुछ विस्तार से कहने के पहले संक्षेप में यूरोपीय देशों के मध्ययुगीन और पुनर्जागरण काल के जनजीवन तथा अन्य प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सन् ईसवी की पाँचवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में एक ऐसा समय रहा जिसमें चर्च की ही प्रधानता रही और चर्च इसी बात पर अधिक बल दे रहा था कि साहित्य आदि मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले हैं। इन शताब्दियों में साहित्य की साधारणतः कोई प्रगति नहीं हुई, अगर ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। धर्म को छोड़कर ऐहिकतापरक कलात्मक कृति पर एक प्रकार से रोक लगा दी गई। पादरियों पर इस बात के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि उन्हें नाटक से संबंधित नृत्य-गीतादि में भाग नहीं लेना चाहिए। उन्हें इन सब धर्म-विरोधी कृत्यों से अलग रहने का आदेश दिया गया। चर्च ने नाटक तथा अभिनय करने वालों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। चर्च ने नाटक और कविता को बुद्धि और ज्ञान का संहार करने वाला कहा। चर्च का संचालन करने वाले पादरी यह तय करते थे कि कौन-सी पुस्तक पढ़ी जा सकती है और कौन-सी नहीं।

उस काल में शिक्षा पर पादरियों का एकाधिपत्य था। शिक्षित लोग चर्च से सम्बन्धित थे। शिक्षा प्रदान करना, धर्म का प्रचार करना, लोगों का नेतृत्व करना इन्हीं लोगों के हाथ में था। इन लोगों के बीच एक हजार वर्ष तक साहित्य और ललितकला की चर्चा बन्द रही। वैसे आम तौर पर साधारण जनता नृत्य, गान, कहानियों आदि के द्वारा मनोरंजन कर लिया करती थी, लेकिन साहित्य-सृजन की शक्ति जिन लोगों में थी वे इससे विमुख थे। चर्च का प्रभाव कितना अधिक उस समय के जनजीवन पर था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १०५० ई० के पहले किसी को कवि या रचनाकार नहीं कहा जाता था क्योंकि चर्च की दृष्टि में रचना करने वाला (creator) एकमात्र परमात्मा था। उस काल में दर्शन और धार्मिक तत्वों के विवेचन की ओर ही लोगों का झुकाव

था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि उसी प्रकार के साहित्य की उस समय सृष्टि होती रही। रहस्यवादी साधकों का साहित्य भी उस समय बहुत लोकप्रिय रहा। लेकिन गंभीर चिन्तन की भाषा होने के कारण लैटिन साहित्य की प्रगति में सहायक नहीं हो सकी।

इस काल में धार्मिक क्षेत्र में रोमन कैथोलिक चर्च का तथा राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सामन्तशाही का प्राधान्य रहा। उन दिनों किसी प्रकार के परिवर्तन की बात लोगों की कल्पना के बाहर की वस्तु थी। लोग विज्ञान की हँसी उड़ाते थे। स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव था। कला के क्षेत्र में नूतनता का लाना कठिन था। समाज धार्मिक नियम-कानूनों की पाबन्दियों से जकड़ा हुआ था। शताब्दियों से चलती चली आने वाली चिन्ताधारा से चिपटे रहने की प्रवृत्ति उस काल में पाई जाती है। उस युग में ग्रामों और ग्राम-उद्योग धन्धों का ही बोल-बाला था। वह तीर-धनुष का युग था तथा शासक ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। वह काल अन्धविश्वासों, प्राचीन परम्पराओं, प्राचीन रीति-रस्मों और धार्मिक अनुष्ठानों का था। इस काल के साहित्य में रोमांस, रूमानी कहानियाँ तथा ऐसी अवास्तविक चीजें पाई जाती हैं जिनका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। बाद में चलकर लोग इस प्रवृत्ति से ऊब उठे और जीवन की यथार्थताओं की ओर झुकने लगे। उस समय का जन-साहित्य बोलियों तक ही सीमित रहा। उसके लिए किसी प्रकार की साहित्यिक मर्यादा का पालन नहीं होता था और न कलात्मक शैली का ही उपयोग होता था। इस प्रकार से एक विशाल जन-समुदाय साहित्य की बारीकियों से अपरिचित ही रहा।

मध्ययुग (सन् ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी से सन् ईसवी की पन्द्रहवीं शताब्दी) में वीरता की कहानियाँ प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। यह रोमांस और रूमानी साहित्य का युग था। ईसाई धर्म के उदय के साथ-साथ साधारण जनता में प्रचलित विश्वास और संस्कार नये रूप धारण करने लगे। वीरता की कहानियों ने भी इस काल में अपना रूप बदला। प्राचीनकाल में विभिन्न जातियों में जो संघर्ष हुआ करते थे उन संघर्षों ने इस काल में दूसरा रूप लिया। इस काल की वीरता की कहानियों में शक्तिशाली पुरुषों के आत्म-बलिदान, सरदारों की रक्षा के लिए युद्ध आदि की कहानियाँ बहुत प्रचलित थीं। ईसाई धर्म की आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्ति के साथ पहले से आनन्दपूर्ण अद्भुत निरालापन का जो साथ हुआ उससे एक विचित्र जगत् की सृष्टि की जाती। इस जगत् में प्राणी परी, दैत्य, भय उत्पन्न करने वाली विभीषिकाएँ तथा चमत्कारी वस्तुएँ हैं। फिर, सुन्दरियाँ, घोड़े पर सवार वीर और उनके वीरोचित कार्य तथा उनका उद्धार-कार्यों का स्वरूप ये सभी उस काल की रूमानी कहानियों में भरे पड़े हैं।

इस लोक-साहित्य के साथ शिक्षित लोगों का कोई भी संपर्क नहीं रहा। इस-

लिये साहित्य के क्षेत्र में जिस बौद्धिकता, चिन्तन, अनुभूति और ज्ञान का परिचय मिलता है उसका उस काल के साहित्य में नितान्त अभाव रहा। आलोचना का क्षेत्र सूना ही रहा। लोगों की स्वाभाविक रुचि, उनकी सहज प्रवृत्ति ही अपने लिये आलोचना का मानदंड स्थिर कर लेती थी। लेकिन यह भी सही है कि इसने लोक-साहित्य को प्रभावित किया और उसे शक्ति प्रदान की। उस काल में शिक्षित वर्ग और शासक वर्ग का ध्यान गिर्जाघर, कैथिड्रल आदि के निर्माण की ओर ही अधिक था, इसलिये उस काल में स्थापत्य कला (architecture) में विशेष प्रगति दीख पड़ती है। इस प्रगति के मूल में लोगों की आलोचना की प्रवृत्ति थी। वे चर्चों की बनावट, कारीगरी आदि की ओर दृष्टि रखते थे इसीलिये स्थापत्य कला में प्रगति संभव हो सकी। साहित्य-निर्माण में आलोचना का कितना अधिक योग रहता है इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में इस काल में आलोचना का अभाव था इसलिये साहित्य-निर्माण का क्षेत्र अविकसित रहा। दूसरी ओर नीतिशास्त्र, धार्मिक तत्वों का विवेचन और स्थापत्य कला की ओर लोगों का ध्यान था इसलिये उस काल में इन क्षेत्रों में अद्भुत प्रगति दिखाई पड़ती है। समाज की बौद्धिक चिन्ताधारा से विच्छिन्न होकर साहित्य नहीं पनप सकता।

कलाकृति के मूल में वास्तविकता को समझने या उसके विवेचन का प्रयास रहता है। प्रथम-प्रथम जब कला का उदय हुआ होगा तब अन्य वस्तुओं के साथ यह भावना भी काम करती रही होगी। कला में उपयोगिता का योग जब नहीं रहता है तब जिस सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वह प्रकृति का सौन्दर्य है, कलाकृति का नहीं। कल-कल करता हुआ पहाड़ी झरना, किसी पक्षी की सुरीली तान, घुटनों के बल बच्चों के चलने अथवा उनकी किलकारी मारने में अद्भुत सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। लेकिन यह सौन्दर्य प्राकृतिक है। इसमें वह बात नहीं रहती जो कला में आवश्यक रूप से निहित रहती है। कला जीवन से सम्बद्ध है। वह जीवन की आलोचना करती है। और यह तत्व कलात्मक कृतियों में ही पाया जा सकता है। कला का क्षेत्र जब विकास को प्राप्त होता है तो कलाकार अपने कलात्मक प्रयास की छानबीन करने की ओर अधिक ध्यान देने लगता है। अपनी कला के प्रति वह अधिक से अधिक जागरूक हो जाता है। तब वह इस बात पर विचार करने लगता है कि किस शैली का अनुसरण उसे करना चाहिए, उसे क्या कहना है, अपने कथन को वह कैसे प्रभावोत्पादक बनाकर उपस्थित कर सकता है अथवा प्रभावोत्पादकता लाने के लिए उसे किन किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। फिर वह भाषा, शब्दों के प्रयोग तथा रूप, छन्द, अलंकार, रस, ध्वनि आदि का अध्ययन करने लगता है। और इस प्रकार से गौण रूप में वह आलोचक बन जाता है। प्रधान रूप से उसकी दृष्टि जीवन की अभि-

व्यक्ति और उसकी विवेचना की ओर ही रहती है। लेकिन उसका ध्यान इस ओर भी जाता है कि जो कुछ वह कहने जा रहा है उसे कहने के लिये वह किन-किन साधनों को उपयोग में लाए जिससे कि कलात्मकता की रक्षा भी हो और उसका वक्तव्य भी स्पष्ट हो जाय।

कला के संबंध में समाज में लोगों की धारणा और दृष्टिभंगी का सूत्रपात धीरे-धीरे होता है। समाज के सुसंस्कृत लोगों में कला के परखने की दृष्टिभंगी सब समय एक ही नहीं होती। ऐसा होना संभव भी नहीं, इसलिये कालक्रम से इसके भी प्रकार हो जाते हैं। उन दृष्टिभंगियों में कुछ विशिष्टता प्राप्त करती हैं जिनके सहारे लोग कला और साहित्य का विवेचन आरम्भ कर देते हैं। और इस प्रकार कुछ ही दिनों में एक नये प्रकार के साहित्य—आलोचनात्मक साहित्य—का आविर्भाव होता है। फिर आलोचना के मानदण्ड स्थिर होने लगते हैं। ये मानदण्ड एक युग से दूसरे युग में तथा एक काल से दूसरे काल में परिवर्तित होते रहते हैं। मनुष्य की अभिरुचि और संस्कार के कारण भी मानदण्ड भिन्न-भिन्न होते हैं। आलोचना का होना तभी संभव है जबकि कलात्मक कृतियों का अस्तित्व हो। हम यह भी देख चुके हैं कि आलोचना कलात्मक कृति के पूर्व से ही जुड़ी हुई रहती है। इस प्रकार से आलोचना और कलात्मक कृति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि कलात्मकता के विकास में भी आलोचना सहायक होती है। आलोचक अपनी सहानुभूति देकर ही साहित्य और कला की श्रीवृद्धि में सहायक सिद्ध हो सकता है। भले ही वह स्वयं कलाकार या साहित्यकार न हो लेकिन अपनी सहानुभूति देकर वह कलाकार की संवेदनाओं, उसकी भावनाओं को समझने की चेष्टा करता है और भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने में हाथ बँटाता है। वह साहित्य के क्षेत्र को उर्वर करता है, वह पथ-प्रदर्शन करता है।

यूरोप के इतिहास में पुनर्जागरण का काल महत्त्व का है। इस पुनर्जागरण के लक्षण मध्ययुग में ही प्रकट होने लगे थे। पेट्रार्क (Petrarch) ने जब यह कहा कि लैटिन ही काव्य के लिए उपयुक्त भाषा है तब मानो वह पूरे मध्ययुग का इस संबंध में प्रतिनिधित्व करता है। केवल दान्ते (Dante) ही इसका एकमात्र अपवाद है। दान्ते (सन् १२६५—१३२१ ई०) से साहित्य में आने वाले पुनर्जागरण काल की सूचना मिलती है। सन् ईसवी की तेरहवीं शताब्दी में जो कुछ भी उदारता और विशिष्टता थी उसका प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी' है। ईसाई धर्म के ऊँचे आदर्श और लक्ष्य पर आधारित जीवन का चित्रण दान्ते ने इस ग्रन्थ में किया है। साहित्य में किस भाषा का प्रयोग करना चाहिए इस पर दान्ते ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उसने अनुभव किया कि लैटिन, गुणी समाज की भाषा है। उसे आयत्त करने के लिये

पर्याप्त अध्ययन और अभ्यास की जरूरत है जब कि जनभाषा में सहज ही अपने भावों और विचारों को प्रकट किया जा सकता है। अतएव काव्य-रचना के लिये उसने बोलचाल की भाषा को ही चुना। उसने केवल इसी बात पर ध्यान रखा कि बोलचाल के उन शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए जिनमें काव्य की दृष्टि से सौष्ठव हो और देश के सुसंस्कृत लोग जिनसे परिचित हों। उसने यह भी अनुभव किया कि बोलचाल की भाषा के होने पर भी उसमें ग्राम्य दोष नहीं होना चाहिए। साथ ही भाषा ऐसी भी न हो जो केवल स्थानीय और आंचलिक हो। दान्ते काव्य को श्रमसाध्य और कष्टसाध्य मानता है। साहित्य-सर्जन के लिये भाषा के महत्त्व को दान्ते स्वीकार तो करता है लेकिन उसे ही प्रधान नहीं बना देता। वह मानता है कि भाषा और शैली आवश्यक हैं लेकिन विषयवस्तु की महनीयता ही साहित्य को श्रेष्ठ बनाती है। प्रौढ़ विचार और श्रेष्ठ साहित्य के लिये भाषा को भी सशक्त होना चाहिए, लेकिन यह केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है और जिसे अभिव्यक्त किया जा रहा है वही प्रधान है और महत्त्वपूर्ण है। सुरक्षा, प्रेम और आध्यात्मिकता, ये तीन विषय दान्ते के अनुसार मुख्य हैं। देश-प्रेम, नारी से प्रेम तथा भगवान् से प्रेम—ये तीन विषय उसकी दृष्टि में काव्य के लिए महत्त्व के हैं।

यूरोप के सभी देशों में एक साथ ही पुनर्जागरण काल का उदय नहीं हुआ। सबसे पहले इटली में नया युग आया और उसका प्रभाव यूरोप के सभी देशों पर पड़ा। इटली के बाद ही फ्रान्स में नवीन विचारों का प्रसार हुआ और नई प्रवृत्तियों का प्रसार फ्रान्स से ही सर्वत्र हुआ। इग्लैंड में पुनर्जागरण काल बहुत बाद में ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आया। इग्लैण्ड को इससे लाभ ही हुआ। इटली और फ्रान्स के अनुभवों और उपलब्धियों से वह लाभान्वित हुआ। चौसर इस काल में प्रमुख रहा। इसके बाद एलिज़बेथ-युग में फिर लोग रोमांटिक साहित्य की ओर झुके। लेकिन इस काल में कुछ ऐसे नाटककार हुए जिन्होंने मानव-जीवन के सत्यों को अभिव्यक्त किया। उनमें भाषा और प्रकाशन-भंगी की असाधारण शक्ति थी। इस काल के बाद वाले कवियों में यह बात नहीं रही। उनमें इस काल के कवियों और नाटककारों जैसी न शक्ति का परिचय मिलता है और न उनके जैसी पैनी दृष्टि का ही। उनकी भाषा तथा प्रकाशन-भंगी में बनावटीपन था। विचारों के हल्केपन की पूर्ति का प्रयास वे भाषा को बोझिल बनाकर करते थे।

इसी के विरुद्ध 'क्लासिकल युग' की अवतारणा हुई। इस काल को अंग्रेजी साहित्य के अध्येता सन् १६६० ई० तथा सन् १७९८ ई० के बीच मानते हैं। एलिज़बेथ काल के तुरन्त बाद के कवियों में जो अत्युक्तिपूर्ण वक्तव्य तथा बनावटीपन और भावों की दुरूहता पाई जाती है, उसके विरुद्ध इस काल के कवि

और साहित्यकार प्राचीन लैटिन और ग्रीक साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। साथ ही फ्रान्सीसी साहित्य की तत्कालीन नवीन प्रवृत्ति ने भी उन्हें प्रभावित किया। वे तत्कालीन फ्रान्सीसी साहित्य की बोधगम्य भाषा और सहज प्रकाशन-भंगी को अपनाने लगे तथा प्राचीन ग्रीक और लैटिन साहित्य के रचना-कौशल की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति को अपनाने लगे। लेकिन इसका फल यह हुआ कि उनका साहित्य अनुकरणमूलक ही अधिक रहा और पहले के अंग्रेजी साहित्य की मौलिकता भी उनमें नहीं आ सकी। रूमानी काव्य की अवास्तविक कल्पना के स्थान पर उस काल के कवियों ने अपने चरित्र या विषयवस्तु का चुनाव वास्तविक जीवन से किया। क्लासिकल काव्य से प्रभावित होकर उन्होंने नागरिक जीवन और उच्च वर्ग को ही चित्रित किया। फ्रान्सीसी और लैटिन कवियों की सूक्तियों और चुटकुलों वाली शैली का उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग किया। क्लासिकल शैली के अनुकरण की प्रवृत्ति का यह फल हुआ कि जो सहज और बोधगम्य भाषा थी उसे छोड़कर इन कवियों ने ऐसे शब्दों का व्यवहार करना शुरू किया जो अपरिचित थे। उनकी प्रकाशन-भंगी में भी अस्पष्टता आने लगी। उन्हें लगता था कि इस प्रकार से वे प्राचीन क्लासिकल साहित्य की मर्यादा का निर्वाह कर सकेंगे। स्पष्ट के स्थान पर अस्पष्टता, विशेष के स्थान पर निर्विशेष को अपनाने की प्रवृत्ति उनमें दीख पड़ती है। इसका फल यह हुआ कि उनकी वर्णन-शैली और वक्तव्य-विषय एक-जैसे प्रतीत होने लगे। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा दुहराया जा रहा है। उस शताब्दी के अन्त में लोगों की ऐसी धारणा होने लगी कि काव्य का मतलब विचारों और भावों के व्यक्त करने से नहीं है बल्कि कुछ विशेष-विशेष शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से है। किसी वस्तु का वर्णन साधारण प्रचलित शब्दों के द्वारा प्रकट करना मानो गद्यात्मक समझा जाने लगा और उनके बदले पहले के कवियों के प्रयुक्त शब्दों का व्यवहार होने लगा अथवा इस ढंग से कहा जाने लगा कि वे असाधारण से प्रतीत हों।

विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन और देकार्ते (Descartes) के अन्वेषणों ने उस काल के साहित्यिकों को और भी प्रभावित किया। न्यूटन के अन्वेषणों ने लोगों के मन में एक ऐसी धारणा उत्पन्न कर दी थी जैसे सारी प्रकृति यन्त्रवत् है। इसके नियम यन्त्र की तरह हैं। लोगों ने बढ़कर यह भी सोचना शुरू कर दिया कि सम्भवतः जीवन भी यन्त्र की नाईं है। क्लासिकल युग (सन् १६६०-१७९८ ई०) की प्रतिक्रिया के रूप में ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी का रोमांटिक (स्वच्छन्दतावादी) आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। हम देख चुके हैं कि क्लासिकल युग का साहित्य अनुकरणमूलक था और उसमें न भाव की दृष्टि से, न भाषा की दृष्टि से और न वक्तव्य-विषय की दृष्टि से किसी प्रकार का नयापन था। ये

सभी जैसे उधार लिए गए थे। लैटिन और फ्रान्सीसी साहित्य मे जिन विषयो पर लिखा जा चुका था उन्हें इस काल के साहित्यकारो ने बार बार अपनी रचनाओं मे दुहराया। यहा तक कि उन साहित्यो से नियम आदि भी ज्यों के त्यों ले लिए गए। और जैसे शैली के वैशिष्ट्य को बनाए रखने के लिए वर्ण्य-विषय के लिए साधारण परिचित शब्दो के बदले घुमा-फिराकर बडे आडम्बरपूर्ण शब्दो का व्यवहार किया गया है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

Inoculation, heavenly maid, descend!

यह प्रवृत्ति कहा तक चली गई थी इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि man के लिए man शब्द का प्रयोग न कर वे या तो swain या hero शब्द का प्रयोग करते थे क्योकि उनकी दृष्टि मे man कहना गद्यात्मक होगा। woman (स्त्री) शब्द के लिए वे nymph (परी) या fair one (सुन्दरी) का व्यवहार करना अधिक काव्यात्मक समझते थे। Gun (बन्दूक) को Gun कहना तथा spade (कुदाल) के लिए spade शब्द का प्रयोग अथवा boot (जूता) के लिए boot का प्रयोग गद्य हो जाएगा लेकिन Gun के लिए deadly tube तथा spade के लिए horti-cultural utensil और boot के बदले shining leather which encased the limb अगर कहा जाए तो वह काव्य का रूप ले लेगा। भावो का मानवीकरण कर वे समझते थे कि उन्होंने उन्हें काव्य का रूप दे दिया है। जैसे अगर कोई कवि अपने दूर प्रवासी मित्र के लिए यह कहना चाहे कि 'I will remember thee' तो वह ऐसा नहीं करेगा, क्योकि उसकी दृष्टि मे यह गद्य हो गया अतएव इस सहज वाक्य को काव्य का रूप देने के लिए वह कहना चाहेगा—

Thy image on her wing
Before my fancy's eye shall memory bring

इससे स्पष्ट हो समझा जा सकता है कि किस प्रकार से उस काल के कवियो ने यान्त्रिकता को अपनाया था। उनके मन मे जैसे यह बात दृढ भाव से बैठ गई थी कि जगत् के सभी व्यापार यन्त्रवत् चल रहे हैं और उन्हें समझने के लिए गणित के फार्मूले सहायक सिद्ध हो सकते हैं। परिणामस्वरूप लोगो ने यह भी विश्वास करना शुरू कर दिया था कि ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जिसे आध्यात्मिक या अलौकिक कहा जाए। ऐसी कोई भी दुनिया नहीं जिसे रहस्यपूर्ण कहा जाए। जो कुछ भी है प्रत्यक्ष है और उसे उसी प्रकार से समझा जा सकता है जिस प्रकार से यन्त्र के पुर्जों को समझा जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र मे गद्यात्मकता को बढाने मे इसका पूरा हाथ रहा। जीवन और प्रकृति के प्रति साहित्यकार का दृष्टिकोण वह नहीं रहा जो पहले के साहित्यकार का था। इस काल मे जीवन और प्रकृति को समझने का प्रयास उन्हें जैसे ऊपर-ऊपर से छूकर निकल जाने

का रहा। उनके अन्तर मे प्रवेश करने की आवश्यकता जैसे उन साहित्यकारो के मन मे आयी ही नही। इस काल के साहित्य मे कई प्रकार के बन्धन स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति दीख पडती है। सभी कलात्मक प्रयासो को नियम मे बाँध देने की प्रचेष्टा इस काल मे देखी जाती है। सामान्यीकरण (generalise)-करने की प्रवृत्ति ने उस काल मे उपदेशात्मक और नीति सम्बन्धी रचनाओ की बाढ-सी ला दी। यही कारण है कि इस काल मे गीति-काव्यो का एकदम अभाव रहा। इस काल की प्रवृत्ति को लक्ष्य कर ब्लेक ने To the Muses नामक कविता म कहा है

> How have you left the ancient love
> The bards of old enjoyed in you,
> The languid strings do scarcely move
> The sound is forced, the notes are few

इस प्रकार से इस काल के साहित्य की विशेषताए कुछ इस प्रकार की रही है

(१) लैटिन और फ्रान्सीसी साहित्य का अन्धानुकरण— भाषा, प्रकाशन-भगी, विषयवस्तु, नियम आदि का उन साहित्यो से ज्यो का त्यो ले लेना।

(२) किसी बात को स्पष्ट न कहकर अस्पष्ट रूप मे कहना। सहज भाव से उसका वर्णन न कर घुमा फिराकर आडम्बरपूर्ण बनाकर कहना।

(३) भावो और वासनाओ का मानवीयकरण।

(४) महत्त्वपूर्ण घटनाओ तथा उच्च वर्ग और नागरिक जीवन का ही चित्रण करना।

(५) जीवन और प्रकृति को यन्त्रवत् मानना।

क्लासिकल युग की प्रवृत्तियो के सबध मे हमने ऊपर जो कुछ देखा है उसस यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तथाकथित क्लासिसिज़म तथा प्राचीन क्लासिक्स म कितना अधिक अतर था। ये दोनो ही भिन्न-भिन्न वस्तुएं थी। काल का यह सबसे बडा व्यग्य है कि जिन प्राचीन क्लासिक्सो का आश्रय लेकर मध्ययुग के दमन और अत्याचार के विरुद्ध साहित्यकारो ने विद्रोह किया, बाद मे चलकर उन्ही की सहायता परम्परा से मुक्ति पाने की चेष्टा करने वाले साहित्यिको के विद्रोह के विरुद्ध ली गई।

क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज़्म

'क्लासिसिज्म' शब्द की परिभाषा नाना प्रकार से की गई है। इस शब्द के अर्थ में भी कालक्रम से परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक काल में यूरोप में 'क्लासिक' शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रीस और रोम की महान् कृतियों के अर्थ में किया जाने लगा है। इस अर्थ में इसका प्रयोग मध्ययुग और पुनर्जागरणकाल में ही होने लगा था। कहा जाता है कि ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में इसका अर्थ अभिजात लेखक समझा जाता था। औलस गेलियस (Aulus Gellius) (ईसापूर्व दूसरी शताब्दी) ने अपनी कृति में कार्नेलियस फ्रोन्टो का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसने *Scriptor classicus (classical writer)* तथा *Scriptor Proletarius* (Proletarian writer) के अन्तर पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि क्लासिकल रचनाकार अल्पसंख्यक अभिजात वर्ग के लिए लिखता है और प्रोलिटेरियन रचनाकार बहुसंख्यक लोगों के लिए लिखता है। इस दृष्टि से क्लासिकल रचनाकार अभिजात लेखक समझा जाता था और उसकी रचना विशिष्ट वर्ग के अल्पसंख्यक लोगों को ही आनन्द देने वाली थी। सामान्य पाठक की पहुँच के बाहर वह समझी जाती थी। इस दृष्टि से क्लासिक का अर्थ महान्, प्रथम श्रेणी का हो जाएगा। शताब्दियों बाद इस शब्द का अर्थ यह हो गया कि वही कृति क्लासिक है जिसमें स्थायी गुण निहित हैं और इसलिए वह सब समय पढ़ने योग्य समझी जाए। रचनाकार वही क्लासिक कहा जा सकता है जो सभी युगों में सम्मान पाने योग्य हो और जिसकी कृति पढ़ी जाने लायक समझी जाए। ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में इसका अर्थ महानतम् साहित्यिक कृति हो गया। इसका यह अर्थ अभी भी जर्मन और इतालवी भाषा में प्रचलित है।

कालक्रम से विभिन्न देशों की भाषाओं में विशिष्ट लेखक हुए और उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ भी क्लासिक कही जाने लगीं। इस प्रकार से जब ग्रीस और रोम के साहित्य के साथ-साथ अन्य भाषाओं की रचनाओं को भी क्लासिक कहा जाने लगा तब क्लासिक का यह अर्थ समझा जाने लगा कि वही कृति क्लासिक कहलाने की अधिकारिणी है जिसमें ग्रीस और रोम की क्लासिक कही जाने वाली रचनाओं के गुण वर्तमान हैं। जैसे आधुनिक काल में अंग्रेज़ी-साहित्य में

एलिजबेथ-युग को क्लासिकल युग कहा जाता है अर्थात् इस युग को इसलिए क्लासिकल कहा जाता है कि इस युग में काव्य के क्षेत्र में महानतम् उपलब्धि हुई। इस प्रकार से इस शब्द का व्यवहार साहित्य के इतिहास के विभाजन के संकेत के लिए भी किया जाने लगा है। इसके पहले कि क्लासिसिज्म के संबंध में और भी कुछ कहें यह कही काम का साबित होगा कि उसके संबंध में जो सामान्य धारणाएँ प्रचलित हैं उनसे परिचय प्राप्त कर लिया जाए और ग्रीस तथा रोम की क्लासिकल कही जाने वाली कलाकृतियों की विशिष्टताओं की जानकारी प्राप्त कर ली जाए।

ग्रीकों ने अपने देवी-देवताओं को मनुष्य की आकृति में ही देखा था। पूजा-अर्चा तथा देवी-देवताओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में वे उनका मानवीकरण किया करते थे। अतएव क्लासिसिज्म की प्रथम विशेषता बाह्य रूपों के प्रति उसका आकर्षण है। बाहरी आकार-प्रकार, गठन, सुन्दर समंजस-योजना, अनुपात, संतुलन तथा गरिमा से मंडित देखने में क्लासिसिज्म अपनी विशिष्टता मानता है। अतएव मानव जाति की समस्याओं का अध्ययन वह मनुष्य का अध्ययन कर करना चाहता है। वह अपने को इसी जगत् में परिसीमित रखता है। संतुलित दृष्टि से सब कुछ को देखना चाहता है। परम्परा के प्रति इसमें जागरूकता दीख पड़ती है। दोष और गुणों की जाँच के लिए क्लासिसिज्म में एक संयम, एक नैतिकता, परम्परा के प्रति श्रद्धा का भाव, अनुभूति, चारुता और शान्ति पाई जाती है। ग्रीक और रोमन प्रतिभा स्पष्टता, सहज गुण, संयम और रचना में संतुलन की कायल है। संपूर्ण को दृष्टि में रखकर ही ग्रीक और रोम के कलाकार खण्ड का चित्रण किया करते थे। साधारणतः क्लासिक का यह अर्थ लिया जाता है कि जो श्रेष्ठ है और जिसमें एक वैशिष्ट्य है। कला और साहित्य में जिसे क्लासिकल गुण कहा जाता है उसका आकर्षण इस बात में निहित है कि अत्यन्त सुपरिचित कहानी होने पर भी वह कुछ इस निपुणता से कही हुई होती है कि हम उसे बार-बार सुनना चाहते हैं। उसके रूप के चरम सौन्दर्य के साथ परिचय के आकस्मिक और प्रशान्त आकर्षण का योग हो जाता है। क्लासिक का रचनाकार अपने अद्भुत संयम का परिचय देता है। ग्रीक मन्दिर, मूर्ति या *कविता में कोई त्रुटि देखने को नहीं मिलती। वे अपनी अभिव्यक्ति में ही पूर्ण हैं।* अभिव्यक्ति में ही वे अपने आप को निःशेष कर देते हैं। अपने रूप की पूर्णता से परे वे और किसी ओर संकेत नहीं करते। अतएव क्लासिकल रचना कहलाने की अधिकारिणी वही कृति समझी गई कि जिसमें सौन्दर्य के अमूर्त और सर्वोच्च आदर्शों का रूपायन और उसकी ठोस उपलब्धि हो। क्लासिक उन रचनाओं को ही माना जाने लगा जिन रचनाओं में आदर्श सौन्दर्य के रूपायन के साथ-साथ पूर्णता और अनुपात के शाश्वत मान का निर्वाह किया गया हो।

क्लासिकल की परिभाषा पर प्रकाश डालने का प्रयास आधुनिक काल में भी किया गया है। इर्विङ्ग बैबिट का कहना है कि क्लासिकल वही है जो एक 'वर्ग' का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन यहाँ वर्ग (Class) का अर्थ किसी विशेष जाति या आर्थिक समूह से नहीं है। इसे दार्शनिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ एक लोकोत्तर इकाई बनाया गया है जो प्रमुख घटनाओं या विशिष्ट वस्तुओं के समूह की सामान्य विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली है।

टी० एस० इलियट ने अपनी रचना 'ह्वाट इज ए क्लासिक' (सन् १६४४ ई०) में बतलाया है कि वही कृति क्लासिक कही जाएगी जो पूर्ण विकसित सभ्यता की देन हो। इस पूर्ण विकसित सभ्यता की चिन्ता और मननशीलता की प्रतिच्छाया उसके रचनाकार के पूर्ण विकसित मानस में देखी जाती है। रचनाकार उस भाषा की उपलब्धियों की सम्भावनाओं से पूर्ण रूप में लाभ उठाए हुए होता है। वह कृति जाति की आत्मा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली होती है, फिर भी अपनी अर्थवत्ता में कुछ देर तक वह सार्वभौम होती है। किसी जाति की देन होने पर भी वह व्यापक रूप से प्रभाव डालने वाली होती है। वह मानव-जाति की गहन दार्शनिक समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली होती है।

हमने ऊपर देखा है कि कालक्रम से क्लासिसिज्म का अर्थ परिवर्तित होता रहा। सोलहवीं शताब्दी में जहाँ क्लासिक का अर्थ महानतम साहित्यिक कृति हो गया था वहाँ सत्रहवीं शताब्दी में इसका यह अर्थ समझा जाने लगा कि ग्रीस और रोम के अतीत काल की रचनाओं की अनुकृति क्लासिसिज्म है। बाद में चलकर यह बात भी मानी जाने लगी कि अतीत काल के महान् कलाकारों के प्रति श्रद्धा का भाव और उनकी कला का अनुकरण कर नई कला की सृष्टि भी क्लासिसिज्म है। आज इससे दो प्रकार के अर्थ लिए जाने लगे हैं—(क) आधुनिक साहित्य में ग्रीस और रोम के प्राचीन साहित्य से ली हुई विषयवस्तु की अनुकृति, (ख) आधुनिक साहित्य में किसी भी विषयवस्तु पर लिखने के लिए उन (ग्रीस और रोम) के प्राचीन साहित्यों के रूप-विधान (Literary forms) की अनुकृति। विषयवस्तु की अनुकृति जर्मनी और फ्रांस के दरबारी प्रेमाख्यानों में सन् ईसवी की बारहवीं शताब्दी से ही मिलने लगती है। उस काल की ग्रीस और रोम की कहानियाँ तो ली ही गई हैं, बाद में काव्य रूपों की अनुकृति भी होने लगी। बीसवीं शताब्दी के रचनाकारों की दृष्टि अतीत काल के उन साहित्यों के मिथकों और निजधरी कथाओं (Legends) की ओर गई है। बराबर बनी रहने वाली मानव समस्याओं के संदर्भ में आज के रचनाकार उनका पूर्ण उपयोग करने लगे हैं। आज के साहित्यकारों का ध्यान उस काल के साहित्य-रूपों (Literary forms) की ओर बिलकुल नहीं है। प्राचीन काल के उन साहित्यों के मिथकों और निज-

धरी कथाओं का उपयोग आज के साहित्यकार किस प्रकार से कर रहे हैं इसके लिए टी० एस० इलियट की सन् १६२२ में प्रकाशित 'वेस्ट लैण्ड', सन् १८७६ की मालार्मे की 'ला प्रे मिदि दँ फॉन' (L'A Pres Midı d'un Faune) के अलावा जेम्स ज्वायस की 'यूलिसिस' (सन् १६२२ ई०) तथा आंद्रे जीद आदि की रचनाओं को देखा जा सकता है। प्राचीन काल के साहित्यों के रूप-विधान के नियमों के पालन की दृष्टि से फ्रांसीसी नाटक अपना अलग वैशिष्ट्य रखते हैं। दुखान्त नाटक (ट्रैजेडी) लिखते समय फ्रांस के नाटककारों ने एरिस्टाटल तथा अन्य प्राचीन नाटककारों के नाटक संबंधी नियमों पर सब समय ध्यान रखा।

श्लेगेल (सन् १७७२—१८२६ ई०) ने पहले-पहल रोमैन्टिसिज्म और क्लासिसिज्म के अन्तर पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उसने क्लासिक का अर्थ यह बताया कि उसमें असीमता से जुड़े हुए भावों और संवेगों को सीमा में बंधे रूप में अभिव्यक्ति देने का प्रयास रहता है। क्लासिसिज्म के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादियों (romanticists) ने पूरी छानबीन की और पहली बार उन्होंने इस बात की अच्छी जानकारी दी कि क्लासिक क्या है? पहले वे क्लासिसिज्म तथा रोमैन्टिसिज्म को ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी धारणाएँ मानने को तैयार नहीं थे जिनका अविच्छिन्न रूप से विकास हुआ है। उन्हें वे मन की स्थायी वृत्ति मानते थे और उनका कहना था कि उस मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। लेकिन उन्होंने यह भी समझा कि जिन्हें क्लासिकल कलाकार कहा जाता है वे भिन्न-भिन्न सभ्यताओं की उपज थे और उन सभ्यताओं की आध्यात्मिक दृष्टिभंगी में जो अन्तर था वह बहुत गहराई तक पहुंचा हुआ था। उन्होंने कहा कि सभी प्राचीन रचनाओं को समान लेबल लगाकर एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। स्वच्छन्दतावादियों ने एक प्रकार से उन विशिष्टताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जो सामान्य रूप से क्लासिक कही जाने वाली रचनाओं में पाई जाती हैं। स्वच्छन्दतावाद ने क्लासिसिज्म को ऐतिहासिकता की दृष्टि से जाँच करने की ओर ध्यान दिलाया। सब कुछ को ध्यान में रखने पर यह समझना कठिन नहीं है कि क्लासिसिज्म की परिभाषा करना कठिन है। लेकिन इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्लासिसिज्म कहने से न कोई दार्शनिक और न कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य ही समझा जा सकता है। अतएव इतिहास के क्रम-विकास में इसकी जो विवेचनाएँ तथा व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनको ध्यान में रख-कर ही इसे समझने का प्रयास युक्तिसंगत होगा।

ऊपर हमने स्वच्छन्दतावाद (रोमैन्टिसिज्म) और क्लासिसिज्म के अन्तर का उल्लेख किया है लेकिन इस अन्तर के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। इन दोनों के अन्तर को समझना अपने आप में महत्त्व का है। उसकी चर्चा करने से पहले यह आवश्यक है कि जिस प्रकार से हमने क्लासिसिज्म को समझने का प्रयास

किया है उसी प्रकार से रोमैन्टिसिज्म को भी स्पष्ट रूप से समझ लें। क्लासिकल कहने से जैसे यह अर्थ लगाया जाता है कि उस काव्य में ईसापूर्व पाँचवी शताब्दी के ग्रीक साहित्य से कुछ साम्य है उसी प्रकार रोमैन्टिसिज्म कहने से मन में यह आता है कि उसमें ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी के साहित्य के साथ कुछ साम्य है। यह सादृश्य क्लासिकल और रोमैन्टिक के लिए भिन्न-भिन्न है। क्लासिकल में संरचना (गठन) में ऐक्य और सामञ्जस्य प्रधान रहता है और रोमैन्टिसिज्म में इस बात की स्वीकृति रहती है कि दृश्यमान जगत् में प्राकृतिक शक्तियों के बाह्य रूप के पीछे एक ऐसी शक्ति क्रियाशील है जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। इसी अदृश्य शक्ति के कारण जगत् में बहुत-सी अद्भुत और रहस्यात्मक वस्तुएँ वर्तमान हैं।

अंग्रेजी में रोमैन्टिसिज्म शब्द का प्रयोग सम्भवतः पहले-पहल सन् १६५४ ई० के लगभग हुआ। किसी रचना-विशेष के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करने के लिए प्रारम्भ हुआ कि वह कहानी जैसी एक काल्पनिक और अवास्तविक वस्तु है। वाल्टर पेटर ने रोमैन्टिसिज्म की परिभाषा करते हुए कुछ ऐसी ही बात कही है। उसने कहा है कि स्वच्छन्दतावादी चेतना के आधारभूत तत्त्व विस्मय, कुतूहल और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण हैं। पेटर का कहना है कि इसीलिए स्वच्छन्दतावादी का ध्यान मध्ययुग की ओर अपने आप खिंच जाता है। मध्य युग के रहस्य से परिपूर्ण वातावरण में सौन्दर्य का कुछ ऐसा वैचित्र्य है कि उसका परिचय पाना कल्पना द्वारा ही सम्भव है।

डा० हेज स्वच्छन्दतावादी कल्पना का उद्गम कुतूहलजन्य आश्चर्य, विस्मय और रहस्य की भावना में मानते हैं। डा० हेज का कहना है कि रहस्य ही रोमान्स का सारतत्त्व है। अपने कथन को और भी स्पष्ट करने के लिए वे कहते हैं कि जंगली से भरी घाटी, पत्तों से आच्छादित दरी, जंगली रास्ता जिसका कोई ठिकाना नहीं कि वह कहाँ ले जाएगा, ये सभी रोमैन्टिक हैं लेकिन राजमार्ग रोमैन्टिक नहीं है। चक्कर मारने वाली, अटपटी, जंगल से होकर बहने वाली अदृश्य-सी छोटी नदी रोमैन्टिक है लेकिन मैदान में बहने वाली चौड़ी नदी उसके जैसी रहस्यमयी नहीं है। दिन के प्रखर प्रकाश की तुलना में चाँदनी रोमैन्टिक है।

अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रोमैन्टिसिज्म शब्द का प्रयोग पहले अनादरसूचक समझा जाता था। लेकिन ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी में आते-आते इसके सम्बन्ध में लोगों की दृष्टिभंगी में अन्तर आया और इसके प्रयोग में अब पहले जैसा अवज्ञा का भाव नहीं रह गया। इस काल में इस शब्द का सम्बन्ध विषाद, अवसाद (melancholy) से जुड़ गया। फ्रांसीसी भाषा में इस शब्द के लिए Romantique (रोमांतिक) शब्द का प्रयोग सन् १७६६-७७ ई० में होने लगा था। रूसो ने सन् १७७७ ई० में इसका प्रयोग किया है। सन् १७९८ ई०

तक आते-आते यह शब्द फ्रान्स में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। जर्मनी में भी इस शब्द का व्यवहार अठारहवीं शताब्दी के मध्य में होने लगा था। जर्मनी और इंग्लैंड में स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन सन् १७६० ई० में प्रारम्भ हुआ। अनेक परिवर्तनों के साथ यूरोप के अन्य देशों में भी सन् १८०० ई० से सन् १८३० ई० के बीच यह तेजी से फैल गया। सन् १८०० से सन् १८२५ ई० के बीच का काल अंग्रेजी साहित्य के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का वह काल था जिसमें काव्य-सम्बन्धी नाना समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप बहुत कुछ लिखा गया है। इस काल में काव्य के लिखे जाने तथा उसके सैद्धान्तिक पहलू पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इंग्लैंड अन्य यूरोपीय देशों में अग्रणी था।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में इस शब्द का प्रयोग अनेक प्रवृत्तियों का संकेत करने के लिए किया गया। ये प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की थीं। काल, स्थान तथा रचनाकार की भिन्नता के साथ इन प्रवृत्तियों के रूप में भी भिन्नता देखने को मिलती है। नई प्रवृत्तियों में परम्परा के विरुद्ध विद्रोह भी देखने को मिलता है और फिर परम्परा को ध्यान में रख नाना प्रकार के परिवर्तन लाने का प्रयास भी देखने को मिलता है। विषय की दृष्टि से रोमैन्टिक विषयों में दूर-दूर अपरिचित अनजान देशों की विचित्रताओं को भी अन्तर्भूत किया जाता था तो देश के प्राचीन इतिहास से सबंधित विषयों को भी। उन विषयों को भी रोमैन्टिक समझा जाता था जिनका सबंध मध्ययुग से जुड़ा हुआ था। रात्रि, मृत्यु, खंडहर, कब्र, स्वप्न, विलीपिशाएँ—सभी रोमैन्टिसिज्म के विषय माने गए। मध्ययुग के गीतों, गाथाओं तथा रूमानी कहानियों की ओर यूरोप का ध्यान प्रबल रूप से आकृष्ट हुआ। नई दृष्टि से लोगों ने उनकी ओर देखना शुरू किया। वीरगाथाएँ, प्रेमाख्यान, रहस्य आदि लोगों के आकर्षण के केन्द्र हो गए। ग्रे, टामस, वार्टन, हर्ड आदि ने इस प्रकार के साहित्य में निहित सौन्दर्य और आकर्षण का उद्घाटन किया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सौन्दर्य की प्रकृति तथा कलात्मक प्रतिक्रिया के मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर जर्मनी में बड़ी गंभीरता से विचार किया गया। लेसिंग, हर्डर, गेटे ने सौन्दर्य-तत्त्व पर विचार प्रकट किया और कान्ट, श्लेगेल तथा शेलिंग ने तत्सबंधी दार्शनिक सूक्ष्मताओं पर प्रकाश डाला। इंग्लैंड में एडमंड बर्क का नाम इस दृष्टि से लिया जा सकता है। बर्क इंग्लैण्ड में सौन्दर्य-तत्त्व पर विचार करने वालों में अग्रणी था। रूसो का नाम इस दृष्टि से महत्त्व का है। रूसो ने सौन्दर्य-तत्त्व और दार्शनिक चिन्तन दोनों ही दृष्टियों से स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को समृद्ध किया।

नव-क्लासिक युग में उदारवादी विचारों का उदय होने लगा था। सन्

१६७४ ई० में बोआलो (Boileau) ने लांजिनस के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का सहज फ्रान्सीसी भाषा में अनुवाद किया। इसका प्रभाव उस समय के साहित्यिकों पर पड़ा। काव्य सम्बन्धी विचारधारा में लांजिनस का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी में पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। बौद्धिक क्षेत्र में अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम तथा फ्रांस की क्रान्ति का गहरा प्रभाव पड़ा। राजनैतिक परतन्त्रता से छुटकारा पाने तथा निरंकुश शासन और उसके अत्याचारों से मुक्ति [illegible] ने के आन्दोलनों ने एक नए युग का सूत्रपात किया। अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध लोगों की मानसिक दासता को दूर करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है। बौद्धिक क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तन का प्रवेश हुआ और प्राचीन काल के जिन विचारकों की बातों को बिना तर्क के मान लेने की जो प्रवृत्ति थी उसमें पूरा परिवर्तन आया। पहले के विचारकों के मतों को अभी तक प्रमाण मानने की जो मनोवृत्ति थी वह पूर्ण रूप से बदल गई। इसका प्रमाण जान्सन के कथन से ही मिलने लगता है। जान्सन का कहना था कि अनुकरण करके कोई बड़ा नहीं हो सकता। जान्सन का यह भी कहना था कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति मूलतः स्वतन्त्र होता है। इन बातों का फल यह हुआ कि प्राचीन काल के विचारकों के मतों और सिद्धान्तों को लोगों ने नई दृष्टि से देखना शुरू किया। एरिस्टाटल, होरेस, बोआलो आदि का नए सिरे से अध्ययन प्रारम्भ हुआ। उनके मतों का परीक्षण-विवेचन आरम्भ हुआ और लोगों ने उनकी कमियों को भी समझने का प्रयास किया। नव-क्लासिक विचारधारा का पूरा-पूरा आधिपत्य सन् १६५० ई० से सन् १७३० ई० तक बना रहा। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम तीस वर्षों में परिवर्तन के लक्षण दीखने लगे थे और स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव की भूमिका तैयार हो रही थी।

[illegible] ने प्रथम रोमैंन्टिसिज्म शब्द की परिभाषा की लेकिन सन् १८३६ ई० तक आते-आते इसकी बहुत-सी परिभाषाएँ सामने आईं, फिर भी आज तक इस शब्द का एक निश्चित अर्थ स्थिर नहीं हो पाया है। एफ० एल० लूकस ने अपनी पुस्तक 'दि डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमैंन्टिक आइडियल' (सन् १९४८ ई०) में रोमैंन्टिसिज्म की ११३९६ परिभाषाओं का उल्लेख [illegible] गया है। सर्वत्र एक ही अर्थ में इसका व्यवहार नहीं हुआ है। [illegible] इस आन्दोलन का प्रभाव आधुनिक साहित्य पर पड़ा है। यह प्रभाव [illegible] प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष लेकिन आधुनिक साहित्य इससे अछूता नहीं रह सका है। [illegible] कि स्वच्छन्दतावादी कवि [illegible] है और [illegible] के लिए यह बुद्धि-तर्क का [illegible]। यह मानता है कि हृदय अपने आप में पूर्ण है।

स्वच्छन्दतावादी की एक महत्व की विशेषता उसके [illegible] है। [illegible] आदर्शवादी होता है। [illegible] है। [illegible]

है। उसके लिए सबेग ही सब कुछ है और तर्क में वह कोई अभिरुचि नहीं रखता। यथार्थ के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं। अभिव्यंजना की दृष्टि से वह अपने को स्वतन्त्र मानता है। परम्परा और पहले से चले आते हुए नियमों को नहीं मानकर चलने में ही वह अपनी विशेषता समझता है। गीतात्मकता की ओर उसका प्रबल आकर्षण है। उसमें अस्पष्टता और धुंधलापन का मोह है। सपनों में वह खो जाने वाला होता है। रोमांटिक रचनाओं का नायक या तो अवसाद या रूप से भरा हुआ है अथवा इसके ठीक विपरीत वह एक बहुत बड़ा विद्रोही है। दोनों में से चाहे वह जो भी हो लेकिन हर अवस्था में वह रहस्यमय है। वैसे ये सभी प्रवृत्तियाँ किसी साहित्य में एक साथ नहीं भी मिल सकती हैं। लेकिन यह सही है कि सर्वत्र स्वच्छन्दतावादी क्लासिक्स के विरोधी हैं। स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन एक ही समय में सब देशों में देखने को नहीं मिलता।

स्वच्छन्दतावाद की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) परम्परायुक्त नियमों और शैलियों के प्रति उदासीनता का भाव। वैसे स्वच्छन्दतावादी, गठन का ऐक्य (*Unity of form*) स्वाभाविक ढंग से काव्य में बना हुआ मानते हैं क्योंकि ऐसा अगर न हो तो भावों को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

(२) मानव मन पर प्रकृति के गहरे प्रभाव को इसमें स्वीकार किया जाता है। प्रकृति और मनुष्य के बीच एक गहरा और निकट का सम्बन्ध है, ऐसी स्वच्छन्दतावादियों की मान्यता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को पहले स्वीकार नहीं किया जाता था। स्वच्छन्दतावादी केवल इतना ही नहीं मानते कि प्रकृति मनुष्य के अस्तित्व का कारण है बल्कि वे यह भी कहते हैं कि वह उसमें कल्पना और अनुभूति का भी उद्रेक करती है। वह अपने-आपको मानो मनुष्य के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहती है। अतएव स्वच्छन्दतावादी कवियों का ध्यान प्रकृति की गोद में पले हुए प्राणियों की ओर जाता है।

(३) सहज भाव से बिना किसी आडम्बर के अपने भावों को प्रकट करने पर स्वच्छन्दतावादी कवि बल देता है। भाषा और अभिव्यक्ति के बनावटीपन से वह दूर रहना चाहता है।

(४) प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण किसी वर्णनात्मक काव्य के लिए महत्त्व का माना जाता है लेकिन केवल उद्दीपन विभाव के रूप में उन्हें चित्रित करना वे ठीक नहीं मानते। प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के पीछे भी एक अर्थ है ऐसा ये कवि मानते हैं। वे मानते हैं कि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णनात्मक ढंग अपने आप में निरर्थक मालूम होता है अगर उससे जीवन के सत्य तथा किसी रहस्य की अभिव्यक्ति न हो। स्वच्छन्दतावादी कवि प्रकृति में आध्यात्मिक शक्ति का आरोप करते हैं। प्रकृति में सर्वत्र दैवी शक्ति को प्रत्यक्ष करने की प्रवृत्ति भी इन कवियों

वादियों के अनुसार कवि वह है जिसमें अन्तर्दृष्टि है और वह दृश्यमान जगत् की वस्तुओं में अन्तर से प्रवेश कर सकता है जो सबके लिए सम्भव नहीं है। देखने की अपेक्षा उसकी अनुभूति और भी गहरी होती है। वह जब कुछ देखता है और अनुभव करता है तो वह उससे इस प्रकार अभिभूत हो जाता है और वे अनुभव कुछ इस प्रकार से उसके मन पर अधिकार जमा लेते हैं कि अपने-आपको व्यक्त किए बिना उसे चैन नहीं मिलता। इसीलिए कविता की परिभाषा करते हुए वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि कविता, स्वतःस्फूर्त तीव्र संवेदना के अतिरेक का प्रशान्ति में अनुस्मरण है (the spontaneous overflow of powerful feeling recollected in tranquillity)।

श्लेगेल (१७७२-१८२९) ने पहले पहल रोमैन्टिसिज्म और क्लासिसिज्म के अन्तर पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि पहले-पहल जर्मनी में सौन्दर्यशास्त्रियों ने सभी प्रकार के सौन्दर्य का सम्बन्ध असीम से जोड़ा। उन्होंने मनुष्य की सत्ता का परम सत्ता के साथ सादृश्य बतलाया। अतएव स्वच्छन्दतावादी तब तक सौन्दर्य के अस्तित्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं जब तक उसमें असीम (infinite) का किसी न किसी प्रकार समावेश न हो। रूपों के पीछे जो शक्ति क्रियाशील है उस पर वे बल देते हैं। अमूर्त की ओर वे आकृष्ट नहीं होते वल्कि उस स्वाधीनता की ओर वे अधिक रुचि रखते हैं जो एक ही रूप को लेकर सतोष करना नहीं जानती। वह अनवरत प्रयोग और परीक्षण में लगी रहती है और सौन्दर्य के संदर्भ में अपने को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कभी इस प्रकार से, कभी उस प्रकार से अभिव्यक्त करती रहती है।

मादाम द स्तैल (सन् १७६६ ई०—सन् १८१७ ई०) ने पहले-पहल अंग्रेजी और फ्रांसीसी साहित्यकारों के सामने रोमैन्टिसिज्म और क्लासिसिज्म के विवाद को उपस्थित किया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यूरोपीय साहित्य *के इतिहास में क्लासिक युग भिन्न भिन्न साहित्यों के लिए एक ही नहीं* है। उन साहित्यों में क्लासिक युग उसे ही कहा गया है जिसमें उन साहित्यों में ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी के काव्य के रूपात्मक अनुकृति (formal imitation) के सिद्धान्त को अपनाया गया है। क्लासिक युग उसी को कहा जा सकता है जिसमें यह समझा जाता रहा कि महान कलाकारों की रचनाओं की अनुकृति से कलात्मक कृतियों का सर्जन हो सकता है।

जब क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म की बात कही जाती है तब लोगों के मन में साधारणतः यह बात आती है कि दोनों में भेद इस बात का है कि एक में संयम (restraint) है तो दूसरे में उच्छ्वास। क्लासिकल रचनाकार मनुष्य को मनुष्य ही मानता है, उसे देवता नहीं बनाता। वह दिव्य आलोक की खोज में

नही भटकना। उसके लिए दिन का प्रकाश ही आलोक है। अगर क्लासिसिज्म मनुष्य का अध्ययन मनुष्य को केन्द्र में रखकर करता है तो स्वच्छन्दतावादी अज्ञात और अद्भुत स्थलो म, प्रकृति के उच्छृंखल और उद्दाम दृश्यों में आत्मा की खोज करता है। क्लासिसिज्म सदैव मध्यम मार्ग ढूंढता है। क्लासिकल काव्य म अगर कल्पना की उडान भरी भी जाय तो भी उसमे एक प्रकार का सयम, एक प्रकार का नियन्त्रण रहता है। क्लासिकल रचनाकार मनुष्य की सीमाबद्धता को कभी नही भूलता। वह कभी नहीं भूलता कि उसके पैर पृथ्वी पर हैं। वह मन ही छलाग मारे लेकिन फिर वह पृथ्वी पर लौट आता है। वह ऐसी उडान नहीं भरता कि पृथ्वी के ऊपर ही ऊपर वायुमडल म झूलता रहे। इस प्रकार से क्लासिसिज्म अपने को इस जगत् म निबद्ध रखता है और स्वच्छन्दतावाद इस जगत् स परे अन्य जगत् म। स्वच्छन्दतावाद आत्यन्तिकता और उत्कटता के पीछे दौडता है। क्लासिसिज्म को शान्ति म सतोष मिलता है जबकि रोमैन्टिक को दुस्साहसिकता म। एक परम्परा के प्रति श्रद्धा का भाव रखता है तो दूसरा नूतनता के प्रति आकृष्ट रहता है। स्वच्छन्दतावाद की प्रकृति उत्तेजना, अशान्ति, ऊर्जा, बेचैनी, आध्यात्मिकता, कुतूहल, प्रगति, स्वतन्त्रता, प्रयोग आदि की है। पहले से चले आते हुए क्लासिकल दृष्टिकोण के अनुसार एक विशेष स्थिरीकृत रूप के मानदण्ड के साथ अनुरूपता मे सौन्दर्य का अस्तित्व है जबकि रोमैन्टिक सौन्दर्य के सम्बन्ध म असीम को खीच लाए बिना नहीं रहता। क्लासिसिज्म की कठिनाइयो को ध्यान में रखकर नीत्शे ने उसके दो प्रकार बताए हैं। एक को वह स्थिरशील और दूसरे को गतिशील कहता है। इस दृष्टि से शेक्सपियर को गतिशील क्लासिक रचनाकार कहा जा सकता है।

टी० ई० ह्यूम (T E Hulme) ने क्लासिसिज्म और रोमैन्टिसिज्म के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसका कहना है कि कविता म दोनो म जो अन्तर दीख पडता है वह अन्तर इसलिए है कि सृष्टि और मनुष्य के सबध में दोनो के दृष्टिकोण म अन्तर है। रोमैन्टिक कवि मनुष्य का सबध असीम से जोडता है और वह सब समय असीम की बातें करता रहता है। मनुष्य की शक्तियां सीमित हैं और कुछ भी करने की उसकी आकाक्षा इस सीमाबद्धता के कारण सकुचित हो जाती है। अतएव उसे क्या होना चाहिए और कहां तक वह उसे कर सकता है इन दोनो म एक बहुत बडा व्यवधान है। इस व्यवधान के कारण स्वच्छन्दतावादी के मन म तिक्तता भर उठती है और इसीलिए बाद म चलकर उसम एक उदासी घर कर जाती है। इसीलिए स्वच्छन्दतावादी कविता म एक प्रकार की अस्पष्टता, एक प्रकार का धुधलापन देखने को मिलता है और साथ ही यह भी लगता है कि वह एक प्रकार से असीम म बहा ले जाने वाली है। साधारणत लोगो के मन म कविता के सम्बन्ध म यह धारणा बन गई है कि अगर

वह एक अस्पष्ट, अज्ञात और रहस्यमय जगत् की ओर खींच ले जानेवाली न हो तो वह कविता ही नहीं है; जैसे कविता की अस्पष्टता ही उन्हें आकृष्ट करती है और उसे ही वे कविता का एक विशिष्ट गुण मानते हैं। स्पष्ट ही ऐसी धारणा के मूल में स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टिभंगी का प्रभाव है।

बुद्धिवादिता के आतिशय्य के कारण मनुष्य के सामने कई प्रकार की समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। बुद्धि और तर्क सदेहमूलक हैं। मनुष्य की आस्थाओं, उसके संस्कारों को इनसे गहरा धक्का लगता है। उसके सारे विश्वास, उसे शान्ति प्रदान करनेवाली आस्थाएँ जब चूर्ण-विचूर्ण हो जाती हैं तब वह अपने लिए आस्थाओं वाले एक नये जगत् का निर्माण करना चाहता है। मनुष्य को देवता बनाने और इसी पृथ्वी पर स्वर्ग बसाने की स्वच्छन्दतावादियों की प्रवृत्ति के मूल में यही मनोवैज्ञानिक तथ्य कार्य करता रहता है। स्वच्छन्दतावादियों पर रूसो के इस सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है कि मनुष्य मूलत अच्छा होता है और परिस्थितियों के कारण उसमें खराबियाँ आ जाती हैं। स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त के मूल में इसका स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। स्वच्छन्दतावादी के मन में यह भावना काम करती रहती है कि व्यक्ति के भीतर असीम संभावनाओं का भाडार है। उसका लाभ समाज को इसलिए नहीं प्राप्त होता कि नाना प्रकार की विरोधी शक्तियाँ मनुष्य को दबा रखती हैं। स्वच्छन्दतावादियों का विश्वास है कि अगर उन्हें दूर कर दिया जाय और समाज को फिर से व्यवस्थित किया जाय तो मनुष्य के भीतर की संभावनाओं के लिए गतिशील होने तथा अग्रसर होने का अवसर मिलेगा। क्लासिसिज्म मनुष्य को असाधारण भाव से स्थितिशील और सीमा में निबद्ध प्राणी मानता है, जिसकी प्रकृति पूर्ण रूप से अपरिवर्तनशील है। परंपरा और सुनियोजन के द्वारा ही उसके भीतर से कुछ अच्छी चीज पाने की आशा की जा सकती है। लेकिन आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों ने क्लासिसिज्म की इस चिन्ताधारा को सार्थक नहीं रहने दिया है।

ह्यूम का कहना है कि मनुष्य के स्थितिशील गुणों को जब बलपूर्वक दबा दिया जाता है तब उसके भीतर एक प्रतिक्रिया होती है और वह अपने आपको नए रूप में अभिव्यक्त करना चाहती है। मनुष्य के स्थितिशील गुणों में भूख और यौन भावना के समान भगवान् में आस्था भी एक गुण है। भगवान् में आस्था के भाव को बुद्धिवादिता ने दबा डाला था अतएव ह्यूम के अनुसार स्वच्छन्दतावादियों ने मनुष्य में देवता की प्रतिष्ठा कर जैसे एक नये धर्म की ही प्रतिष्ठा कर डाली। स्वच्छन्दतावाद को वह split religion कहता है। चाहे जो हो, आज भी स्वच्छन्दतावाद और क्लासिसिज्म को नई-नई दृष्टि से देखने का क्रम चल ही रहा है।

कल्पना और स्वच्छन्द कल्पना

कविता को समझने के जितने प्रयत्न हुए हैं उनमें प्राय ही इस बात को स्वीकार किया गया है कि प्रकृति के रहस्यों को गहराई तक समझने तथा उनमें जो सत्य निहित है उसे समझने की शक्ति कविता के मूल में है। कवि में यह शक्ति होती है कि वह भीतर उसे देख सकता है और उसका अनुभव कर सकता है। कवि अपने देखे हुए सत्य को रूप देता है। उस रूप के सहारे हम उसके देखे और अनुभव किए हुए सत्य को सहज ही देख और अनुभव कर पाते हैं। कवि में सत्य तक पहुंचने की शक्ति के साथ उसे रूप देने की भी शक्ति होती है। ये सत्य पहले अस्पष्ट और धुंधले रूप में ग्रहण होते हैं लेकिन बाद में चलकर स्पष्ट भावों और विचारों का रूप ले लेते हैं। इन भावों और विचारों को रूप देने की शक्ति को ही कल्पना कहते हैं। इसीलिए कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा गया है।

कल्पना (imagination) को समझने में नाना प्रकार के प्रयास हुए। अति प्राचीन काल से लेकर आज तक इसके संबंध में कुछ न कुछ कहा जाता रहा है और नाना प्रकार की इसकी परिभाषाएं प्रस्तुत की गई हैं। कल्पना को वह शक्ति या प्रक्रिया कहा गया है जिससे प्रतिच्छवि का सर्जन (image-forming) संभव हो पाता है अथवा जिसके सहारे प्रतिच्छवि को ग्रहण या प्रत्यक्ष किया जाता है। अमूर्त धारणाओं और प्रत्ययों को कलाकार इसी के सहारे मूर्त रूप देता है। मनुष्य इसी के सहारे सर्जन में समर्थ होता है। इसी के सहारे कलाकार या कवि 'वस्तु' या 'परिस्थिति' के अंतर में प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार से यह सहज ही देखा जा सकता है कि कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा सामूहिक या व्यष्टि रूप से प्रतिच्छवि को चाक्षुष-प्रत्यक्ष करना संभव है और फिर जिसके सहारे उन प्रतिच्छवियों को आदर्श रूप दिया जा सकता है। बहुत लोगों ने इस कल्पना को ही कलात्मक सृष्टि कहा है।

कल्पना (imagination) के साथ ही एक और शब्द पर थोड़े में प्रकाश डालना आवश्यक है। यह शब्द फैन्सी (fancy) है। इसे स्वच्छन्द कल्पना, स्वैर कल्पना, कपोल कल्पना आदि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। साधारणत फैन्सी से यही समझा जाता है कि यह वास्तविकता से परे है। इससे यह समझा

जाता है कि जैसे यह अपने में दिवा-स्वप्नों को समाहित किए हुए है। इसमें विचारों का तारतम्य नहीं होता और कभी-कभी तो वे विचार हास्यकर होते हैं जिनको यथार्थ से न जैसे कोई प्रयोजन है और न जैसे वे यथार्थ की परवाह ही करते हैं। समझा यह जाता है कि यह स्वैर-कल्पना (fancy) सिर्फ मनोविनोद के लिए होती है।

Imagination (कल्पना) शब्द लैटिन के Imaginatio शब्द से निकला है। इस लैटिन शब्द का अर्थ 'मानसिक चित्र (image) की सृष्टि' समझा जाता रहा है। इस प्रकार से imagination का अर्थ रूपों की सृष्टि करना हो गया है। Fancy (स्वैर कल्पना) शब्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह जर्मन शब्द Fantasia के अनुरूप है। यह शब्द ही अंग्रेजी में Fancy हो गया है। बहुत पहले Imagination (कल्पना) तथा Fancy (स्वच्छन्द कल्पना) दोनों ही एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

हम यह देख चुके हैं कि प्लेटो कलात्मक कृति को सत्य की कसौटी पर कसना चाहता है, यह स्वाभाविक है कि वह कल्पना के सम्बन्ध में अपने इसी दृष्टिकोण से विचार करे। प्लेटो के समय Imagination (कल्पना) और Phantasia (कपोल कल्पना) में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। नैतिकता-प्रधान अपने दृष्टिकोण के कारण प्लेटो कल्पना (phantasia) को निम्न आत्मा का व्यापार मानता है। उसका कहना है कि यह मनुष्य को भ्रम में डालनेवाली और गलत परिणाम पर पहुंचानेवाली है, अतएव प्लेटो इससे सावधान रहने की सलाह देता है। उसका कहना है कि इसी के कारण कवि बुद्धि और तर्क को तिलांजलि देकर खयाली दुनिया में बात करता है। उसके मतानुसार कवि इसी के प्रभाव में आकर अवास्तव जगत् की सृष्टि कर उन सवेगों को उद्दीपित करता है जो पाठक को विवेकहीन बनाते हैं। वैसे अन्यत्र उसने यह भी स्वीकार किया है कि एक प्रकार की ऐसी भी phantasy (कल्पना) है जो तर्क से परे होती है। वहां तर्क की पहुंच नहीं होती। इसी के सहारे मनुष्य दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है। Phantasy (कल्पना) के जरिए मनुष्य का भगवान् के साथ सबंध स्थापित हो जाता है। प्लेटो इस बात को स्वीकार करता है कि कला और कविता के साथ कल्पना का सबंध है। बाद में उसने यह भी स्वीकार किया है कि मनुष्य इसके सहारे विशुद्ध सौन्दर्य के स्वरूप से परिचित हो सकता है।

कविता को जिस सत्य की कसौटी पर प्लेटो कसना चाहता है उससे एरिस्टाटल सहमत नहीं है। उसका कहना है कि कलाकृतियों में जिस बाह्य सत्य का चित्रण होता है वह सत्य विज्ञानादि के सत्य से भिन्न है। उसका यह भी कहना है कि एक ही सत्य का चित्रण साहित्य और विज्ञान में अलग-अलग ढंग से होता है। एरिस्टाटल का कहना है कि साहित्य या कला अधिक वास्तविकता

के साथ 'वस्तु' को चित्रित करती है क्योंकि कला के चित्रण में 'वस्तु' में निहित वास्तविकताओं की विशिष्टताओं का चित्रण होता है। इसे कुछ और स्पष्टता से समझने की हम कोशिश करें। कलासृष्टि के पीछे दो शक्तियां क्रियाशील रहती हैं : (१) प्रकृति की शक्ति, जो मुख्य रूप से कलाकार को प्रेरणा देती है और कला के भाव-पक्ष के मूल में रहती है, (२) कलाकार के अन्तर की अपनी शक्ति जो प्रकृति की प्रेरणा से क्रियाशील होती है और जिससे उसके अन्तर में भावों का उदय होता है। कलाकार के अन्तर की शक्ति उन भावों को तर्कसंगत और सुसम्बद्ध बनाती है और उन्हें कलाकार शब्दों में अभिव्यक्त करता है। कलाकार की यह शक्ति तथा प्रकृति की उत्प्रेरक शक्ति दोनों मिलकर उसके अन्तर में काव्य या कला को रूप देती हैं। कलाकार के अन्तर में यह शक्ति बिना किसी आयास के क्रियाशील हो जाती है। वैसे इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसमें कलाकार के मस्तिष्क का भी कुछ योग रहता है। अतएव रूप-विधान को प्राधान्य नहीं देने पर भी इसे मानना ही पड़ेगा कि कवि के भावों की समुचित अभिव्यक्ति के लिए यह (रूप-विधान) एक साधन है और इससे कवि को सहायता ही मिलती है।

इससे यह सहज ही देखा जा सकता है कि भाव-पक्ष जो प्रकृति की शक्ति की देन है और कला-पक्ष जो कवि की अपनी निज की शक्ति का फल है और जिसमें कवि की प्रतिभा और उसके आयास सन्निहित हैं—एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह समझना ठीक नहीं होगा कि ये दोनों स्वतन्त्र, निरपेक्ष और असम्बद्ध शक्तियां हैं जो बाहर से आती हैं और एक दूसरे से मिलकर काव्य-रचना में सहायक होती हैं। वास्तव में ये दोनों एक ही शक्ति के दो रूप हैं और इन दोनों के द्वारा ही कलाकृति विकास को प्राप्त होती है। ये दोनों ही मिलकर कल्पना (imagination) कहलाती हैं। यही वह मूल शक्ति है जिससे उत्कृष्ट काव्य या महान् कलाकृति की सृष्टि होती है। प्रकृति से पाई हुई वस्तु को कवि एक अपूर्व रूप देता है। उससे एक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यह केवल प्रकृति द्वारा उत्प्रेरित भावों का संघात मात्र नहीं है बल्कि यह सृष्टि भव्य है, महत् है। इस प्रकार का सर्जन करने वाली शक्ति को ही कल्पना कहा गया है। इसके द्वारा उस कृति में एक विशिष्टता, एक भव्यता का समावेश हो जाता है, क्योंकि कल्पना भावों और संवेदनाओं को अमूर्त से मूर्त बनाती है। वे भाव और संवेदनाएं कल्पना के द्वारा एक स्पष्ट रूप धारण कर लेती हैं। कवि नाना कौशल से—रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के सहारे तथा शब्दों के कुशल प्रयोग से—उन अमूर्त भावों और संवेदनाओं को सहृदय के हृदय में स्पष्ट रूप से मूर्तिमान कर देता है। इसी को लक्ष्य कर शेक्सपियर ने कहा है

The poet's eye in a fine frenzy rolling
Doth glance from earth to heaven, from heaven to earth
And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen
Turns them to shape and gives to airy nothing
A local habitation and a name.

बड़े नि:संग भाव से, बिना किसी पूर्वाग्रह के एरिस्टाटल ने फैन्टेसी (कल्पना) को समझने की चेष्टा की है। उसका कहना है कि कोई भी धारणा या प्रत्यय (concept) अपने अनुरूप कल्पना के बिना संभव नहीं है। एरिस्टाटल के इस मत का बहुत अधिक प्रभाव आलोचना पर पड़ा और शताब्दियों तक प्रभाव बना रहा। दान्ते ने *Phantasia* (कल्पना) को अपनी काव्य-प्रतिभा कहा है। कल्पना के द्वारा ही वह अभिव्यक्ति अथवा दृष्टि (vision) को संभव मानता है। उसके अनुसार फैन्टेसी के बिना कविता नहीं हो सकती। एरिस्टाटल का कहना है कि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किए हुए ज्ञान से फैन्टेसी सक्रिय हो उठती है और वस्तुओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को प्रतिच्छवियाँ (images) के रूप में उपस्थित करती है। इस तरह की प्रतिच्छवियों से तर्कणा (reason) अपने भावों का आहरण करती है। एरिस्टाटल के अनुसार अनुभवो के भीतर से ज्ञान के आकलन की प्रक्रिया में इन्द्रिय (sense) और भाव (thought) के बीच प्रतिच्छवियाँ मध्यवर्ती का कार्य करती हैं। साधारणत. यह समझा जाता है कि इन्द्रियाँ जो भी अनुभव ग्रहण करती हैं उनसे कल्पना, वस्तुओं और उनके पारस्परिकसबधो की प्रतिच्छवि को रूपायित करती है और जब भी चाहे उसे अथवा एक साथ बहुत-सी प्रतिच्छवियो को हमारे समक्ष उपस्थित कर सकती है। इन प्रतिच्छवियों में कहाँ तक सत्य है तर्कणाजनित इसका विवेचन करती है और उसी से विचारो या भावो का उद्भव होता है तथा ये भाव या विचार ही स्मृति मे बने रहते हैं।

सन् ईसवी की सत्रहवीं शताब्दी मे हाब्स (Hobbes) ने कल्पना (imagination) को ह्रासमान अनुभूति (decaying sense) कहा। हाब्स के *इस कथन को उसकी अपनी व्याख्या से समझा जा सकता है। मनुष्य के मौलिक* या प्रारम्भिक विचारो या भावो को वह संवेद या अनुभूति (sense) कहता है। उसका कहना है कि मनुष्य के मन मे किसी प्रकार की धारणा का होना सभव नही अगर वह पहले पूर्णरूप से या अशत. इन्द्रियो मे अनुभूत न हुई हो। उसने बतलाया है कि संवेद या अनुभूति का कारण बाह्य वस्तु है। बाह्य वस्तुएँ हमारी भिन्न-भिन्न इन्द्रियो पर अपना प्रभाव डालती है, जैसे स्वाद या स्पर्श अथवा देखने, सुनने तथा गध की अनुभूति तभी होती है जब सबधित इन्द्रियो पर उस

प्रकार की बाहरी वस्तुएँ अपना प्रभाव डालती हैं। ये सभी इन्द्रियानुभूतियाँ, हाब्स के अनुसार, उन बाहरी वस्तुओं में सन्निहित गुणों के कारण उत्पन्न होती हैं। इन गुणों की हमें प्रतीति होती है या हम इनका आभास पाते हैं। इसे ही हाब्स 'फैन्सी' कहता है। सवेद या अनुभूति हर हालत में, हाब्स के अनुसार, प्राथमिक फैन्सी (Original Fancy) है। ह्रासमान अनुभूति और कल्पना की चर्चा करते हुए हॉब्स कहता है कि जिस वस्तु को हम देख रहे हैं वह हमारे सामने से अगर हटा ली जाय अथवा अगर हम अपनी आँखें बन्द कर लें तो भी उस देखी हुई वस्तु की प्रतिच्छवि हमारे भीतर बनी रहती है। वैसे यह धुंधली अवश्य होगी। और यह स्वाभाविक है कि सीधे जो वस्तु हमारे सामने है और उसे हम देख रहे हैं वह उस प्रतिच्छवि से स्पष्ट होगी। हाब्स का कहना है कि किसी वस्तु को देखने की क्रिया में हमारे भीतर जो प्रतिच्छवि बनती है उसे ही इतालवी विचारकों ने कल्पना (imagination) कहा है। हाब्स का कहना है कि अन्य इन्द्रियों के सबध में भी वे ऐसी ही बात कहते हैं लेकिन उसे उचित नहीं माना जा सकता। हाब्स ने बतलाया है कि जिसे इतालवी imagination (कल्पना) कहते हैं उसे ही ग्रीक Fancy (फैन्सी) कहते हैं। अतएव हाब्स का कहना है कि imagination (कल्पना) ह्रासमान अनुभूति के सिवा और कुछ नहीं। उसके अनुसार मनुष्य या अन्य प्राणियों में चाहे वे सो रहे हों या जागे हुए हों यह वर्तमान रहती है। धुंधली होती हुई अनुभूति या सवेद ही स्मृति (memory) है। अतएव हाब्स कहता है कि कल्पना और स्मृति एक ही वस्तु है। इस प्रकार से हाब्स ने अपने 'लेविआयन' (सन् १६५१ ई०) में कल्पना (imagination) के सबध में विचार व्यक्त करते हुए कविता के सबध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना है कि विवेक (judgment) से कविता में सरचना (structure) और शक्ति (strength) का आविर्भाव होता है और फैन्सी से अलकारिकता का। इस शताब्दी में बौद्धिकता पर अधिक बल दिया जाता रहा और फैन्सी को विवेक तथा तर्कणा का विरोधी माना गया। लेकिन उत्तर स्वच्छन्दतावादी युग में तर्कणा और फैन्सी को एक साथ चलने वाला माना जाने लगा (Fancy and Reason go hand in hand)। यह कहा जाने लगा कि बुद्धि, फैन्सी को बहुत पीछे नहीं छोड़ सकती। ड्राइडेन (सन् १६३१–१७०० ई०) का कहना है कि पात्र (character) और कथा-वस्तु (plot) के बाद उनका सयोजन तथा उनका चित्रण, एक शब्द में प्रस्तुतीकरण, कवि का मुख्य कार्य है। प्रस्तुतीकरण में कवि की सबसे बड़ी सहायक फैन्सी है। ड्राइडेन का कहना है कि कवि में बुद्धि-विवेक का रहना तो जरूरी है लेकिन फैन्सी ही उसकी सृष्टि को जीवन्त बनाती है। लाक (Locke) ने बाद में चलकर अपनी रचना 'एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डर स्टैण्डिंग' (सन् १६९० ई०) में हमारी इन्द्रिया-

नुभूति की दो विशेषताएँ बतलाईं। प्रथम को उसने प्रधान (primary) कहा। इसमें उन विशेषताओं का उल्लेख किया जो वास्तव में वस्तुओं में वर्तमान हैं, जैसे आयतन (bulk), आकार-प्रकार (shape) और गति (movement)। दूसरी को उसने अप्रधान (secondary) कहा। इसमें उसने बतलाया कि ये विशेषताएँ हमारी आँख, नाक और कान में हैं जिनसे हमें रंग, गंध और ध्वनि की अनुभूति होती है। लाक ने अप्रधान विशेषताओं को प्रमुखता दी। बहुत लोगों ने हाब्स के अप्रधान विशेषताओं को ह्रासमान अनुभूति कहने पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि ह्रासमान अनुभूति को किसी उच्चतर कला का उत्प्रेरक मानना कठिन है।

एडिसन ने अपनी रचना 'प्लेजर्स ऑफ दि इमेजिनेशन' (सन् १७१२ ई०) में आँखों से प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं की प्रतिच्छवियों (images derived from sight) और कल्पना (imagination) को एक ही माना। एडिसन, हाब्स तथा लाक दोनों के विचारों से प्रभावित था, लेकिन लाक का ही उस पर अधिक प्रभाव था। इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है। वैसे एडिसन के विचारों से लगता है कि उसने रुचि (taste) की समस्या की ओर अधिक ध्यान दिया और काव्यात्मक प्रक्रिया को इस सन्दर्भ में जैसे भुला ही दिया। प्रकृति और कला से पाए जाने वाले आनन्द पर उसने विस्तार से प्रकाश डाला है। एडिसन के अनुसार कल्पना की सामग्री आँखों से देखी हुई वस्तु से प्राप्त होती है। कल्पना का प्रारम्भिक कार्य वस्तुओं की चाक्षुष प्रतिच्छवि को रूपायित करना है। यह कार्य वस्तुओं के सामने रहते-रहते ही सपन्न हो जाता है। इसका दूसरा कार्य उन भावों या विचारों को रूप देना है जब ये वस्तुएँ आँखों के सामने वर्तमान नहीं रहती। इस प्रकार से एडिसन के अनुसार कल्पना में दो वस्तुएँ हैं : (१) प्रकृति की वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान, (२) चाक्षुष पदार्थ की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द अथवा आँखों से देखी हुई वस्तु से उद्भूत भावों का मानस में उदय होना। एडिसन ने प्राथमिक या प्रत्यक्ष आनन्द (primary pleasure) और अप्रत्यक्ष आनन्द (secondary pleasure) की बात कही है। उसका कहना है कि काव्य या कलाकृति में कल्पना का व्यापार दो रूपों में दिखलाई पड़ता है। सबसे पहले तो वह कलाकार या कवि के मन को प्रभावित करती है। कल्पना का यह पहला व्यापार है। कल्पना का दूसरा व्यापार यह है कि वह पाठक या श्रोता के चित्त को अनुकूल प्रतिक्रिया के लिए तैयार करती है। प्रथम व्यापार में कल्पना केवल प्रत्यक्ष या प्रारंभिक आनन्द की ही सृष्टि में सलग्न रहती है। ये प्रत्यक्ष आनन्द तब उत्पन्न होते हैं जब कि हमारी इन्द्रियाँ बाह्य उत्तेजना के कार्यक्षेत्र की सीमा के भीतर रहती हैं। परन्तु जब ये बाहरी उत्तेजनाएँ किसी कलावस्तु जैसे मूर्ति, चित्र या काव्य का रूप धारण कर लेती हैं तो प्रत्यक्ष आनन्द (primary

pleasure) उत्पन्न करने के साथ उनमें अप्रत्यक्ष आनन्द उत्पन्न करने की भी शक्ति आ जाती है। कविता में कल्पना का यह दूसरा व्यापार ही अधिक सक्रिय रहता है। एडिसन का कहना है कि कलाकृति को देखने से कल्पना जब सक्रिय हो उठती है तो उससे जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह दो प्रकार से सन्तुष्ट करने वाला होता है। एक तो हम मूल 'वस्तु' से अनुकृति की तुलना द्वारा आनन्द पाते हैं। कलात्मक अनुकृति जितना ही प्रकृति से सादृश्य रखती है वह उतना ही आनन्द देती है। कला, प्रकृति से होड़ नहीं लगा सकती लेकिन इतना सही है कि उसके चित्रण में कला उसमें कुछ विशेषत्व ला देती है। दूसरे, हमारे आनन्द का कारण वह आकर्षक सौंदर्य और वैचित्र्य होता है जो नाना प्रकार के भावों के संयोग से उस मूल वस्तु में आ जाता है जिसे प्रकृति में पाना संभव नहीं। कवि अपनी रुचि के अनुसार किसी वस्तु के संबंध में अपनी दृष्टिभंगी को हमारे समक्ष रखने में स्वतन्त्र है। फिर ऐसा भी होता है कि जब हम प्रथम उस वस्तु को देखते हैं तो उसकी बहुत-सी विशेषताएँ हमारी दृष्टि में नहीं आतीं और कवि अपनी कुशलता से उनके प्रति हमें जागरूक बना देता है। एडिसन ने दर्शनशास्त्र में व्यवहार में आने वाले शब्द कल्पना (imagination) को और कलाकृतियों के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले कल्पना शब्द को एक मानने में अपनी भ्रान्ति का ही परिचय दिया है। अपनी रचना में इस शब्द की चर्चा को एडिसन ने इतना उलझनदार बना दिया है कि कल्पना संबंधी उसके विचार स्पष्ट नहीं हो पाए हैं।

एडिसन ने कहा है कि प्रकृत वस्तु में जो पूर्णता पाई जाती है मनुष्य उससे अधिक पूर्णता देखने का अभिलाषी होता है। परन्तु दुर्भाग्य ऐसा है कि इस पूर्णानन्द के अनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाली वस्तु प्रकृति में नहीं पाई जाती। एडिसन का कहना है कि परमात्मा ने जब जीवों की सृष्टि की तब हमारी आत्मा का निर्माण करते समय यह ध्यान रखा कि आत्मा में ऐसे तत्त्व हों कि वह ईश्वरीय विभूति और ऐश्वर्य पर मनन कर सके और विचित्र तथा असाधारण के साथ जो आनन्द जुड़ा हुआ है उसके आकर्षण के कारण वह ज्ञान की खोज में लगा रहे। सौन्दर्य से लुब्ध होकर अपनी जाति की वृद्धि करे तथा सृष्टि को अत्यन्त आनन्ददायक और प्रीतिकर समझे। एडिसन का कहना है कि इसीलिए भव्यता, असाधारणता और सौन्दर्य ये तीन ऐसे धर्म हैं जिनसे प्रभावित होकर हमारी कल्पना में प्राथमिक आनन्द की लहर लहरा उठती है।

हमने देखा है कि ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी में बौद्धिकता पर अधिक बल दिया जाने लगा था लेकिन बाद में बुद्धि का स्थान गौण हो गया। जासेफ वार्टन (सन् १७५४ ई०) ने कहा कि सर्जनात्मक कल्पना इसलिये आनन्द देती है कि उसमें सुचिन्तित विवेचना का योग नहीं रहता। हर्डर (सन् १७६२ ई०) ने आलोचक के लिये एक प्रबल कल्पना-शक्ति की आवश्यकता बताई और कहा

कि उसके बिना आलोचक रचनाकार की विशिष्टता की ठीक-ठीक परख नहीं कर सकता। ह्यूम (सन् १७५७ ई०) ने बुद्धि और तर्कणा के स्थान पर एक प्रकार से कल्पना को ला बिठाया। कल्पना (*imagination*) और कपोल कल्पना (fancy) के अन्तर को स्वीकार किया और फैन्सी को निर्बाध दिवा-स्वप्न कहा। उन स्वच्छन्दतावादी कवियों और आलोचकों ने जिनकी रुचि प्रकृति में लोकोत्तर शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने की ओर थी रहस्यवादियों और कान्ट तथा शेलिंग जैसे जर्मन दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने कल्पना को लोकोत्तर बताया। इन लोगों का कहना था कि मन क्रियाशील है। वह निष्क्रिय भाव से प्रभाव नहीं ग्रहण करता बल्कि बाह्य प्रकृति को वह स्वयं अर्थ प्रदान कर अर्थपूर्ण बनाता है। ब्लेक ने सहज ज्ञान (intuition) की एक प्रक्रिया की रहस्यवादी व्याख्या की है और बतलाया है कि बिना इन्द्रियों की सहायता के और बिना तर्कणा के मनुष्य उस प्रक्रिया के द्वारा शाश्वत सत्य का ज्ञान प्राप्त करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में इस तरह की विचारधारा की प्रबलता देखने को मिलती है। ब्लेक ने चरम सत्य को आध्यात्मिक कहा और कल्पना को उसकी दृष्टि बतलाया। उसका कहना है कि कल्पना में ही देखने की शक्ति है। वह इस बात को बिलकुल मानने को तैयार नहीं कि बिना कल्पना की सहायता के स्मरण द्वारा प्रकृति की प्रतिच्छवियों की अनुकृति से कविता की सृष्टि हो सकती है। उसका कहना है कि भौतिक वस्तु और आध्यात्मिक यथार्थ के पारस्परिक विरोध को कल्पना ही मिटा सकती है। वह प्रकृति को ही कल्पना कहता है। वह मानता है कि सर्जनात्मक कल्पना चरम सत्य से आविर्भूत होती है। उसने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि अवास्तव से उसके निःसृत होने की बात कहना गलत है। उसके अनुसार कल्पना ही रूप और मूल्य प्रदान करती है। वह प्रकृति को ही कल्पना कहता है। उसके अनुसार कल्पना में रूपरेखा है, लयात्मकता है तथा अलौकिकता है; लेकिन प्रकृति में ये सब नहीं हैं।

कान्ट ने अपने 'क्रिटिक ऑफ पिओर रिजन' में कहा है कि कल्पना सक्रिय गुण या शक्ति है। वह संश्लिष्ट करती है। इन्द्रियों से ग्रहण की जाने वाली सामग्री को वह एक करती है, उनमें एकसूत्रता लाती है। संवेदना (sensibility) और ज्ञान में वह योगसूत्र स्थापित करती है। उसके अनुसार कलात्मक *विवेचन में कल्पना की अबाध क्रियाशीलता में बोध सहायक होता है।*

यहाँ पर एडमंड बर्क के कल्पना-सम्बन्धी विचारों से संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। बर्क ने रुचि (taste) की चर्चा करते हुए कल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं और ऐसा करते समय उसने साहित्य और कला सम्बन्धी मूल प्रश्नों की छानबीन की है। उसने कई प्रश्नों को हमारे समक्ष रखा है और उनके समाधान की चेष्टा की है। उन प्रश्नों में कुछ यों हैं -

कला और साहित्य के आस्वादन को लेकर इतना रुचि-भेद क्यो है ? कोई कलात्मक या साहित्यिक कृति क्यो किसी को अच्छी लगती है और दूसरे को नही ? इस क्षेत्र के लिए ऐसा कोई मानदण्ड है जो सब पर लागू हो ?

बर्क के मतानुसार कला को जीवन से अलग नही किया जा सकता। वह कला की एक अलग दुनिया नही मानता। उसने बतलाया है कि मनुष्य को किसी चीज की जानकारी तीन शक्तियो के सहारे प्राप्त होती है। वे हैं इन्द्रिय (sense), कल्पना (imagination) और विवेचना (Judgment)। देखने, सुनने आदि इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओ के द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है वह पढ़े-लिखे, ऊँच-नीच सब मे समान होता है। कल्पना को वह इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओ की प्रतिच्छवि को प्रस्तुत करने की शक्ति भर मानता है। वह यह भी मानता है कि कल्पना इन भिन्न-भिन्न प्रतिच्छवियो को एक म मिलाकर नये सिरे से सजाने की शक्ति है। अतएव उसके मतानुसार कल्पना तथा इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओ मे बहुत दूर तक समानधर्मिता होनी चाहिए। अतएव कल्पना-प्रसूत वस्तुएँ सबके लिये समान हैं और उन वस्तुओ म हम इसलिए आनन्द आता है कि हम उनमे सादृश्य (resemblances) ढूँढते हैं। और इस सादृश्य को ढूँढते समय कल्पना के लिए और खाद्य-सामग्री प्राप्त हो जाती है। विवेचना (judgment) सब समय विसादृश्य, सब समय अन्तर पर बल देती है। इससे कल्पना को और खाद्य मिलना तो दूर, यह उसके मार्ग म बाधा पहुचाती है और उसे नियन्त्रित करती है।

अब अगर कल्पना-प्रसूत वस्तुए सबके लिए समान हैं तो रुचि म भिन्नता क्यो है ? बर्क का कहना है कि रुचि मे भिन्नता मात्रा (degree) की दृष्टि म है, जाति (kind) की दृष्टि से नहीं। कुछ लोगो मे भाव ग्रहण की क्षमता अधिक होती है और भावो के समझने और उनके विवेचन म वे अधिक प्रयास किए हुए होते हैं। इसको दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि जिन्होने जीवन को भली-भांति देखा है और जिन्हें नाना भाव के अनुभव प्राप्त हैं उनकी कल्पना को और भी उर्वर बनाने मे उनकी अनुभूति सहायक होती है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नही है, जीवन की अनुभूति के साथ-साथ कला का भी ज्ञान होना चाहिए। जब तक मनुष्य नाना कलाकृतियो से परिचित नही होता, किसी विशेष कलाकृति से उसके लिए आनन्द पाना सभव नही। लेकिन एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि इसमे उसके ज्ञान की ही केवल वृद्धि होती है, रुचि ज्यो की त्यो रहती है। जिन पदार्थों को चित्रित करने की चेष्टा की जा रही है उनसे अगर परिचय न हो तो कल्पना त्रुटियुक्त हो सकती है अथवा कलात्मक कृतिया का पर्याप्त परिचय न हो तो रुचि अपरिष्कृत हो सकती है। विवेचन-शक्ति आनन्दोपलब्धि मे वृद्धि का कारण नही होती बल्कि उसे सीमित ही करती

है। लेकिन एक स्थल पर वर्क ने स्वीकार किया है कि केवल इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं से ही कल्पना-प्रसूत वस्तुओं का आविर्भाव होता है, ऐसी बात नहीं। विवेचन और मनन-चिन्तन द्वारा कल्पना-प्रसूत वस्तुएं और भी उत्कृष्ट हो सकती है।

वर्ड्सवर्थ और कालरिज ने दिखलाया है कि कल्पना (imagination) और सपोल कल्पना (Fancy) मानव मन की जैसे दो आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और दोनों दो भिन्न-भिन्न प्रकार की विचार-सरणि में परिणत हो जाती है जिससे दो भिन्न जाति की कविताए उत्पन्न हुई हैं। ये दोनों हैं (१) आनन्द और मनोविनोदन के लिए कविता और (२) 'सत्य' को प्रकाशित करने वाली कविता। ये दोनों जाति की कविताएं कविता सम्बन्धी दो भिन्न सिद्धान्तों से मेल खाती हैं। उनमें एक 'कला कला के लिए' सिद्धान्त है, जिसमें यह समझा जाता है कि कला में अपने आप एक अच्छाई है और उसके निर्माण के उद्देश्य को उसके बाहर नहीं खोजना है। वह आनन्द-प्राप्ति के लिए ही निर्मित होती है और उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं। दूसरा सिद्धान्त यह है, जिसमें यह स्वीकार किया जाता है कि श्रेष्ठ कविता 'सत्य' को प्रकाशित करने वाली होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कविता की उत्तमता इसी में मानी जाती है कि उस 'सत्य' को प्रकाशित करने में वह यहाँ तक सफल हुई है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें आनन्द-प्राप्ति को स्थान नहीं दिया जाता। उस 'सत्य' को प्रकाशित करने में ही वह आनन्द-प्राप्ति का साधन हो जाती है लेकिन यह भी ठीक है कि केवल आनन्द-प्राप्ति के लिए ही इस जाति की कविता नहीं लिखी जाती। 'सत्य' को प्रकाशित करने में वह एक विशेष आनन्द को देने वाली होती है और यह आनन्द पहली जाति की कविता से पाए जाने वाले आनन्द से भिन्न होता है।

भाव-प्रधान कविता 'सत्य' को प्रकट करने वाली होती है। इसके मूल में कल्पना (imagination) है। यह फैन्सी से भिन्न है। प्रतिच्छवियों (images) की सृष्टि करना दोनों का काम है लेकिन कल्पना साथ ही साथ 'सत्य' को भी प्रकाशित करती है। कल्पना-शक्ति द्वारा कवि 'सत्य' तक पहुंचता है और साथ ही प्रतिच्छवियों का निर्माण भी करता है। इन्हीं प्रतिच्छवियों के सहारे 'सत्य' अभिव्यक्त होता है। कवि भाषा के द्वारा इन्हीं भाव-चित्रों को दूसरों तक पहुंचाता है। विज्ञान तर्क द्वारा सत्य तक पहुंचता है जब कि कविता सहज भाव से सत्य को देखती है और उन भाव चित्रों को ग्रहण कर दूसरों तक पहुँचाती है। जिस शक्ति के सहारे कवि यह सम्भव कर पाता है वह कल्पना शक्ति है। इसी को ध्यान में रखकर शेली ने कविता की परिभाषा करते हुए कहा था कि सामान्य रूप से कहा जाय तो कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

कालरिज, जर्मन दार्शनिकों तथा रहस्यवादी विचारधारा से प्रभावित था। कल्पना की चर्चा करते हुए वह कहता है कि आद्य कल्पना असीम 'अहता'

मे चलती रहने वाली सर्जन की शाश्वत क्रिया की ससीम मन म पुनरावृत्ति है (The primary imagination is repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I Am)। सर्जन, शाश्वत सत्ता की स्वीकृति है जिसमें विषय (object) और विषयी (subject) एक है। सर्जन की इस क्रिया की पुनरावृत्ति को कल्पना मनुष्य के लिए सभव कर देती है। कालरिज, वर्ड् सवर्थ, रस्किन आदि ने काव्य भाषा को एक विशेष प्रतिभा का परिणाम बतलाया। यह साधारण भाव से देखने, सुनने और अनुभव करने की विशेषता से परे है। यह प्रतिभा केवल सादृश्य और वैषम्य के प्रति जागरूक होने तक ही सीमित नहीं है। कविता के सर्जन की प्रक्रिया म सपूर्ण चेतना सलग्न रहती है। इस प्रक्रिया को ही कल्पना कहा गया है।

कालरिज का कहना है कि कलाकार की कल्पना प्रकृति से उतनी ही वस्तु ग्रहण करती है जितनी कि उसमें क्षमता है। कालरिज ने कल्पना की दो जातियाँ बतलाई हैं। एक को वह आद्य कल्पना (primary imagination) कहता है। उसके मतानुसार मानवीय सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मे आद्य कल्पना की सक्रियता बनी रहती है। जिन वस्तुओ को हम अपनी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करते हैं उन्हे यह ज्ञान-गम्य बनाती है। इसी के सहारे प्रत्यक्ष ज्ञान सभव हो पाता है। दूसरी शक्ति को वह सहायक या अप्रत्यक्ष कल्पना (secondary imagination) कहता है। अप्रत्यक्ष कल्पना को वह आद्य कल्पना की अनुगूज कहता है। यह आद्य कल्पना की ही प्रतिच्छवि है। यह इन्द्रियो द्वारा ग्रहण की हुई वस्तुओ का विश्लेषण करती है। अप्रत्यक्ष कल्पना, चेतन इच्छा-शक्ति के साथ-साथ बनी रहती है। फिर भी यह आद्य कल्पना के समान ही क्रियारत रहती है। उससे उसकी भिन्नता केवल मात्रा और कार्य करने की विधि में है। फिर से सर्जन करने के लिए यह विलीन हो जाती है। इस प्रकार से विघटित और विलीन होकर यह एकसूत्रता लाती है अथवा आदर्श रूप म सतुलित करती है। इस तरह से यह फैन्सी (कपोल कल्पना) से बिलकुल भिन्न है। फैन्सी, काल और स्थान से विमुक्त स्मरण करने की एक विधि है लेकिन साहचर्य के नियमो से प्रस्तुत सामग्री (materials ready made from the law of association) से अपने उपकरण जुटाती है। कालरिज कवि या कलाकार की सजनात्मक क्रिया को परमात्मा की सर्जनात्मक क्रिया के अनुरूप बतलाता है। कालरिज, प्रकृति की अनुकृति को हू-ब-हू नकल नही मानता बल्कि प्रतीको के रूप म, प्रतीको के सहारे उसकी व्याख्या मानता है। कालरिज प्रतीकों को कल्पना का विषय मानता है।

वर्ड् सवर्थ, फैन्सी और कल्पना म अन्तर नहीं करता। उसका कहना है कि अगर उनम अन्तर है तो मुख्य रूप से उनके मूल्य (value) की दृष्टि से।

फेन्सी हमारी प्रकृति के ऐहिक और क्षणस्थायी अंश को अनुप्राणित करती है तथा भुलावे में डालती है और कल्पना (imagination) हमारी प्रकृति के उस अंश को जो शाश्वत और नित्य है अनुप्रेरित करती है और उस अनुप्रेरणा को बनाए रखने में सहायक होती है। तर्कणा (reason) की परमोत्कर्षावस्था (exalted condition) को वर्ड्सवर्थ ने कल्पना कहा है। हैजलिट ने कविता को सवेगों (emotions) पर आधारित माना है और कल्पना को संवेगों का आधार बताया है।

रस्किन के अनुसार कल्पना तीन प्रकार से क्रियाशील होती है : (१) कलाकार बिना किसी प्रतीक या रूपक की सहायता के वस्तु में निहित 'सत्य' को सीधे प्रस्तुत करता है, (२) कल्पना सहज भाव से बिना किसी सुचिन्तित योजना के अपनी सहज वृत्ति से बिखरे हुए विभिन्न तत्त्वों में सामञ्जस्य लाती है और संपूर्ण को प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक होती है, (३) कलाकार उन वस्तुओं के चित्रण के लिए जो लोकोत्तर हैं और जो ठोस-मूर्तित प्रतिच्छवि की सीमा से परे हैं, सदृश बिंब या आलंकारिकता को उपयोग में लाता है जिससे कि उनका अर्थ स्पष्ट हो जाय और उनसे जुड़ा हुआ संवेग अभिव्यंजित हो जाय। वैसे इन तीनों में से किसी को भी रस्किन सर्जनात्मक नहीं मानता। वह कला को सहजानुभूति से उद्भूत मानता है। कला को वह तर्कणा (reason) से परे मानता है।

कल्पना (imagination) शब्द अत्यन्त अस्पष्ट है। इतने लम्बे काल से इतने प्रकार से इस पर विचार किए जाने पर भी यह शब्द आज तक स्पष्ट नहीं हो सका है। आज के आलोचक अपनी आलोचना में इसका प्रयोग कम ही करते हैं। स्वच्छन्दतावादियों ने इस शब्द के साथ लोकोत्तरता और आध्यात्मिकता का योग कर दिया। इसे आज का आलोचक बिलकुल स्वीकार करने को तैयार नहीं है। आधुनिक युग वैसे भी आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट नहीं होता। आध्यात्मिकता से वह दूर ही रहना चाहता है। प्रकृतवादी या उनके जैसा विचार रखने वाले तो खुल्लमखुल्ला इसमें आध्यात्मिकता लाने की बात का विरोध करते हैं। स्वच्छन्दतावाद के विरोध के कारण भी लोगों ने इसके आध्यात्मिकता के साथ जोड़े जाने की ओर उदासीनता दिखलाई। आज बिंब (image) पर बहुत बल दिया जाने लगा है अतएव बहुत लोग कल्पना को प्रतीकों के रूप में बिंब के अध्ययन में सहायक मानते हैं। वैसे कल्पना के सम्बन्ध में जो कुछ पहले कहा गया है वैज्ञानिक दृष्टि से उसके विवेचन और परीक्षण की ओर लोगों की आज कोई रुचि नहीं है।

ललित कलाओं का वर्गीकरण

ललित कलाओं के संबंध में यूरोप के विचारकों ने पिछली तीन चार शताब्दियों में नाना भाव से विचार किया है। ललित कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न भी उन विचारकों के सम्मुख महत्त्व का रहा है। ललित कलाओं से जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं की चर्चा करने के पहले मोटे तौर पर कलाओं के संबंध में सामान्य कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सर्वप्रथम कलाओं के दो विभाग किए गए हैं (१) ललित कला, (२) उपयोगी कला। उपयोगी कला को ललित कला से निम्न स्थान दिया जाता रहा है। ललितकलाओं में स्थापत्य-कला (architecture), मूर्तिकला (sculpture), चित्रकला (painting), नृत्यकला (dancing), संगीतकला (music) और कविता (poetry) आदि की गणना होती है। उपयोगी कलाएं बढईगीरी, लुहारी, बर्तन बनाने की कला, जुलाहे का काम, कपड़ा रंगने का काम आदि हैं।

ललित कला मनुष्य को आनन्द पहुंचाने वाली है और उपयोगी कला उसके जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक वस्तुओं को जुटाने वाली है। ये दोनों प्रकार की कलाएं मनुष्य के विकास का परिचय देने वाली हैं। उपयोगी कलाओं का आविष्कार और विकास मनुष्य के जीवन-धारण और सुख के लिए हुआ। इन कलाओं के विकास के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक सौन्दर्यप्रियता के कारण मनुष्य ललित कलाओं की ओर झुका होगा। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ उसे मानसिक भूख मिटाने की आवश्यकता महसूस हुई होगी। इस प्रकार से ललित कलाएं उसके मानसिक विकास का परिचय देती हैं। वैसे ललित कलाओं के प्रादुर्भाव के संबंध में सभी एकमत नहीं हैं कि कब इनका प्रारम्भ हुआ और ठीक किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य ने उनका आविष्कार किया।

ललित कलाओं के दो विभाग किए जाते हैं (क) आंख से संबंधित कलाएँ (ख) कान से सम्बन्धित कलाएँ। आंख से सम्बन्धित कलाएँ स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला हैं तथा कान से संबंधित कलाएं संगीत और कविता हैं। जिस माध्यम से ये कलाएं अपने आपको अभिव्यक्त करती हैं, इस दृष्टि

से भी इन कलाओं का स्थान निर्धारित किया गया है। ये माध्यम स्थूल से सूक्ष्म तक हो सकते हैं। स्थूलतर और सूक्ष्मतर माध्यमों की दृष्टि में रखकर इन कलाओं को उच्च या निम्न स्थान देते हैं। हीगेल ने स्थापत्यकला को सबसे नीचा स्थान दिया है और कविता को सबसे ऊंचा। स्थापत्यकला में जिन उपकरणों—ईंट, पत्थर आदि—का उपयोग किया जाता है वे अत्यन्त स्थूल और प्रत्यक्ष हैं। इन स्थूल उपकरणों के माध्यम से ही स्थापत्यकला अपने आपको प्रकाशित करती है। कारीगर इन स्थूल उपकरणों को एक विशेष उद्देश्य से सजाता है और इस प्रकार से ये उपकरण कलात्मक रूप ग्रहण करते हैं। मूर्तिकला के उपकरण भी सम्पूर्ण रूप से स्थूल ही हैं। कलाकार पत्थर, संगमरमर या विशेष धातुओं को माध्यम बनाता है। कलाकार ही इन्हें अर्थपूर्ण बनाता है। अपने आप ये उन अर्थों को नहीं व्यक्त करते। इन निर्जीव पदार्थों के माध्यम से कलाकार हमारे सम्मुख एक जीवन्त रूप उपस्थित कर देता है। चित्रकला में कला इन स्थूल उपकरणों का सहारा नहीं लेती। मूर्तिकला में कलाकार जिस माध्यम का सहारा लेता है उसमें लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई तीनों ही वर्तमान हैं लेकिन चित्रकार के फलक में लम्बाई और चौड़ाई मात्र रहती है, ऊंचाई नहीं। चित्रकार अपनी तूलिका के सहारे उस फलक पर अपने कौशल से रूप, रंग और आकृति का चित्रण करता है और उस चित्रित की जाने वाली 'वस्तु' को हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। संगीत का माध्यम स्वर है। स्वर के आरोह-अवरोह तथा नाना कौशल से संगीतज्ञ विशेष-विशेष भावों को उपस्थित करता है और सुननेवालों के हृदय में नाना भाव-तरंगों को जाग्रत करने में समर्थ होता है। अन्त में कविता है जिसका माध्यम शब्द हैं। ये शब्द भावों के संकेत हैं और इन्हीं संकेतों द्वारा कवि पढ़ने वाले या सुनने वाले के मन में भावों को जाग्रत करता है।

इस प्रकार से कलाओं का वर्गीकरण करते समय तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं (१) कलाएं अपने आपको किसी-न-किसी माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं, ये माध्यम चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म हों, (२) मस्तिष्क तक इनकी पहुंच दो इन्द्रियों से होती है—(क) देखने की शक्ति से या (ख) सुनने की शक्ति से, (३) कलाएं प्रतीकात्मक हैं। प्रतीकों के रूप में ही वे ग्रहण की जाती हैं और यह बात इन्द्रियों से परे है। बिंब ग्रहण कराना ही उनका उद्देश्य है। अतएव यह कहा जा सकता है कि कला, वास्तविक की बिंब रूप में अभिव्यक्ति है। कलाओं के बिंब-ग्रहण कराने की क्षमता को ध्यान में रखकर नाना प्रकार से विचार किया गया है।

विक्टर कुज़ैं (Victor Cousin) का कहना है कि ललित कलाओं की विशेषता इस बात में है कि उनमें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होती है। इस दृष्टि से उसने स्थापत्यकला का स्थान सबसे निम्न बतलाया है क्योंकि उसमें वास्तुकार (architect) को सब समय उपयोगिता का ध्यान में रखना पड़ता है अतएव

उसे अभिव्यक्ति की उतनी स्वतन्त्रता नहीं रहती। कुज़े का यह मत हीगेल के मत के अनुरूप है। हीगेल ने ललित कलाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है। हमने पहले ही देखा है कि वह स्थापत्यकला को सबसे निम्न स्थान प्रदान करता है और कविता को सबसे उच्च। उसका कहना है कि स्थापत्यकला में *इन्द्रियग्राह्य उपकरणों की बहुलता है लेकिन वह प्रतीकात्मक है।* उसके अनुसार मूर्तिकला, स्थापत्य की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक अग्रसर है क्योंकि उसमें जीवधारी को चित्रित किया जाता है। इस क्रम से उसके अनुसार चित्रकला का स्थान आता है क्योंकि उसमें मूर्तिकला के समान स्थूल उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती तथा उसमें स्थानगत (Space) लंबाई-चौड़ाई तो रहती है लेकिन ऊंचाई से वह अपने को मुक्त कर लेती है। इसके बाद ही उसने संगीतकला को रखा है। संगीत के संबंध में उसका कहना है कि वह सभी कलाओं से अधिक आत्मनिष्ठ (subjective) है। स्थानगत उसके सभी तत्व विलुप्त हो जाते हैं तथा अन्तर की संवेगात्मकता ही उसका उपजीव्य है। कुज़े ने कविता को सार्वभौम अभिव्यक्ति की अधिकारिणी कहा है। उसके अनुसार सभी कलाएँ उसमें अंतर्हित हो जाती हैं। उसने बतलाया है कि महाकाव्य में स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्रकलाओं की विशेषता देखी जा सकती है। गीतियों (odes) में संगीतकला की विशेषता रहती है तथा नाटकों में स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र जैसी प्रतिमाविधायक कलाओं (plastic arts) तथा संगीतकला दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। वैसे कलाओं के वर्गीकरण को लेकर तरह-तरह के विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कलाओं की सूची भी एक तरह की नहीं है। शुक्रों ने अकारादि क्रम से एक सौ कलाओं के नाम गिनाए हैं। वैसे कलात्मकता की दृष्टि से ऊपर की बताई पांच कलाएँ ही अर्थ रखती हैं।

कलाओं के संबंध में कान्ट, शेलिंग, सोलगर (Solger), हीगेल, शापेनहावर, श्लायरमाखेर (Schleiermacher) आदि जर्मन विचारकों ने बड़े विस्तार से विचार किया है। उनकी अपनी एक विशेष दृष्टिभंगी है। उनका कहना है कि चित्रकला, मूर्तिकला और स्थापत्यकला में कल्पनामूलक सृष्टि (imaginative creation) के तत्वों का प्राधान्य रहता है जबकि नृत्यकला, अभिनयकला और संगीतकला में संवेगात्मक अभिव्यक्ति (emotive expression) के तत्व प्रधान होते हैं। उनके मत से कविता में इन दोनों तत्वों का समन्वय देखने को मिलता है। अर्थात् कविता में जो अभिव्यक्ति रहती है उसमें कल्पना और संवेग दोनों का समन्वय होता है। इन जर्मन विचारकों की दृष्टि में कलाओं में कविता को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। लेकिन आधुनिक काल में बेनेदेतो क्रोचे ने इस मत को अस्वीकार किया है और बतलाया है कि यह समझना गलत है कि विभिन्न कलाएँ विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए गए प्रभावों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

उसके अनुसार कवि भी आँखों से प्रत्यक्ष करने वाले प्रभावों को उत्पन्न कर सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क्रोचे को भी उन्हीं विचारकों के समुदाय में अंतर्भूत किया जा सकता है जो कविता को बोलता हुआ चित्र और चित्र को मूक कविता मानते हैं।

साहित्य और ललित कलाओं का संबंध विविधता से पूर्ण है। साथ ही यह संबंध अत्यन्त उलझन में भी डालने वाला है। कवियों ने प्रकृति की बाह्य वस्तुओं को जिस प्रकार अपनी रचना का विषय बनाया है उसी प्रकार उन्होंने मूर्तियों, चित्रों तथा संगीत को भी अपना विषय बनाया है। इन विषयों को लेकर कवियों ने बहुत-कुछ लिखा भी है। इसी प्रकार चित्रकारों ने भी कविता को अपना विषय बनाया है। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयास किए गए हैं कि उसमें चित्रकला जैसी प्रभावोत्पादकता लाई जाय। शब्दों के सहारे कवियों ने चित्र-निर्माण की चेष्टा की है। जिस प्रकार से रंगों के व्यवहार से चित्रकार विशेष-विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है उसी प्रकार कवियों ने रंगों की तरह शब्दों का उपयोग करने का प्रयास किया है। कविता में संगीत जैसा प्रभाव उत्पन्न करने की भी चेष्टा की गई है। इतना ही नहीं, कविता में मूर्तिकला की विशेषताओं को भी लाने का प्रयास किया गया है। इस तरह से विभिन्न ललित कलाओं के बीच आदान प्रदान चलता रहा है और बहुत बार इस प्रयास में अभूतपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई है। वैसे जब यह कहा जाता है कि कविता में मूर्तिकला या चित्रकला की विशेषताओं को लाने का प्रयास किया गया है तो इसका अर्थ इतना ही भर है कि कविता उसी तरह का प्रभाव उत्पन्न करती है जैसा कि मूर्तिकला अथवा चित्रकला से प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कविता भी संगीत का विषय हो सकती है। नाट्य और प्रगीतों में साहित्य और संगीत का मिलन देखा जा सकता है। मूर्तियां आदि के पीछे और विशेष रूप से मध्ययुग की मूर्तिकला में साहित्य की प्रेरणा देखी जा सकती है।

इटली में ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में तथा फ्रान्स में सत्रहवीं शताब्दी में ललित कला शब्द का प्रयोग होने लगा। उस समय ललितकला का अर्थ चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला था और कभी-कभी कविता और संगीत को भी उसमें अंतर्भूत कर लिया जाता था। वैसे ललित कलाओं को इतना अधिक सम्मान का स्थान ईसवी सन की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ। ए० जी० बामगार्टन (सन् १७३५ ई०) ने पहले-पहल 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग इन ललित कलाओं के विवेचन के संदर्भ में किया। इसके बाद ही कलाओं का एक जैसा विवेचन तथा एक कला को ध्यान में रखकर दूसरी कला का विवेचन किया जाने लगा। वैसे अति प्राचीन काल से ही एक कला के सहारे दूसरी कला को समझने का प्रयास किया जाता था, इसका संकेत सिसेरो, होरेस

आदि की रचनाओं में मिल जाता है। सिसेरो का कहना है कि सभी मानवीय कलाएँ एक प्रकार से समाज-बंधन में ग्रथित हैं तथा वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इधर बहुत हाल (सन् १८८४-८५ ई०) में हेनरी जेम्स ने स्पष्ट शब्दों में चित्रकार और उपन्यासकार की कलाओं के सादृश्य को स्वीकार किया है। उसके अनुसार एक ही प्रेरणा से दोनों अनुप्राणित होते हैं। उसका कहना है कि दोनों एक-दूसरे से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और एक-दूसरे को समझने में सहायक हो सकते हैं। दोनों के उद्देश्यों को वह समान मानता है। उसका कहना है कि उनमें एक का सम्मान, दूसरे का सम्मान है। एरिस्टाटल ने बार-बार नाटक में चरित्र-चित्रण की शैली की तुलना चित्रकला में रेखाकृतियों के अंकन की शैली से की है। प्लेटो चित्रकला और नाटक को प्रतिच्छवि उपस्थित करने वाली कलाएँ मानता है। उसका कहना है कि चित्रकला और स्थापत्यकला में सौन्दर्य का प्रकाशन किया जा सकता है।

क्रमबद्ध और सुनिश्चित रूप से कलाओं के सम्बन्ध में पुनर्जागरण काल में आकर ही इस बात पर प्रकाश डाला जाने लगा और विश्वास किया जाने लगा कि जिन्हें हम आज ललित कलाएं कहते हैं वे आपस में एक-दूसरे के सदृश हैं। इसके पहले कि पुनर्जागरण काल की कला सम्बन्धी धारणाओं पर हम विचार करें संक्षेप में प्राचीन काल के विचारकों के मत से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है क्योंकि उनसे पुनर्जागरण काल के विचारक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। प्लेटो ने समस्त कलाओं की समानधर्मिता की चर्चा करते हुए कहा है कि वे अनुकृति के भिन्न भिन्न प्रकार (modes of imitation) हैं। अन्य विचारक भी प्लेटो के इस मत से सहमत हैं कि कला विभिन्न माध्यमों के सहारे अनुकृति है, दूसरे शब्दों में वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण करने की चेष्टा है। कलात्मक कृति का सर्जन इस प्रकार से होता है कि उससे वास्तविक 'वस्तु' का भान होने लगता है लेकिन साथ ही उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। इन विचारकों ने प्लेटो के साथ अपनी सहमति प्रकट की है कि सभी कलाकृतियों के सर्जन में उस सौन्दर्य-तत्त्व का समावेश रहता है जो सबके लिए समान रूप से सत्य है। एरिस्टाटल ने कविता और चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन कर यह सिद्धान्त स्थिर किया कि दोनों शील-निरूपण या चरित्र को प्रकाशित करने वाली हैं। उसका कहना है कि चित्र और कविता के लिए यह आवश्यक है कि वे सौन्दर्य-तत्त्व के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर चलें। दोनों ही अपने में पूर्ण हैं। दोनों ही एक जैव (organism) के सदृश हैं और उनके अंग क्रम में व्यवस्थित हैं। वे कुछ इस प्रकार के हैं कि देखने या सुनने वाला उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' में 'मिमेसिस' (अनुकृति) के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए चित्रकला नृत्यकला तथा संगीतकला का उल्लेख किया है। किसी कविता के प्लाट (वस्तु)

उसके अनुसार कवि भी आँखों से प्रत्यक्ष करने वाले प्रभावों को उत्पन्न कर सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क्रोचे को भी उन्हीं विचारकों के समुदाय में अंतर्भूत किया जा सकता है जो कविता को बोलता हुआ चित्र और चित्र को मूक कविता मानते हैं।

साहित्य और ललित कलाओं का संबंध विविधता से पूर्ण है। साथ ही यह संबंध अत्यन्त उलझन में भी डालने वाला है। कवियों ने प्रकृति की बाह्य वस्तुओं को जिस प्रकार अपनी रचना का विषय बनाया है उसी प्रकार उन्होंने मूर्तियों, चित्रों तथा संगीत को भी अपना विषय बनाया है। इन विषयों को लेकर कवियों ने बहुत-कुछ लिखा भी है। इसी प्रकार चित्रकारों ने भी कविता को अपना विषय बनाया है। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयास किए गए हैं कि उसमें चित्रकला जैसी प्रभावोत्पादकता लाई जाय। शब्दों के सहारे कवियों ने चित्र-निर्माण की चेष्टा की है। जिस प्रकार से रंगों के व्यवहार से चित्रकार विशेष-विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है उसी प्रकार कवियों ने रंगों की तरह शब्दों का उपयोग करने का प्रयास किया है। कविता में संगीत जैसा प्रभाव उत्पन्न करने की भी चेष्टा की गई है। इतना ही नहीं, कविता में मूर्तिकला की विशेषताओं को भी लाने का प्रयास किया गया है। इस तरह से विभिन्न ललित कलाओं के बीच आदान प्रदान चलता रहा है और बहुत बार इस प्रयास में अभूतपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई है। वैसे जब यह कहा जाता है कि कविता में *मूर्तिकला या चित्रकला की विशेषताओं को लाने का प्रयास किया गया है* तो इसका अर्थ इतना ही भर है कि कविता उसी तरह का प्रभाव उत्पन्न करती है जैसा कि मूर्तिकला अथवा चित्रकला से प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कविता भी संगीत का विषय हो सकती है। नाट्य और प्रगीतों में साहित्य और संगीत का मिलन देखा जा सकता है। मूर्तियों आदि के पीछे और विशेष रूप से मध्ययुग की मूर्तिकला में साहित्य की प्रेरणा देखी जा सकती है।

इटली में ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में तथा फ्रान्स में सत्रहवीं शताब्दी में ललित कला शब्द का प्रयोग होने लगा। उस समय ललितकला का अर्थ चित्र-कला, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला था और कभी-कभी कविता और संगीत को भी उसमें अंतर्भुक्त कर लिया जाता था। वैसे ललित कलाओं को इतना अधिक सम्मान का स्थान ईसवी सन की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में ही प्राप्त हुआ। ए० जी० *बामगार्टेन* (सन् १७३५ ई०) ने पहले-पहल 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग इन ललित कलाओं के विवेचन के संदर्भ में किया। इसके बाद ही *कलाओं का एक जैसा विवेचन तथा एक कला को ध्यान में रखकर दूसरी कला* का विवेचन किया जाने लगा। वैसे अति प्राचीन काल से ही एक कला के सहारे दूसरी कला को समझने का प्रयास किया जाता था, इसका संकेत सिसेरो, होरेस

आदि की रचनाओं में मिल जाता है। सिसेरो का कहना है कि सभी मानवीय कलाएँ एक प्रकार से समाज-बंधन में ग्रथित हैं तथा वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इधर बहुत हाल (सन् १८८४-८५ ई०) में हेनरी जेम्स ने स्पष्ट शब्दों में चित्रकार और उपन्यासकार की कलाओं के सादृश्य को स्वीकार किया है। उसके अनुसार एक ही प्रेरणा से दोनों अनुप्राणित होते हैं। उसका कहना है कि दोनों एक-दूसरे से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और एक-दूसरे को समझने में सहायक हो सकते हैं। दोनों के उद्देश्यों को वह समान मानता है। उसका कहना है कि उनमें एक का सम्मान, दूसरे का सम्मान है। एरिस्टाटल ने बार-बार नाटक में चरित्र-चित्रण की शैली की तुलना चित्रकला में रेखाकृतियों के अंकन की शैली से की है। प्लेटो चित्रकला और नाटक को प्रतिच्छवि उपस्थित करने वाली कलाएँ मानता है। उसका कहना है कि चित्रकला और स्थापत्यकला में सौन्दर्य का प्रकाशन किया जा सकता है।

क्रमबद्ध और सुचिन्तित रूप से कलाओं के सम्बन्ध में पुनर्जागरण काल में आकर ही इस बात पर प्रकाश डाला जाने लगा और विश्वास किया जाने लगा कि जिन्हें हम आज ललित कलाएं कहते हैं वे आपस में एक-दूसरे के सदृश हैं। इसके पहले कि पुनर्जागरण काल की कला सम्बन्धी धारणाओं पर हम विचार करें संक्षेप में प्राचीन काल के विचारकों के मत से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है क्योंकि उनसे पुनर्जागरण काल के विचारक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। प्लेटो ने समस्त कलाओं की समानधर्मिता की चर्चा करते हुए कहा है कि वे अनुकृति के भिन्न भिन्न प्रकार (modes of imitation) हैं। अन्य विचारक भी प्लेटो के इस मत से सहमत हैं कि कला विभिन्न माध्यमों के सहारे अनुकृति है, दूसरे शब्दों में वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण करने की चेष्टा है। कलात्मक कृति का सर्जन इस प्रकार से होता है कि उससे वास्तविक 'वस्तु' का भान होने लगता है लेकिन साथ ही उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। इन विचारकों ने प्लेटो के साथ अपनी सहमति प्रकट की है कि सभी कलाकृतियों के सर्जन में उस सौन्दर्य-तत्त्व का समावेश रहता है जो सबके लिए समान रूप से सत्य है। एरिस्टाटल ने कविता और चित्रकला का तुलनात्मक अध्ययन कर यह सिद्धांत स्थिर किया कि दोनों शील निरूपण या चरित्र का प्रकाशन करने वाली हैं। उसका कहना है कि चित्र और कविता के लिए यह आवश्यक है कि वे सौन्दर्य-तत्त्व के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर चलें। दोनों ही अपने में पूर्ण हैं। दोनों ही एक जीव (organism) के सदृश हैं और उनके अंग क्रम से व्यवस्थित हैं। वे कुछ इस प्रकार के हैं कि देखने या सुनने वाला उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' में 'मिमेसिस' (अनुकृति) के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए चित्रकला नृत्यकला तथा संगीतकला का उल्लेख किया है। किसी कविता के प्लॉट (वस्तु)

को एरिस्टाटल ने चित्रकला का रेखाचित्र (Sketch) कहा है और शब्दों तथा पदों के विशेष गठन (diction) तथा अलंकारादि (imagery) को रंग कहा है। होरेस (Horace) ने अपने 'आर्स पोएटिका' (Ars Poetcia) में कहा है art pictura poesis (चित्रकला कविता के सदृश है)। होरेस की इस उक्ति का बहुत बड़ा प्रभाव पुनर्जागरण काल पर पड़ा। ईसवी सन् की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होरेस की इस उक्ति का बहुत प्रचार हुआ। ड्राइडेन ने सन् १६६५ ई० में कविता और चित्रकला के सम्बन्ध में विस्तार से अपना मत अभिव्यक्त किया है। होरेस की उक्ति को लेकर फ्रान्सीसी चित्रकार शार्ल आलफोंज द्यू फ्रेसनोआ (Charles Alphonse Du Fresnoy) की लिखी कविता का अंग्रेजी में ड्राइडेन ने अनुवाद किया। इस कविता में कहा गया है कि कविता चित्र के समान है इसलिए चित्र को कविता के अनुरूप होने का प्रयास करना चाहिए। चित्र को मूक कविता कहा गया है और कविता को बोलता हुआ चित्र। क्रोचे भी इस बात को स्वीकार नहीं करता कि भिन्न भिन्न कलाएँ भिन्न भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए हुए भावों को अभिव्यक्त करती है। अपनी 'एस्थेटिक' (सन् १९०१ ई०) में उसने बतलाया है कि ऐसा विश्वास करना एक बहुत बड़ा भ्रम है कि चित्रकार केवल चाक्षुष प्रभाव (Visual impression) उत्पन्न करता है। किसी कपोल की अरुणिमा, किसी युवा देह की उत्तप्तता, किसी फल की मिठास और ताजगी किसी चाकू की तेज धार—क्या ये ऐसे प्रभाव नहीं हैं जिन्हें हम किसी चित्र से भी ग्रहण करते हैं ?

पुनर्जागरण काल के पहले कविता को अन्य कलाओं जैसे चित्रकला, मूर्तिकला आदि से उच्च स्थान प्राप्त था लेकिन इस काल में आकर अन्य कलाओं को भी कविता के समान बौद्धिकता से समृद्ध मानने का आग्रह देखने को मिलता है। इन कलाओं को पहले हस्तशिल्प माना जाता था। चित्रकार को कारीगर मानने की प्रवृत्ति थी। चित्र को हाथ से किया जानेवाला शिल्प माना जाता था। न चित्रकला को कविता-जैसा सम्मान दिया जाता था और न चित्रकार को ही कवि के समकक्ष कोई सम्मान प्राप्त था। इटली के चित्रकारों ने इस बात पर बल देना शुरू किया कि हस्तशिल्प होने पर भी उनकी कला में बौद्धिकता का ही प्राधान्य है। उनका कहना था कि चित्रकला को गणित तथा अन्य विज्ञानों की जानकारी की अपेक्षा रहती है। उनका यह भी कहना था कि कविता की तरह चित्रकला में भी नैतिक उद्देश्य रह सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा चेहरे का चढ़ाव-उतार तथा अन्य भावभंगिमाएं दिखलाई जा सकती हैं। लियोनार्दो दा विन्ची ने मूर्तिकला को चित्रकला से इसलिए हीन बतलाया कि उसमें शारीरिक श्रम, पसीने से लथपथ होना तथा पत्थरों पर काम करते समय उनकी धूल से धूसरित होना आदि मूर्तिकार के हिस्से में पड़ता है। इन सब का सामना चित्रकार को नहीं करना पड़ता।

अपनी तूलिका और रगो को लेकर वह बड़े परिष्कृत और सहज भाव से अपना काम कर सकता है। पुनर्जागरण काल के कविता के आलोचक कविता को चित्र के निकट लाने का प्रयत्न करते थे और चित्रकला के आलोचक चित्रकला को कविता के निकट लाना अपना आदर्श मानते थे। अतएव ये आलोचक एरिस्टाटल और होरेस का हवाला देते हुए चित्रकला को भी सम्मानजनक स्थान दिलाना चाहते थे। और इसीलिए उन्होंने चित्रकला की आलोचना के लिए एरिस्टाटल आदि द्वारा निर्दिष्ट उन सिद्धान्तो को भी अपनाया जिनका उपयोग कविता की आलोचना के लिए किया जाता था। उनका कहना था कि चित्रकला को भी कविता के समान मानवीय क्रियाकलाप का अनुकरण करना चाहिए और अपने विषय का चयन प्राचीन और आधुनिक कविता से करना चाहिए। उन आलोचको की दृष्टि मे कवि के समान चित्रकार को भी मानवीय सवेगो का चित्रण करना चाहिए और उनका उद्देश्य केवल आनन्द देना ही नही होना चाहिए वल्कि उपदेश देना भी होना चाहिए। इसका फल यह हुआ कि चित्रकला बौद्धिकता की ओर उन्मुख हुई और चाक्षुष कला होने की अपनी विशेषता की ओर वह उदासीन-सी हो गई। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनो मे यह प्रवृत्ति चरम तक पहुँच गई थी।

पुनर्जागरण काल मे यह स्वीकार किया जाता था कि कविता एक अनुकृति है, एक चित्र है। लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा जाता था कि यह अनुकृति मनुष्य के क्रियाकलाप की होती है। अतएव कविता बहुत दूर तक वर्णनात्मक नही हो पाई और न शब्द-चित्रो (Word painting) का ही उसमे बाहुल्य हो पाया। लेकिन जब मानवीय क्रियाकलाप को दृष्टि मे रखने की प्रवृत्ति क्षीण हो गई और बाह्य प्रकृति मे अधिक रुचि ली जाने लगी तब ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे कवियो का एक ऐसा समुदाय आविर्भूत हुआ जो प्रकृति तथा अन्य बाह्य वस्तुओ को ही अधिक प्रधानता देने लगा। इन कवियो ने अधिकाश वर्णनात्मक शैली को ही अपनाया। इन कवियो ने अपनी इस शैली और रुचि का समर्थन होरेस की उक्ति से ही किया जिसका सकेत ऊपर किया गया है कि कविता एक चित्र है। कवियो के इस समुदाय का प्राधान्य जर्मनी मे ही था। लेसिंग ने अपने ग्रन्थ 'लाओकून' (सन् १७६६ ई०) मे इस प्रवृत्ति मे सुधार लाने के लिए फिर से एरिस्टाटल के मानवीय दृष्टिकोण पर बल दिया और फिर से कविता और चित्रकला की अपनी-अपनी सीमाओ और उनके अलग-अलग विशिष्ट क्षेत्रो की बात दुहराई। कविता का क्षेत्र मानवीय क्रियाकलाप कहकर उसने फिर से एरिस्टाटल के काव्य-सबधी सिद्धान्तो की ओर ध्यान आकृष्ट किया। लेसिंग का मत था कि कविता वर्णनात्मक नहीं है वल्कि वह मानवीय सवेगो और क्रियाकलाप को अभिव्यक्ति देती है। चित्रकला को यह वर्णनात्मक

मानता है। यही कारण है कि अपने 'लाओकून' में लेसिंग ने चित्रकला के चाक्षुष कला होने की बात पर ही बल दिया। उसने यह स्पष्ट करना चाहा कि चित्रकला का कार्य अपने को 'स्थान' (space) तक ही सीमित रखकर ब्योरों का चित्रण करना है और उसका प्रधान कार्य मानवीय क्रियाकलाप और संवेगों का चित्रण नहीं माना जाना चाहिए।

होरेस की इस उक्ति को कि 'जैसी चित्रकला है वैसी ही काव्य-कला है,' सन् ईसवी की सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक के कविता और संगीत के आलोचकों ने बहुत प्रधानता दी। होरेस की इस उक्ति के पीछे होरेस का यह विचार काम कर रहा था कि चित्रकला के समान ही कविता का विवेचन भी एक व्यापक दृष्टि की अपेक्षा रखता है और जिस प्रकार से चित्र को दूर से देखने पर ही आनन्द उठाया जा सकता है उसी प्रकार कविता की प्रभाव-वादी शैली का भी दूर से देखने पर ही आनन्द उठाया जा सकता है। इसी तरह चित्र के समान कविता में भी ब्योरा रहता है और उसकी निकट से परीक्षा करने की आवश्यकता होती है अर्थात् दोनों में समान रूप से प्रभाववादी शैली और ब्योरा वर्तमान हैं और दोनों पर समान रूप से विचार किया जाना चाहिए। पुनर्जागरण काल में होरेस की उक्ति के उसी अंश पर अधिक बल दिया जाने लगा जिसमें कविता और चित्रकला की समानता को प्रधानता दी गई है। कहा गया है कि कवि भी एक चित्रकार ही है जो बाह्य जगत् को उसी प्रकार चित्रित करता है जिस प्रकार चित्रकार अपने फलक पर करता है। और चित्रकार की विशेषता इस बात में मानी गई है कि कवि के समान वह मानव-संवेगों को चित्रित कर सके तथा जिन विषयों को कवि अपनी रचना के लिए चुनता है उसी प्रकार चित्रकार भी उन्हीं विषयों को ले तथा कवि के समान नई-नई कल्पनाओं को वह रूपायित कर सके।

साहित्य के आलोचकों ने होरेस के इस कथन का उपयोग एरिस्टाटल के आदर्श अनुकरण के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर किया। कवि को इन आलोचकों ने इसलिये चित्रकार कहा कि वे विशिष्ट अनुकरण के द्वारा सचमुच का सादृश्य चित्रित करने में समर्थ होते हैं। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में एरिस्टाटल के अनु-करण के सिद्धान्त को हू-ब-हू अनुकरण न कहकर आदर्श अनुकरण कहा गया, तब होरेस के उपर्युक्त कथन की आलोचकों ने अन्य प्रकार से व्याख्या की। उन्होंने कला के रूपात्मक तत्त्व को प्राधान्य देना शुरू किया और संवेग तथा स्वतः स्फूर्तता (spontaniety) को अपनी दृष्टि से ओझल कर दिया। इस प्रकार से आलोचकों ने कविता और चित्रकला के रूपात्मक (formal) सादृश्य को ढूँढ निकालने का प्रयास किया और दोनों विशिष्टताओं को दृष्टि से ओझल रख उन्हें एक जैसा कहने पर बल दिया। यह सोचने का ढंग एक प्रकार से

भ्रान्तिपूर्ण था। उनका कहना था कि कवि जब अपने विषय को चुनता है तब वह चित्रकार की तरह उसका जैसे रेखांकन (sketch) करता है। कवि के व्यवहृत शब्दों, पदों, वाक्यांशों को ये आलोचक काव्यात्मक रंग (poetical colours) कहने लगे। चित्रकार जिस प्रकार अपने फलक पर तूलिका से रंगों का प्रयोग करता है उसी प्रकार इन आलोचकों की दृष्टि में कवि शब्दों, पदों आदि का प्रयोग करता है। इस प्रकार से काव्यात्मक पदयोजना (poetic diction) की बात कही जाने लगी। बैबिट का कहना है कि काव्यात्मक पदयोजना के उद्भव के मूल में एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसके कारण काव्य-भाषा को वैयक्तिक संवेग से अलग समझा जाता है और यह समझा जाता है कि वैयक्तिक संवेग एक ऐसी वस्तु है जिसे शब्दों से निर्मित किया गया है। लेसिंग ने अपनी 'लाओकून' में तथा इर्विङ्ग बैबिट ने अपनी 'न्यू लाओकून' में इन कला विधाओं के गड्डमड्ड को उचित नहीं माना।

चित्रकला और मूर्तिकला के प्रभाव को बहुत दूर तक कविता में उतारने में सफलता प्राप्त हुई है। लेकिन संगीत का प्रभाव कविता में उतारना कठिन है यद्यपि साधारणतः लोगों के मन में यह धारणा बनी हुई है कि कविता को संगीतात्मक बनाया जा सकता है। आज कविता और संगीत का जो अन्तर किया जाता है उसका प्रारम्भ ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में यन्त्र-संगीत के विशिष्टतापूर्ण विकास से शुरू हो गया था। लेकिन विचित्र बात यह है कि इसी काल में संगीत और कविता को एक करने का भी प्रयास आरम्भ हो गया था। सत्रहवीं शताब्दी में भी यह प्रयास निरन्तर चलता रहा और इस प्रयास को प्रोत्साहन और बल मिलता रहा। संवेगों के अनुकरण की आकांक्षा ने इसे और भी शक्तिशाली बनाया। सोलहवीं शताब्दी में तथा सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह समझा जाता रहा कि संगीत को कविता के बौद्धिक और अनुकरणात्मक उद्देश्यों के उच्च आदर्श को उपलब्ध करना है। उस समय यह समझा गया कि कविता में अगर लय (melody) का योग कर दिया जाय तो वह संगीत हो जाएगी। लेकिन कविता की संगीतात्मकता और संगीत की लय बिलकुल ही भिन्न वस्तुएँ हैं।

कविता में संगीत का प्रभाव लाने के लिये कवियों ने कविता में 'अर्थतत्त्व' को अवदमित कर रखने का प्रयास किया है। इसके लिये कविता में तर्कमूलक संरचना (structure) से भी बचने की प्रचेष्टा हुई है। निर्देशात्मकता के बदले सांकेतिकता (connotation) को अपनाया गया है। लेकिन तर्कमूलकता का अभाव, अर्थतत्त्व की क्षीणता, गठन का धुंधलापन वास्तव में संगीतात्मकता नहीं है। संगीत और सचमुच की महान् कविता के बीच वास्तव में किसी प्रकार का संबंध है, यह कहना कठिन है। अत्यन्त गठी हुई कविता को संगीत में

उतारना संभव नहीं। अगर किसी कविता को संगीत में उतारा गया हो तो संगीत की दृष्टि से भले ही अपने आप में उसका महत्त्व हो लेकिन कविता की दृष्टि से उसका मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि संगीत में उतारते समय उसमें बहुत सी विकृतियाँ आ जाती हैं, उसकी संरचना (structure) ही जैसे लुप्तप्राय हो जाती है। महान् कविता संगीत की ओर उन्मुख नहीं होती और उत्कृष्ट संगीत को शब्दों के अवलम्ब की आवश्यकता नहीं रहती। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह बात नहीं रही अर्थात् जहाँ कविता को प्रमुख स्थान प्राप्त था वहाँ अब संगीत को ही प्रमुखता मिली। कविता अब संगीत के लिये आदर्श नहीं रह गई बल्कि संगीत ही उसके लिए आदर्श बन गया। इस प्रकार से इस काल में आकर कविता और संगीत का सम्बन्ध पहले से विपरीत हो गया। अब संगीत की विशेषताओं को ध्यान में रखकर कविता लिखी जाने लगी। ड्राइडेन ने *'आलबियन एण्ड आलबेनियस'* की भूमिका (सन् १६८५ ई०) में कहा है कि कविता को हमारे बोध (understanding) को संतुष्ट करने की अपेक्षा श्रुतिमधुर होना चाहिए।

कलाओं का अध्ययन करते समय एक बात अवश्य ध्यान में आती है कि उन सभी की एक ही सांस्कृतिक और सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि है। इस दृष्टि से कलाओं में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है। कलाएँ और साहित्य एक ही संस्कृति के अंग हैं और भिन्न भिन्न माध्यम से लोकरुचि के ऐक्य का निर्देश करते हैं। बहुत से अध्येताओं ने साहित्य और कलाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इन अध्ययनों के फलस्वरूप यह समझा जाने लगा है कि किसी जाति या सभ्यता के कलात्मक जीवन तथा उसके विचारों और भावों का प्रकाशन उस जाति के साहित्य में होता है। जाति के कलात्मक जीवन और विचारों के उत्तरोत्तर विकास का माध्यम साहित्य है। इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि किसी जाति का साहित्य कलाओं के लिए उपादान जुटाता है। अतएव साहित्य का अध्ययन उस जाति की कलाओं को समझने तथा उनके स्वरूप को पहचानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। साहित्य अपनी उर्वर कल्पना शक्ति से नई उद्भावनाएँ करने में समर्थ होता है और कलाएँ चाक्षुष प्रत्यक्ष कराने में सहायक होती हैं।

लेकिन रेने वेलेक इस मत से सहमत नहीं हैं। उसका कहना है कि जब यह कहा जाता है कि एक काल और देश में विभिन्न कलाएँ एक ही प्रकार की अनुप्रेरणा से सर्जन में संलग्न होती हैं तो इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला दिया जाता है कि कलाएँ एक ही समय में एक ही गति से विकसित नहीं हुई हैं। कभी साहित्य अन्य कलाओं से पिछड़ा हुआ दिखता है और कभी साहित्य से अन्य कलाएँ पिछड़ी दिखती हैं। साहित्य और कलाओं के इतिहास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मध्ययुग में इंग्लैंड में जो गॉथिक कैथिड्रल (धर्मपीठ, चर्च)

बने उनकी उत्कृष्टता और बारीकियों को देखें और फिर उस काल के अंग्रेजी के रचनात्मक साहित्य को देखें तो पाएँगे कि तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य बहुत पिछड़ा हुआ है। इसी प्रकार एलिजबेथ-काल के अंग्रेजी साहित्य की तुलना में तत्कालीन अन्य कलाओं को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।

एक ही देश में विभिन्न कालों में रुचि-परिवर्तन के कारण कलाकृतियों के रूप में भिन्नता आ जाती है। ऐसा भी होता है कि एक ही स्थान तथा एक ही काल में किसी विशेष कला के क्षेत्र में भिन्न भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्ग की रुचि भिन्न होती है और कलाकार उन रुचियों को ध्यान में रखकर सर्जन करता है। रुचि भिन्नता के कारण कलाकृतियों में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि किसी देश की एक काल और एक स्थान की कलाकृतियों में समानता होती है। यह भिन्नता केवल भिन्न-भिन्न समाज के रुचि भेद के ही कारण नहीं होती बल्कि बौद्धिक धरातल के कारण भी आ जाती है। यह गलत होगा कि किसी काल के चित्रों का अध्ययन उस काल में प्रचलित दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से करें।

सभी ललित कलाओं तथा साहित्य का अलग-अलग ढंग से एक ही काल में विकास हुआ है। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध बना रहना स्वाभाविक ही है लेकिन प्रभावों के रूप में इस सम्बन्ध को देखना ठीक नहीं होता। यह समझना गलत होगा कि एक विशेष काल से किसी कला का विकास का प्रारम्भ हुआ और उसी के अनुरूप अन्य कलाओं का विकास हुआ। कलाओं के विकास में उनका पारस्परिक प्रभाव बना रहता है। युग की प्रवृत्ति सभी कलाओं में समान रूप से क्रियाशील रहती है, ऐसी धारणा का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों से नहीं होता।

ललित कलाओं के माध्यम

स्थापत्यकला (Architecture) का माध्यम ईंट, पत्थर, लकड़ी, धातु आदि है। ये स्थूलतम हैं। इन उपकरणों के सहारे स्थापत्यकला अपने आपको अभिव्यक्त करती है। वास्तव में कारीगर इनके द्वारा अपने मानसिक चित्र को ही उपस्थित करता है। इन उपकरणों द्वारा निर्मित 'वस्तु' (प्रासाद, मंदिर आदि) अपने आपमें 'वास्तव' है जिसे आँखों द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है। फिर भी वह कारीगर की मानसिक 'वास्तविकता' को भी प्रकट करती है क्योंकि प्रासाद, मंदिर आदि के चित्र उसके मन के भीतर हैं जिन्हें वह उन उपकरणों के सहारे प्रकाशित करता है।

स्थापत्यकला में कारीगर को किसी ऐसे कौशल का उपयोग नहीं करना पड़ता जिससे उसकी निर्मित 'वस्तु' दर्शक के मन तक पहुँचाई जा सके क्योंकि अपने आप में वह ऐसी है जो आँखों से प्रत्यक्ष की जा सकती है और मन तक पहुँच सकती है। अन्य बाह्य वस्तुओं के समान ही वह भी अपने रूप, गठन, रंग आदि को लेकर हमारे सामने आती है। उसमें गति का चित्रण नहीं होता।

मूर्तिकला (sculpture) में पत्थर, लकड़ी, धातुओं आदि का उपयोग किया जाता है। इन्हें काट-छाँटकर नाना प्रकार के रूपों की सृष्टि की जाती है। उसमें जीवधारी या निर्जीव सभी प्रकार के पदार्थों को प्रस्तुत किया जाता है। प्रकृत वस्तु को अपनी कला द्वारा प्रत्यक्ष कराने में मूर्तिकार सफल हो सकता है। प्रकृत वस्तु को अपनी कला द्वारा प्रत्यक्ष कराने की सभी सुविधाएं कलाकार को प्राप्त हैं। मूर्तिकार जिन उपकरणों का सहारा लेता है उनमें रूप, घनत्व आदि सभी तत्त्व वर्तमान है। चाहे तो वह रंग का भी उपयोग कर सकता है। लेकिन 'गति' (movement) को प्रस्तुत करने में वह असमर्थ है। बाह्य वास्तविकता को मूर्तिकार बड़े मजे में प्रस्तुत कर सकता है लेकिन 'गति' को प्रस्तुत करने की उसकी असमर्थता के कारण उसके द्वारा प्रस्तुत की हुई मूर्तियां (figures), चाहे अलग-अलग बनाई हुई हों अथवा समूह में हों, स्थिर और शान्त मुद्रा में ही पाई जाती हैं। उन आकृतियों को अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में ही प्रस्तुत करना पड़ता है क्योंकि वस्त्राभूषणों की सलवटें आदि प्रस्तुत करना

कठिन है। अतएव सुन्दर से सुन्दर मूर्तियां नग्न रूप में ही पाई गई हैं। मूर्तिकार उन पत्थर या धातु की मूर्तियों में स्थिर मानव शरीर के स्थिर या शान्त सौन्दर्य को शान्त मुद्रा में प्रदर्शित करता है। स्थितिशील शारीरिक सौन्दर्य मूर्तिकला का मुख्य विषय है (Physical beauty in repose is the special subject of the art of sculpture)।

मूर्तिकला में स्थापत्यकला की अपेक्षा 'वस्तु' की वास्तविकता को प्रदर्शित करने की क्षमता अधिक है, क्योंकि मूर्तिकार पत्थर या धातु की मूर्तियों में जीवन का भान कराने की चेष्टा करता है और उसमें पूर्णता के साथ प्रदर्शित करता है।

चित्रकला अपने आपको फलक के माध्यम से प्रकाश करती है। बाह्य वस्तुओं को लकीरों तथा रंगों के द्वारा इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि वे प्रकृत वस्तुओं जैसी दिखती हैं। मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को उन वस्तुओं के चित्रण में अधिक कौशल की जरूरत पड़ती है क्योंकि उसके माध्यम की प्रकृति मूर्तिकार के माध्यम की प्रकृति से भिन्न है। रंगों और रेखाओं के सहारे उसे ठोस वस्तुओं की स्थिति, वातावरण, रंग आदि को अंकित करना पड़ता है। इस प्रकार से रेखाओं और रंगों के सहारे वह जहाँ किसी प्राकृतिक दृश्य को चित्रित करता है वहाँ घर के भीतरी भाग को दिखलाने में भी समर्थ होता है। स्थापत्य और मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला में वस्तुएं कलाकार की दृष्टिभंगी को अधिक व्यक्त करती हैं, चाहे वह किसी ऐतिहासिक घटना का चित्रण करता हो, चाहे किसी प्राकृतिक दृश्य का। उनके बाहरी रूप-रंग को दिखाकर ही वह सन्तोष नहीं कर लेता बल्कि उनके संबंध में उसका दृष्टिकोण क्या है उसे भी वह प्रदर्शित करता है। इस प्रकार से चित्रकार केवल अनुकरण या नकल नहीं करता बल्कि वह व्याख्या भी करता है। केवल इन्द्रियग्राह्य होकर ही चित्रकार की कला हमारे लिये आस्वाद्य नहीं होती बल्कि वह हमारे मन और हृदय को भी स्पर्श करती है।

संगीत का माध्यम ध्वनि है। यह स्वर या ध्वनि मनुष्य के गले से उत्पन्न हो सकती है अथवा यंत्र से। ताल और सुर को ठीक रखते हुए इन विभिन्न ध्वनियों का समाहार संगीत में होता है। वैसे गीतों में कविता का भी संयोग हो जाता है लेकिन संगीत के लिए कविता से अधिक ताल-सुर वाली ध्वनि ही महत्त्व की है। संगीत में ध्वनियों पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है भले ही अर्थ की दृष्टि से उसका कोई विशेष तात्पर्य हो। भाषा के लिए संगीत के समान विविध ध्वनियों पर नियन्त्रण रखना संभव नहीं है। संगीत में एक साथ ही बहुत-सी ध्वनियों में सामंजस्य साधन संभव है। कंठ-संगीत में साहित्य और संगीत का मेल होता है। संगीत अत्यन्त व्यापक रूप से प्रभावित करने वाली वस्तु है। हृदय को छूकर नाना प्रकार से यह मन में भाव उत्पन्न करता है। चाहे विद्वान् हो या

गूगें, बूढा हो या बच्चा, सगीत सभी को प्रभावित करता है। ध्वनि की सीमा के भीतर जितना सभव है उतना सगीत वास्तव का ज्ञान करा सकता है।

सगीत और साहित्य को कान से सुनी जाने वाली कलाए कहा जा सकता है। ये काल-सापेक्ष हैं। ये काल की क्रमबद्धता पर आधारित हैं। इन दोनों का विकास और विस्तार काल में होता है। इस दृष्टि से ये दोनों उन कलाओं से भिन्न हो जाती हैं जिनका विकास और विस्तार स्थान (space) में होता है। स्थान-सापेक्ष कलाएं वे सभी कलाएं हैं जिनका आस्वादन आंखो से किया जाता है, जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला तथा अन्य इसी प्रकार की कलाएँ। ये सभी कलाएँ स्थान की क्रमबद्धता पर आधारित हैं। साहित्य और सगीत में काल की क्रमबद्धता पर आधारित होने के कारण एक प्रकार का साम्य है। लेकिन इस साम्य के रहते हुए भी दोनो मे इस बात में वैषम्य है कि सगीत की ध्वनि, सुर, लय, ताल आदि अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण हैं। उनकी उपलब्धि ही सगीत का उद्देश्य है। साहित्य में शब्दो का प्रयोग होता है और शब्दो की ध्वनियो का अर्थ शब्दो तक ही सीमित नही रहता। उनका अर्थ उनसे परे चला जाता है। सगीत और साहित्य मे जहाँ एक ओर पुनरावृत्ति और परिवर्तन पर ध्यान रखा जाता है वहाँ सन्तुलन और वैषम्य पर भी ध्यान रखा जाता है।

फ्रेंच समालोचक विक्तर कुर्जे (Victor Cousin) ने सगीत की सीमा की चर्चा करते हुए कहा कि सगीतज्ञ आंधी और बिजली और बादल के गर्जन को भली-भाँति ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। लेकिन बिजली की कौंध अथवा समुद्र की लहरो के उत्थान-पतन को सुर में बांधकर सुननेवालो तक वह कैसे पहुँचा सकता है? अगर सुननेवालो से पहले ही यह कह नही दिया जाय तो उसके लिए यह असभव है कि सगीत को सुनकर वह बतला दे कि वह आवाज युद्ध की है या आँधी की। सगीत चाहे जितनी ही पूर्णता को क्यो न प्राप्त कर ले वह रूप को नही अभिव्यक्त कर सकता। लेकिन आँधी के समय के हृदय में उठने वाले भावो को बखूबी व्यक्त कर सकता है। सगीत हृदय को छू लेता है, उसे अभिभूत कर देता है। इस दृष्टि से वह चित्रकला से आगे बढ जाता है।

कविता जिस माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है वह सूक्ष्मतम है। शब्द-सकेतो द्वारा मस्तिष्क तक यह अपना अर्थ पहुँचाती है। वैसे छन्द, तुक, अनुप्रासादि मे सगीतात्मक ध्वनि रहती है। अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए जिस कौशल का इसे सहारा लेना पडता है उसकी तुलना अन्य कलाओ मे प्रयुक्त कौशल से अत्यन्त भिन्न है। पढनेवाला या सुननेवाला सहज भाव से शब्दो को पढ या सुन सकता है। लेकिन इन शब्दो द्वारा जीवन या प्रकृति सबधी जो भाव-चित्र मस्तिष्क तक पहुँचते हैं वही महत्त्व के हैं। ये सीधे मस्तिष्क तक पहुँच जाते हैं। कल्पना को क्रियाशील बनाने की जितनी क्षमता भाषा मे है

उतनी अन्य किसी माध्यम मे नही। विभिन्न कलाओ की विवेचना से हम देखते हैं कि सभी कलाओं की अपनी एक सीमा और मर्यादा हैं जिनके बाहर वे नही जा सकती। उन कलाओ की प्रकृति और वे माध्यम जिनके द्वारा वे अपने आपको अभिव्यक्त करती हैं ऐसे हैं जो सीमा निर्धारित करते है अर्थात् माध्यमों की भिन्न-भिन्न प्रकृति के कारण भिन्न-भिन्न कलाओं की अभिव्यक्ति परिसीमित हो जाती हैं। लेकिन यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि कलाओ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'माध्यमो' का स्थान महत्त्व का तो अवश्य है लेकिन और भी कई बातें ऐसी हैं जो कम महत्त्व नहीं रखती। कलाकार जब अपने व्यक्तित्व को रूप देना चाहता है तब कलात्मक कृति का केवल 'माध्यम' (medium) ही उसके रास्ते मे बाधा बनकर नही आता बल्कि उस 'माध्यम' के पीछे एक परम्परा होती है जो उस व्यक्ति-कलाकार की दृष्टिभगी और अभिव्यक्ति को प्रभावित करती है और एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख करती है। इस प्रकार से कलाकार को माध्यमगत वैशिष्ट्य को ध्यान मे रखकर तकनीकी बाधाओ को दूर करने के लिए एक कौशल अपनाना पडता है। उसी प्रकार सब समय उसे इस बात से भी सावधान रहना पडता है कि माध्यम की परम्परागत विशेषताओ से वह अन्यथा प्रभावित न हो जाए। कलाकार एक विशिष्ट ढग से मूर्त रूप मे ही भाव ग्रहण करता है। वह हवा मे, अमूर्त रूप मे भाव नही ग्रहण करता। मूर्त रूप मे जिस 'माध्यम' का वह सहारा लेता है उस 'माध्यम' का अपना एक इतिहास होता है और सामान्यत अन्य जो 'माध्यम' हैं उनके इतिहास मे वह सपूर्ण भिन्न होता है।

लेसिंग के कला-सम्बन्धी सिद्धान्त

लेसिंग जर्मनी का एक सुप्रसिद्ध आलोचक था। उसने ललित कलाओं का गहरा अध्ययन कर कला-सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर किया था जो अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है। विभिन्न कलाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसने बतलाया है कि उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं तथा उनकी अपनी-अपनी मर्यादा और सीमाएं हैं। लेसिंग का कहना है कि उनकी सीमाएँ निश्चित हैं और उनके बाहर वे नहीं जा सकतीं। लेसिंग, एरिस्टाटल का भक्त था लेकिन अन्धभक्त नहीं। सन् १७६६ ई० में उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाओकून' (Laocoon) प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के समय जर्मन विचारकों ने कला और साहित्य के सम्बन्ध में नये सिरे से विचार करना शुरू कर दिया था। उनकी दृष्टि में सभी कलाएँ एक समान सत्य की अभिव्यक्ति में लगी हुई प्रतीत हुईं। सब प्रकार से वे कलात्मक सृष्टि को स्वतन्त्र देखना चाहते थे। उन्हें इस बात की परवाह नहीं थी कि उसका सौन्दर्य नष्ट होता है या नहीं।

अपने ग्रन्थ 'लाओकून' में लेसिंग विभिन्न कलाओं को लेकर उनकी परीक्षा करता है। कला सम्बन्धी अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए उसने एक ऐसा विषय चुना जिसके आधार पर मूर्ति बनाई गई थी और कविता भी लिखी गई थी। 'लाओकून' में इसी पर विचार किया गया है। लाओकून एक पुजारी का नाम था। उसने कोई ऐसा अपराध किया था कि देवतागण उससे अप्रसन्न थे। उसके अपराध के लिए वे उसे दण्ड देना चाहते थे। वह एक दिन समुद्र के किनारे पोज़िडन (Poseidon) की पूजा में लगा हुआ था। उसका प्रभु भी वहीं था। समुद्र घोर गर्जन कर रहा था और फूत्कार करती हुई समुद्र की लहरें एक पर एक टूट रही थीं। अकस्मात् दो भयानक विषधर सर्प फूत्कार करते हुए समुद्र से निकले और लाओकून तथा उसके बच्चों को जकड़ लिया। लाओकून उनसे पाश से मुक्त होने की प्राणपण चेष्टा करता है और भय तथा कष्ट से पीड़ित होकर चीत्कार कर उठता है।

इसी को आधार मानकर मूर्ति गढ़ी गई है। पुरातत्त्वविद् इसके निर्माण का काल ईसापूर्व ५० मानते हैं। यह मूर्ति रोम में वैटिकन सिटी में है। कहा जाता

है कि यह मूर्ति छ प्रस्तर-खण्डो से निर्मित हुई है। यह भी कहा जाता है कि इस मूर्ति का निर्माण तीन मूर्तिकारो ने किया था, जिनके नाम एथेनोडोरस, पोलिडोरस तथा एगेसैन्डर बताए जाते हैं। इस मूर्ति मे लाओकून का मुह आधा खुला हुआ दिखलाया गया है। एक दबी हुई आह के सिवा और कुछ भी उसके मुँह से नही निकलता। विन्कलमान (Winckelmann) इस मूर्ति का वर्णन करते हुए लिखता है कि लाओकून के मुँह से जो दबी-सी आह निकलती है वह शारीरिक यन्त्रणा से भयकर कष्ट पाते हुए एक व्यक्ति की वीरोचित आत्मा की भव्यता को प्रकट करती है। दूसरी ओर वर्जिल ने अपने काव्य-ग्रन्थ इनिड (Aened) मे इसी का वर्णन किया है कि किस प्रकार से साँप उसकी कमर के चारो तरफ लिपट गए तथा उसकी गर्दन को परिवेष्ठित कर लिया तथा फन फैलाए आकाश की ओर तने खडे रहे। सर्पों के आवेष्टन से अपने को मुक्त करने के लिए वह जिस तरह से अपनी भुजाओ के सहारे उन्हे दूर करना चाहता है, उसे जो भीषण यन्त्रणा होती है उससे वह केवल कराह ही नही उठता, केवल उसके मुँह से दबी-सी आह ही नही निकलती बल्कि वह जोरो से चीत्कार कर उठता है और उस भय और पीडा मिश्रित चीत्कार से समस्त वायुमण्डल भर उठता है।

लेसिंग ने वर्जिल की कविता और उस मूर्ति को लेकर विचार किया है। उसने इस सम्बन्ध म कई प्रश्न उठाए हैं। उसका कहना है कि दोनो म इस प्रकार का अन्तर क्यो है? मूर्तिकार ने जो आत्मा की भव्यता देखी है वह क्या उससे भिन्न है जो कवि ने देखी है अथवा दोनो की कलाओ की प्रकृति ही ऐसी है जिससे मूर्तिकार बाध्य होकर एक वस्तु को प्रदर्शित करता है और कवि अन्य वस्तु को?

मूर्ति का अधखुला मुँह दबी हुई आह को ही प्रकट कर रहा है, उससे चीत्कार नहीं प्रकट हो रहा है। वास्तव मे लाओकून की उस पीडा को मूर्ति और काव्य मे दो रूपो मे अभिव्यक्त किया गया है। मूर्तिकार के लिए चीत्कार को प्रदर्शित करना कठिन है जो कवि के लिए अत्यन्त सहज है। कहा जा सकता है कि मूर्तिकार ने जो कुछ देखा और जो कुछ उसके हृदय मे प्रतिक्रिया हुई वह कवि के देखने और उसकी प्रतिक्रिया से भिन्न थी अतएव दोनों की अभिव्यक्तियां भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन जहाँ तक बाह्य अभिव्यक्ति का प्रश्न है दोनो को भिन्न होना ही था क्योंकि काव्य मे अभिव्यक्ति का जो प्रकार है वह चित्र या मूर्ति म नहीं हो सकता है। अभिव्यक्ति के कुछ विशेष प्रकार के बोझ को ही कविता सहन करती है या कर सकती है तथा चित्रकला और मूर्तिकला अभिव्यक्ति के कुछ अन्य प्रकार के बोझ को सहन करती है या कर सकती है। अतएव दूसरे शब्दो म अगर कहा जाए तो कह सकते हैं कि कविता बोलता चित्र नही है और न चित्र मूक कविता है।

लेसिंग का कहना है कि कलाकृति का सर्जन एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करने

की दृष्टि से ही होना है। उसके लिए प्रभावोत्पादकता ही महत्त्व की वस्तु है। अगर मूर्तिकार या चित्रकार अभीप्सित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सका तो उसकी कला अर्थहीन हो जाएगी। कलाकृति का उद्देश्य एक प्रभाव उत्पन्न करना है। चित्र का निर्माण आँखों से देखने के लिए होता है और कविता की रचना पढने के लिए होती है। हमारे ऊपर कलाकृतियां जैसा प्रभाव डालती हैं उसी के आधार पर हम उनकी उत्कृष्टता आदि के सम्बन्ध में अपनी राय कायम करते हैं। कलाकार इसी प्रभाव को उत्पन्न करने का प्रयास करता है।

वास्तव मे चित्र या मूर्ति मे कलाकार 'सुन्दर' को छोड़ नही सकता। ग्रीक कलाकारों ने ठोस और बाह्य सुन्दरता को अत्यन्त महत्त्व दिया है। सौन्दर्य को वे कला का प्राण मानते है। वे ऐसी मनोदशा का चित्रण नही करना चाहते जिससे कि चित्र या मूर्ति को अधिक विकृत कर देना पड़े। भावनाओं को चित्रित करने के लिए रूप को विकृत करना पड सकता है वैसी हालत मे चित्र या मूर्ति वीभत्स होकर दर्शक के सामने आएगी और उससे आनन्द पाना तो दूर, दर्शक के मन में विरक्ति ही उत्पन्न होगी। अब अगर इस बात की कल्पना करें कि मूर्तिकार लाओकून के चीत्कार को अंकित करने की चेष्टा करता तो उसे उसके मुँह को अच्छी तरह खोलकर दिखलाना पडता। चित्र मे वह एक धब्बे के जैसा मालूम होता और मूर्ति मे एक गर्त्त की तरह। इस प्रकार से चित्र या मूर्ति मे वातावरण को गुंजायमान करने वाले चीत्कार को अगर दिखलाया जाता तो उससे सुन्दरता नर्वित होती। यही कारण है कि मूर्तिकार ने अधखुले मुँह से एक छोटी-सी आह को ही प्रदर्शित किया है। मूर्तिकला की सीमा को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया गया है। लेकिन कवि के लिए यह कठिनाई नही थी इसलिए उसने विस्तार से उसका वर्णन किया है।

लेसिंग का कहना है कविता और चित्रकला मे मौलिक अन्तर है। दोनो कलाओ (कविता और चित्रकला) मे प्रकृतिगत भिन्नता है। यह अन्तर काल (time) के माध्यम और स्थान (space) के माध्यम का अन्तर है। चित्रकला वस्तुओं का निर्देश किसी विशेष क्षण मे उनकी पारस्परिक स्थिति की दृष्टि से करती है। इस प्रकार से उसमें वस्तु का निर्देश स्थितिशीलता की दृष्टि से होता है। उसमे काल का नैरतर्य नही रहता। काव्यकला में स्थान (space) के बदले काल (time) का नैरंतर्य विशिष्ट भाव से परिलक्षित होता है। स्थानमूलक माध्यम (a medium of space) सीधे और स्पष्टता के साथ शरीरधारी वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करा सकने मे समर्थ होता है लेकिन उन वस्तुओं की प्रतिच्छवि (image) के सहारे वह उन वस्तुओं की क्रियाशीलता को अप्रत्यक्ष रूप (indirectly) मे ही उपस्थित कर सकता है। कालमूलक माध्यम (a medium of time) क्रियाशीलता को सीधे और स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष कराने मे

समर्थ है लेकिन जहाँ तक वस्तुओं के चित्रण का प्रश्न है वह क्रियाशीलता के सहारे अप्रत्यक्ष रूप से ही कर सकता है। कविता को वस्तुओं का चित्रण नहीं करना है बल्कि क्रिया में रत उन (वस्तुओं) का चित्रण करना है।

काव्य के विषय इस प्रकार के होते हैं जिनके अंश या जिनकी पूर्णता एक क्षण के बाद दूसरे क्षणों से सम्बन्धित रहती है। क्रियाशीलता, प्रगति तथा नैरंतर्य काव्य का क्षेत्र है। कार्य-व्यापार की भिन्न भिन्न प्रक्रियाएं एक क्षण से दूसरे क्षण में घटित हो रही हैं। इस गतिशीलता का चित्रण काव्य की अपनी विशेषता है। काव्य गत्यात्मकता का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें क्षणिक रूप में एक के बाद एक प्रतीकों का व्यवहार होता है। लेकिन चित्रकला में स्थान (space) तथा स्थिति शीलता ही मुख्य हैं। चित्रकला की वैशिष्ट्य पार्श्वता, सान्निध्य (Juxtaposition) है, गतिशीलता नहीं। जहाँ तक शारीरिक सौन्दर्य और प्राकृतिक दृश्य के चित्रण का प्रश्न है काव्यकला, चित्रकला की बराबरी नहीं कर सकती लेकिन जहाँ तक मानव मस्तिष्क की गतिशीलता के चित्रण का प्रश्न है काव्यकला अधिक उपयुक्त है। अतएव लेसिंग का कहना है कि चित्र में जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जा रहा हो वह स्थानगत (Spatial) है और काव्य में जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जा रहा हो वह कालगत है। चित्रकला में जिन प्रतीकों का व्यवहार किया जाता है वे स्थानगत हैं।

लेसिंग का कहना है कि शब्द एक के बाद एक कालगत अनुक्रम से आते हैं और काल का यह व्यवधान कविता के वर्णनात्मक होने में बाधा पहुँचाता है। कविता में शब्दों द्वारा जो चित्र उपस्थित होते हैं वे काल के इस व्यवधान के कारण चित्र को उसकी समग्रता में अस्पष्ट और धुंधला बना देते हैं। चित्रकार के लिए इस व्यवधान का प्रश्न नहीं उठता। स्थान-सापेक्ष होने के कारण चित्रकला में एक साथ ही, एक ही क्षण में ब्योरों को देखा जा सकता है और उसका आस्वादन किया जा सकता है। उन ब्योरों का कालगत सहअस्तित्व यह संभव कर देता है कि एक ही क्षण में किसी संग्रथित प्रतिच्छवि (composite image) को हम प्रत्यक्ष कर पाते हैं। कविता में शब्दों के द्वारा जो प्रतिच्छवि निर्मित होती है उसमें कालगत व्यवधान आ उपस्थित होता है अतएव शब्दों द्वारा निर्मित प्रतिच्छवि का संग्रथित रूप हमारे लिए प्रत्यक्ष करना संभव नहीं हो पाता।

चित्रकला के इतिहास में ऐसे भी युग आए हैं जिनमें चित्रकला, साहित्य की तरह किसी कहानी को उपस्थित करती रही है अथवा नैतिकता का उपदेश देने के लिए उसका उपयोग किया जाता रहा है। ऐसा भी युग रहा है जब कविता चित्रकला से होड़ करती हुई स्थितिशील चित्रों को उपस्थित करती रही है। कवि जिस प्रकार से शब्दों के सहारे चित्रों के निर्माण में संलग्न होता है उसी प्रकार चित्रकार तूलिका के सहारे रंगों की ध्वनियों को अभिव्यक्ति देने का प्रयास

करता है। लेसिंग ने कलाओं की मर्यादा और सीमा की बात तो अवश्य कही है लेकिन उन कलाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर अधिक कुछ नहीं कहा है। लेकिन इर्विंग बैबिट ने अपनी पुस्तक 'न्यू लाओकून' (सन् १९१० ई०) में इसका विवेचन किया है। उसने चित्रकला तथा कविता के उपर्युक्त प्रयत्नों की ओर ध्यान दिलाया है और कहा है कि कलाएं एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर अपनी मर्यादा का उल्लंघन करती हैं। बैबिट की दृष्टि में यह प्रवृत्ति ह्रास का लक्षण है।

काव्य या चित्रकला में इस बात का ध्यान रखना जरूरी हो जाता है कि वह दूसरों को प्रभावित करे। उनमें निहित सत्य या सौन्दर्य से जिस प्रकार कलाकार या कवि प्रभावित होता है और आनन्द पाता है उसी प्रकार दूसरों तक पहुंचाने और अभिव्यंजित करने की चेष्टा उन कलाओं में रहती है। केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है कि कलाकार या कवि उनसे अपने आप प्रभावित होकर रह जाए। कलाकार या कवि की सफलता इस बात में है कि जो कुछ सत्य वह उस 'वस्तु' में देखता है तथा जिस प्रकार के उसके सौन्दर्य से वह प्रभावित होता है उन्हें वह दूसरों तक पहुंचा सके। इसलिए कलाकार के लिए 'क्या कहने जा रहा है' जितना महत्त्व का है, 'कैसे कहने जा रहा है' उससे कम महत्त्व का नहीं है। टेकनीक को ध्यान में रखना उसके लिए आवश्यक है क्योंकि इसी के द्वारा अपने भावों को तथा अपनी दृष्टिभंगी को वह बाहर प्रकाशित कर सकता है। अभिव्यंजना बाह्य रूप से प्रकाशन है। इस प्रकार से विचार करने पर हम देखते हैं कि काव्य अथवा चित्र वास्तव में माध्यम हैं जिनके द्वारा कलाकार या कवि अपने आपको अभिव्यक्त करता है। उसे जो कुछ कहना है वह काव्य या चित्र के द्वारा सबों के सामने प्रकाशित करता है।

कवि और चित्रकार के क्षेत्रों की चर्चा लेसिंग ने की है। कवि स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन सांगोपांग करता है। उसके गुलाबी गालों, काली भौंहों, तिरछी चितवन, मुख, अनुपम नासिका, गर्दन, उरोज तथा उसकी भुजाओं सभी का वर्णन कवि अपनी कविता में करता है, फिर भी जैसे बहुत कुछ बाकी रह जाता है। लेकिन एक चित्र में अगर इन सबों का चित्रण हो तो वह हमारे सामने एक अनुपम सौन्दर्य को उपस्थित कर देता है। उस चित्र में हम जिस सौन्दर्य के दर्शन होते हैं वह रक्त में कोमल भावनाओं को जाग्रत करता है। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष दर्शन में हृदय को छू देने की जो अद्भुत शक्ति है वह शब्दों में नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि गतिशीलता और क्रियाशीलता का चित्रण क्या चित्रकार के लिए वर्जित है तथा वर्णनात्मकता कवि के क्षेत्र से बाहर है? लेसिंग का कहना है कि ऐसी बात नहीं है कि चित्रकार एक गतिशील 'वस्तु' का चित्रण कर ही नहीं सकता अथवा कवि 'वस्तुओं' के स्थिर वर्णनात्मक चित्र उपस्थित

ही नहीं कर सकता। अगर वे ऐसा करें तो उन्हें अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। उन्हें व्यंजना की शक्ति को ही अधिक अपनाना पड़ेगा। उसकी कृति की व्यंग्यात्मकता उसके लिए सबसे अधिक सहायक होगी। चित्रकार अगर गतिशीलता का चित्रण करना चाहता है तो उसे 'वस्तु' के स्थिर स्वरूप को इस प्रकार से रखना होगा कि उससे गतिशीलता ध्वनित होती रहे। लेकिन यह गति या क्रिया चित्र में प्रधान नहीं हो पाती। लेसिंग का कहना है कि चित्रकार अगर 'गति' को चित्रित करना ही चाहता है तो वह 'वस्तु' की गतिशीलता के एक विशेष क्षण को ही अपने चित्र में बांधता है। अतएव 'गति' को चित्रित करते समय चित्रकार को एक ऐसे अभिव्यंजक क्षण को चुनना पड़ता है जो देखनेवालों को आकृष्ट कर सके तथा जो कल्पना को सन्तुष्ट कर सके लेकिन जिसमें अतृप्ति बनी रहे।

इस क्षण का चुनाव चित्रकार और मूर्तिकार की कुशलता का परिचय देता है। वह उसी क्षण को चुनता है जिसमें हमारी कल्पना के स्वतन्त्र विकास के लिए उसमें पूरा सुयोग हो। कल्पना उन्मुक्त होकर स्वच्छन्द विहार का जब अवकाश पाती है तब दर्शक के आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती। यहां एक बात ध्यान में रखने की है कि चित्रकार या मूर्तिकार जिस क्षण को चुनता है उसमें दर्शक के संवेग की प्रक्रिया पराकाष्ठा तक पहुंची हुई नहीं होती क्योंकि अगर वैसा हो तो फिर कल्पना के लिए कोई विशेष स्थान नहीं रह जाता। दूसरे, कला इस बात को संभव कर देती है कि वह क्षण चिरस्थायी बना रहता है अतएव कलाकार के लिए यह भी आवश्यक है कि जिस क्षण को वह चुनता है वह क्षणस्थायी या अल्पकालिक न प्रतीत हो।

काव्य में भी जब कवि वर्णनात्मक ढंग अख्तियार करता है तब उसे 'वस्तु' के स्थिर धर्मों को इस प्रकार से चित्रित करना पड़ता है कि वे कार्यों के बीच व्यक्त हो सकें। कवि के कुशल चित्रण से कार्यों की क्रियाशीलता के बीच भी वे स्थिर धर्म परिलक्षित होने लगते हैं। फिर वर्णनात्मकता काव्य का धर्म नहीं है। जहां कवि सांगोपांग वर्णन में लग जाता है वहां काव्य नीरस और प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है। वर्णनात्मकता चित्रकला की ही वस्तु है। भाषा में वर्णन करने की शक्ति तो है लेकिन उससे काव्य का रस ही समाप्त हो जाता है। लेसिंग का कहना है कि कवि सौन्दर्य के तत्त्वों का चित्रण उनके क्रमानुसार वर्णन द्वारा ही कर सकता है। अतएव उसे जब सौन्दर्य का वर्णन करना होता है तब वह शारीरिक वस्तुगत सौन्दर्य के वर्णन में अपने को नहीं उलझाना चाहता। वह अनुभव करता रहता है कि सौन्दर्य के इन तत्त्वों को अनुक्रम से उपस्थित करने पर संभवतः वह प्रभाव नहीं उत्पन्न किया जा सकता जैसाकि किसी संपूर्ण के अंग के रूप में उनका चित्रण कर किया जा सकता है। लेसिंग ने होमर से उदाहरण

देकर अपनी बात को स्पष्ट किया है। हेलेन के असाधारण सौन्दर्य से होमर जब हमें परिचित कराना चाहता है तो वह उसके शारीरिक सौन्दर्य के सांगोपांग वर्णन में नहीं लगता बल्कि हमें यह बतलाता है कि ट्राय के लोगों पर चाहे वे वृद्ध हों या परम ज्ञानी, उसके सौन्दर्य का कैसा प्रभाव पड़ता था। आकर्षण को लेसिंग ने गतिशील सौन्दर्य (beauty in motion) कहा है, अतएव उसके चित्रण के लिए वह कवि को चित्रकार की अपेक्षा अधिक उपयुक्त मानता है। कविता में सौन्दर्य क्षणस्थायी होकर हमारे सामने आता है जिसे हम बार-बार देखना चाहते हैं। इस विषय की चर्चा करते हुए डा० देवराज उपाध्याय ने एक उदाहरण उपस्थित किया है जिसे उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पाता। यह उदाहरण तुलसीदास से लिया गया है

> पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै,
> झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।
> फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै,
> तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

इसमें राम की दशा का जितना सजीव वर्णन हुआ है उतना उनके अनुभावों और शारीरिक चेष्टाओं के वर्णनों से संभव नहीं था। लेकिन चित्रकार या मूर्तिकार के लिए शारीरिक चेष्टाओं का दिखलाना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे लाओकून की शारीरिक पीड़ा को दिखलाने के लिए, उसकी तनी हुई शिराओं आदि को दिखलाना जरूरी है। इसलिए लेसिंग का कहना है कि कविता तथा चित्र के नियम भिन्न हैं। अवश्य ही संवेदना या सहजानुभूति को ध्यान में रख उनके अलग-अलग क्षेत्रों का निर्धारण करना कठिन है। लेकिन अभिव्यक्ति को ध्यान में रख अवश्य ही उनका निर्धारण किया जा सकता है। एक कला क्षेत्र में लगा व्यक्ति अपने काम की चीज दूसरी कला से उधार ले सकता है लेकिन माध्यम के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। कलाकार अपनी कला के लिए जिस माध्यम का सहारा लेता है उससे वह बँधा रहता है। इस सीमा का उल्लंघन कर वह कठिनाइयां मोल लेता है।

शब्द, अर्थ और कविता

(क) शब्द

बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक मे साहित्य की आलोचना का आधार किसी कविता को एक विशिष्ट इकाई, अपने आप मे पूर्ण एक जीवन्त रूप मानने का आग्रह आलोचकों के एक समुदाय मे देखने को मिलता है। ये आलोचक किसी कविता के रूप-विशेष को जैव (organic) मानने के पक्ष मे हैं। उनके अनुसार कविता विशेष अपने आप मे एक पूर्ण इकाई है अतएव उसका परीक्षण-विवेचन उसी को ध्यान मे रखकर होना चाहिए। उसके गठन और रूप के ब्योरो को अगर दृष्टि मे रखा जाय तो उस कविता-विशेष की संभावनाओं, उसकी विशिष्टताओ तथा उसके विभिन्न तत्वो के उद्घाटन के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही होगी। इन आलोचको की दृष्टि मे वह कविता, वह रूप-विशेष अपना प्रतिनिधित्व आप करता है। उसे किसी वर्ग का प्रतिनिधि मानकर उसकी विशेषताओ की पड़ताल को भी ये आलोचक उचित नही मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी हरे भरे फूल से लदे पौधे की जाँच उस पौधे को सामने रखकर करते हैं उसी प्रकार कविता का भी परीक्षण-विश्लेषण होना चाहिए। इस प्रकार कविता-विशेष को समझने का प्रयास कर ही उसम निहित 'अर्थ' तक पहुँचा जा सकता है।

कविता के रूप-विधान अथवा उसके 'अर्थ' पर अगर हम दृष्टि डालें तो पाएँगे कि कविता का रूप विधान अथवा उसमे अर्थ का सयोजन जिन तत्वों के द्वारा होता है उन्हें शब्दों मे ढूँढा जा सकता है। किसी रचना मे शब्दो के पारस्परिक घात-प्रतिघात, उनका एक दूसरे से प्रभावित होना या एक-दूसरे को प्रभावित करना तथा उनके पारस्परिक सबधों आदि को समझना तथा उनका विश्लेषण करना इस दृष्टि से अत्यन्त महत्व का हो जाता है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि इस समुदाय के आलोचक उस रचना के शब्द-प्रयोग की प्रक्रिया, शब्दों का आक्षरिक अर्थ, उसम आए हुए प्रतीकों के सकेत, रूपको तथा आलकारिक भाषा मे निर्दिष्ट वस्तु, उसके छन्द-विधान आदि का जमकर अध्ययन करते हैं। उस रचना के बाहर वे किसी मूल्य के चक्कर मे पड़ना व्यर्थ

मानते हैं। वैसे उन आलोचकों की आलोचनाओं को देखने पर लगता है कि भले ही वे बाहर के किसी मूल्य से अपने को निबद्ध न करने का दावा करें लेकिन व्यवहार में यह संभव नहीं हो सका है।

सन् १९२३ ई० में सी० के० आगडेन तथा आई० ए० रिचार्ड्स की सम्मिलित रूप में लिखी पुस्तक 'दि मिनिंग ऑफ मिनिंग' प्रकाशित हुई। अर्थ-विज्ञान (Semantics) को इस पुस्तक में प्रतीक-विज्ञान (Science of Symbolism) कहा गया है। इस पुस्तक के प्रकाशन से काव्य के अध्येताओं का ध्यान काव्य के अध्ययन में अर्थ-विज्ञान की ओर गया। इस पुस्तक का अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा और नाना भाव से अध्येताओं ने इस विषय की छानबीन शुरू की। सम्भवतः चार्ल्स पियर्स (Charles Pierce) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अर्थ-विज्ञान को लेकर छानबीन शुरू की। लेडी वेल्बी को सन् १९०४ ई० और सन् १९०८ ई० में लिखे अर्थ-विज्ञान संबंधी दो पत्रों का सर्वप्रथम उल्लेख रिचार्ड्स और आगडेन ने 'दि मिनिंग ऑफ मिनिंग' के ४३५-४४४ पृष्ठों पर किया है। इस दिशा में लेडी वेल्बी का प्रयास भी उल्लेख-योग्य है।

परंपरागत अर्थ में अर्थ-विज्ञान का क्षेत्र शब्दों के अर्थ में कालक्रम से होने वाले परिवर्तन के अध्ययन तक सीमित था, लेकिन काव्य के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में अब इससे एक नए अर्थ का बोध होने लगा है। इस नए अर्थ के संदर्भ में अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत यह भी समझा जाने लगा है कि भाषा अथवा अन्य प्रतीकों एवं संकेतों का मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन किया जाय। भिन्न-भिन्न संकेतों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया अथवा उनसे वह किस प्रकार प्रभावान्वित होता है, इसका अध्ययन भी अर्थ-विज्ञान में अंतर्भुक्त किया जाने लगा है।

रिचार्ड्स ने दिखलाया है कि शब्द या तो प्रतीकात्मक (निर्देशात्मक) या रागात्मक (emotive) होते हैं। प्रतीकात्मक के लिए रिचार्ड्स ने symbolic (referential) शब्द का प्रयोग किया है। अपनी पुस्तक 'दि प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' में उसने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि उक्ति या कथन निर्देश के लिए हो सकता है चाहे वह उक्ति या कथन सत्य हो या मिथ्या हो। इसे भाषा का वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग कहा जा सकता है। उक्ति का यथातथ्य वर्णन इसीलिए वैज्ञानिक कहा जाता है कि उसमें किसी प्रकार के मूल्य का आरोप नहीं होता। लेकिन उक्ति या कथन रागात्मक भी हो सकता है अथवा कहने वाले की दृष्टिभंगी का द्योतक भी हो सकता है। इसे भाषा का संवेगात्मक या रागात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। इस प्रकार से वैज्ञानिक की उक्ति और कवि की उक्ति में अन्तर है। वैज्ञानिक के कथन में संवेग नहीं होता जबकि कवि की उक्ति अनूठी होती है और उसमें संवेगों के उत्पन्न करने की शक्ति होती है। बाद में

चलकर रिचार्ड्स ने यह अनुभव किया कि शब्दों का अध्ययन काफी उलझनदार है और शब्द अपने आप में पेचीदगियों से भरे हुए हैं। रिचार्ड्स ने काव्य के अर्थ-संकेतों अथवा उन कठिनाइयों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है जो कविता के अध्ययन के समय पाठकों के सामने आ उपस्थित होती हैं। रिचार्ड्स की दूसरी पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' सन् १९२४ ई० में प्रकाशित हुई। रिचार्ड्स की इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन के बाद से काव्य के अध्ययन में अर्थ-विज्ञान ने एक महत्त्व का स्थान बना लिया है। फलस्वरूप आज के आलोचक इस पर विचार करने लगे हैं कि किसी कविता में शब्दों के पारस्परिक संबंध क्या हैं ? वे एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? इसी प्रकार मनोविज्ञान के अध्येता शब्द और बिंब (image) के अभिप्राय तथा प्रस्तार आदि का गहराई में जाकर अध्ययन करने लगे हैं।

हमने देखा है कि रिचार्ड्स ने शब्द को प्रतीकात्मक अथवा रागात्मक कहा है। रिचार्ड्स ने एक स्थल पर यह भी मत व्यक्त किया है कि काव्य में शब्द की रागात्मकता उस शब्द के अर्थ से अलग वस्तु है (Emotions of the words in poetry are independent of the sense'), अर्थात् रिचार्ड्स के अनुसार शब्दों में भावापन्न करने की शक्ति एक अलग वस्तु है और अर्थ प्रदान करने, बोध कराने अथवा निर्देश करने की शक्ति अलग है। शब्द संबंधी रिचार्ड्स के इस मत का खंडन उनके शिष्य विलियम एम्पसन ने सन् १९५१ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि स्ट्रक्चर ऑफ काम्प्लेक्स वर्ड्स' में किया है। एम्पसन का कहना है कि अगर यह मान लेने की छूट हो कि किसी शब्द द्वारा दो प्रकार के अर्थ-बोधन की क्रिया सम्पन्न होती है जिसमें एक को बोधात्मक (cognitive) और दूसरे को रागात्मक (emotive) कह सकते हैं तो हम पाएँगे कि उस शब्द का बोधात्मक अर्थ ही हमारे चरित्र तथा व्यवहार अथवा भावना को अधिक प्रभावित करता है। एम्पसन ने यह भी संकेत किया है कि लगता है बाद में चलकर रिचार्ड्स ने स्वयं इस संबंध में अपना मत-परिवर्तन किया है। अपनी पुस्तक 'दि फिलासफी आफ रेटरिक' में रिचार्ड्स ने यह कहना चाहा है कि इसे मानना ठीक नहीं कि कविता की रचना करने वाले के लिए यह बेहतर होगा कि वह शब्द के अर्थ (sense) की चिन्ता न करे। वास्तव में अपनी इस पुस्तक में रिचार्ड्स इस मत के प्रतिपादन में सन्नद्ध दीखता है कि कविता के समझने का एकमात्र संतोषजनक तरीका यह है कि भावों तथा संवेगों (emotions) पर उस कविता से निकलने वाले 'अर्थ' का पूरा पूरा नियन्त्रण बना रहे।

कवि का कारबार शब्द को लेकर है। काव्य का माध्यम शब्द है। अतएव कविता में निहित 'अर्थ' तक पहुँचने के लिए अथवा कविता की विशिष्टताओं के अध्ययन के लिए शब्द का महत्त्व स्पष्ट है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि

कविता की विशिष्टताओं के मूल में भाषा की प्रकृति है अतएव यह स्वाभाविक ही है कि साहित्य की विवेचना करने वाले काव्य की भाषागत विशेषताओं की ओर आकृष्ट होते हैं और उन विशेषताओं का विवेचन-विश्लेषण कर अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं। विश्लेषणात्मक आलोचना पर बल देने वाले आधुनिक काल के आलोचकों ने कविता में आए हुए शब्दों पर नाना प्रकार से विचार किया है और उनके पारस्परिक घात-प्रतिघातों और प्रभावों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। शब्दों के आक्षरिक अर्थ, उनके आलंकारिक और प्रतीकात्मक संकेत, उनके द्वारा बिंबों का स्थापित होना, छन्द और लय की गठन आदि का विश्लेषण इन्होंने जमकर किया है। इन आलोचकों में आई० ए० रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, क्लिन्थ ब्रुक्स के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। इस समुदाय के आलोचक रचनाकार की रचना में आए हुए शब्दों के ब्योरेवार अध्ययन की सिफारिश करते हैं। शब्दों के अध्ययन में वे कई तरीके अपनाने को कहते हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख हम करने जा रहे हैं।

किसी रचना में विभिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग का अनुपात रचनाकार की दृष्टिभंगी पर प्रकाश डालता है अतएव यह देखना आवश्यक है कि संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, अव्यय तथा क्रियापदों का रचना में किस अनुपात में व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार यह भी देखना आवश्यक है कि बिंब-ग्रहण करने वाले शब्दों और उनसे भिन्न शब्दों का अनुपात क्या है? अन्तर्वस्तु निर्देशक शब्दों (content words) और संरचनात्मक शब्दों (structural words) का अनुपात भी बड़े महत्त्व का है। शब्दों की लंबाई (आयतन), भिन्न भिन्न पदों एवं पदांशों का अनुपात भी देखा जाना चाहिए। अप्रचलित शब्द, दुरारूढ़ कल्पना को व्यक्त करने वाले शब्द, विदेशी शब्द, तकनीकी शब्द, ग्राम्य शब्द, फूहड़ शब्द आदि का प्रयोग रचना में किस मात्रा में हुआ है, इसका अध्ययन भी रचना की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। रचनाकार की प्रकृति का परिचय भी ऐसे शब्दों की सूची से मिल जा सकता है। उन शब्दों के प्रयोग का अनुपात जानना भी इस दृष्टि से काम का सिद्ध होगा जिनका संबंध किसी विशेष संदर्भ से हो और उसकी वजह से उन शब्दों में संवेगात्मकता और स्मृति को उभाड़ने की क्षमता आ जाती हो और इसलिए वे और अधिक अर्थपूर्ण हो जाते हों। इस समुदाय के आलोचक इस बात पर भी बल देते हैं कि शब्दों के किसी विशेष ढंग से संयोजन अथवा पद विन्यास संबंधी रचनाकार की विशेष प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना कविता के अध्ययन की दृष्टि से समीचीन होगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता के अध्ययन में इस प्रकार से शब्दों तथा शब्दों के प्रयोग का विश्लेषण अपना महत्त्व रखता है लेकिन इस प्रकार के विश्लेषण को महत्त्व देने वाले अध्येता कविता के पाठक के शब्द-ज्ञान को तो

ध्यान में रखते हैं लेकिन पाठक की संवेदनशीलता और उसकी आलोचना की योग्यता को जैसे आँखो से ओझल कर देते है। वे शब्दो के विश्लेषण आदि पर ही ध्यान देते हैं इसलिए आलोचना के क्षेत्र मे विशिष्टता प्राप्त किए हुए व्यक्तियो के कविता के सबंध मे व्यक्त किए हुए मतो और विचारो को प्रकारान्तर से उन्हे तरजीह देनी पड़ती है। और उनके व्यक्त किए गए विचारो और मतो को कविता मे आए शब्दो का परीक्षण, विश्लेषण करते समय जैसे उन्हें सब समय ध्यान में रखना पड़ता है। लगता है कि उन मतो की पुष्टि करने वाले कविता मे निहित तत्त्वो का उद्घाटन ही उनका एकमात्र उद्देश्य है। इतना करने पर भी अगर आलोचक द्वारा व्यक्त किए गए मतो के साथ शब्द-विश्लेषण के परिणामो का मेल नही बैठता तो मानना पड़ेगा कि उस कविता के आलोचक का मत केवल उन शब्दो पर ही आधारित नही है बल्कि उसके मूल मे उन शब्दो के वाच्यार्थ से भिन्न कोई वस्तु है। अतएव कविता म प्रयुक्त शब्दो के विश्लेषण, पद-विन्यास के वैचित्र्य आदि को ही कविता की आलोचना का मानदड नही स्वीकार किया जा सकता।

इतना होने पर भी शब्दो को आधार मानकर कविता का विश्लेषण करने वालो की कुछ बातें ऐसी है जिन्हे आँखो से ओझल नही किया जा सकता। उनका कहना है कि कविता की आलोचना करते समय कुछ ऐसे भी कथन हमारे समक्ष आते हैं जिनका ऐतिहासिक, आत्मचरितात्मक तथ्यो से सीधा सबंध होता है। इन तथ्यो का अध्ययन शब्दो के सिवा अन्य किसी उपाय से नही किया जा सकता। इसी प्रकार उनका यह भी कहना है कि कविता म आए मिथको तथा सैद्धान्तिक मतो या विचारो के अध्ययन के लिए भी शब्दो का ही सहारा लेना पड़ेगा। शब्दो को इकाई मानकर उनका अध्ययन करने पर अवश्य ही कविता के इस पहलू पर प्रकाश डाला जा सकता है। शब्दो को इकाई मानकर उनका अध्ययन भाषाशास्त्र या नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त मनोरजक और महत्त्व का भी है लेकिन कविता के सदर्भ म शब्दो को इकाई मानकर अध्ययन करने का प्रकार उससे भिन्न होगा। अवश्य ही इसका अर्थ यह नही है कि शब्द का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन कविता के समझने म सहायक नही होगा बल्कि इसलिए कि कविता का क्षेत्र उससे अलग है।

कविता को ध्यान म रखकर शब्द को इकाई के रूप म अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विचारको के दो दल है। एक दल का मत है कि शब्दो का जहाँ तक सभव हो विशुद्ध, प्रसगो-सदर्भो के कारण जुड़े हुए अर्थ से उन्मुक्त, किसी प्रकार के सवेग या व्यजनात्मकता से स्वतत्र होकर गणित के चिह्नो के समान सर्वत्र एक ही इङ्गित अर्थ का द्योतक होना चाहिए। दूसरा दल इसके ठीक विपरीत शब्दो को अधिक से अधिक सवेगात्मक और व्यजनात्मक बनाने के पक्ष मे है।

इनके अनुसार शब्दों की उपयोगिता केवल इसी बात में नहीं है कि वैज्ञानिक तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दें बल्कि उनकी उपयोगिता इस बात में है कि विज्ञान की परिधि के बाहर मनुष्य की जो अनुभूतियाँ हैं उन्हें रूप दें तथा संवेगों, कल्पना तथा तर्कमूलक चिन्तन को उद्दीपित करें। स्पष्ट ही वैज्ञानिक दृष्टि को प्रश्रय देने वाले विज्ञान और गणित की परिधि में पूर्ण रूप से बँधे रहने के कारण शब्द के संबंध में संकुचित दृष्टि से विचार करते हैं। भाषा की उत्पत्ति पर विचार नहीं भी करें और केवल साधारण बोलचाल की भाषा के शब्दों पर दृष्टि निबद्ध रखें तो पाएँगे कि वे कोई न कोई बिंब या रूपक या लाक्षणिकता अपने में समाहित किए हुए हैं (पाश्चात्य आलोचक जिसे metaphor कहते हैं उसमें रूपक तथा लाक्षणिकता दोनों के लक्षण मिलते हैं)। शब्द या पद केवल यथातथ्यता के ग्राहक नहीं हो सकते। प्रयोग करने के साथ ही साथ उनमें हम परिवर्तन लाते रहते हैं। एक उदाहरण लें। संभव है किसी समय किसी व्यक्ति ने हल्के ढंग से बिना बहुत कुछ सोचे-विचारे 'खिला हुआ चेहरा' का प्रयोग किया होगा। लेकिन प्रयोग करते रहने के कारण 'खिला हुआ' में अब हल्कापन नहीं रह गया है और अपने लिए सम्मानित स्थान बना चुका है। 'खिला हुआ चेहरा' अब शायद 'खिले हुए फूल' की याद नहीं दिलाता।

शब्द के दो पहलू होते हैं। एक को आत्मपरक (*subjective*) कह सकते हैं अर्थात् इससे संवेदना (feeling) की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे को वस्तुपरक या बाह्यार्थपरक (objective) कह सकते हैं। इससे प्रत्यक्ष ज्ञान या बोध (perception) का *निर्देश होता है। शब्द के ये दोनों पहलू उसमें अपने आप* निहित नहीं हैं बल्कि शब्द सामाजिक बोध के प्रतीक (common perceptual symbol) हैं इसलिए समाज की स्वीकृति के फलस्वरूप वे इस प्रकार से अर्थ-*बोध कराने की शक्ति अपने में बनाए हुए हैं।* शब्द एक ओर जहाँ किसी वस्तु के द्योतक हैं या निर्देश करते हैं अथवा सूचना देते हैं वहीं दूसरी ओर उस वस्तु के प्रति कहने वाले के मनोभाव अथवा संवेग का भी संकेत करते हैं। शब्दों के निर्देश *करने वाले पहलू का उपयोग विज्ञान में होता है जब कि संवेदना का संकेत करने* वाला उसका पहलू काव्य में प्रतिफलित होता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि कविता का आधार भाषा या शब्द है तब शब्द के इसी पहलू की ओर संकेत किया जाता है। लेकिन *यह समझना गलत होगा कि कविता में शब्द का सिर्फ यही* पहलू वर्तमान रहता है और पहला अनावश्यक है। कविता जिन भावों या संवेगों को उद्दीपित करती है वह उस कविता में प्रयुक्त शब्दों द्वारा संभव हो पाता है। उन शब्दों की अपनी स्वयं की कुछ विशेषता होती है जिससे ऐसा हो पाता है। शब्दों की इस विशेषता के मूल में सामाजिक और ऐतिहासिक कारण ही वर्तमान रहते हैं। अलग-अलग भाषाओं के शब्दों की विशेषता अलग-अलग होती है।

अतएव यह समझना कठिन नहीं कि कविता का भाषागत अध्ययन केवल शब्दों और पदों के अर्थ को स्पष्ट करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य भाषा के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन भी है क्योंकि साहित्य से उनका घनिष्ठ संबंध है। किसी भी भाषा में लिखी कविता उस भाषा के शब्दों की ध्वनियों से आन्तरिक भाव से जुड़ी हुई है। कुछ ध्वनि-समूहों को कुशलतापूर्वक चुनकर कविता की रचना होती है अतएव उस भाषा के नाद-सौन्दर्य (euphony), लयात्मकता (rhythm) तथा छन्दों की विशेषताओं का अध्ययन कविता की दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है। लेकिन यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि किसी भाषा के नाद और लयात्मकता की विशेषता को अर्थ से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा जाता है कि एक भाषा में रचित कविता का अनुवाद दूसरी भाषा में संभव नहीं। केवल विचारों और भावों (ideas) को उद्दीपित करना अगर कविता का उद्देश्य होता तब उसे दूसरी भाषा में रूपान्तर करना कुछ भी कठिन नहीं होता क्योंकि उन विचारों और भावों के उद्दीपक शब्दों के स्थान पर अन्य भाषा के समानार्थक शब्दों का व्यवहार किया जा सकता।

कविता के अध्ययन का आधार एकमात्र भाषा-तत्त्व की दृष्टि से शब्दों के परीक्षण विवेचन को स्वीकार करने में एक और कठिनाई आ उपस्थित होती है। कहा जाता है कि कविता में यह विशेषता होती है कि उसके पाठक या श्रोता के भीतर एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है। इस मत का पोषण करने वालों का कहना है कि यद्यपि काव्य का माध्यम भाषा है, फिर भी यह भाषा उस भाषा से भिन्न होती है जिसे साधारणतः हम बोलचाल की भाषा कहते हैं और दैनंदिन जिसका हम व्यवहार करते हैं। अब विचार करने की बात यह है कि काव्य-भाषा में मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की अगर एक शक्ति है जो साधारण व्यवहार में आने वाली भाषा की रचनाओं में नहीं है तो यह आसानी से समझा जा सकता है कि काव्यगत भाषा में ही ऐसी कोई विशेषता है जिसके कारण यह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। अगर यह प्रतिक्रिया भाषागत हो तो काव्य का अध्ययन भाषाशास्त्री के अध्ययन-क्षेत्र के बाहर पड़ जाता है और मनोविश्लेषण में लगे हुए अध्येताओं के अध्ययन की सीमा में आ जाता है। फिर इस बात को अगर स्वीकार कर लिया जाय कि ये मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ काव्यगत मूल्यों के आधार हैं, तब तो भाषाशास्त्री के लिए इस संबंध में कुछ कहना किसी काम का नहीं होगा। लेकिन यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अगर उस कविता का मूलपाठ (Text) उन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को उद्बुद्ध बनाए हुए है तब तो उस कविता में भाषागत उन तत्त्वों को खोजना पड़ेगा जिनके कारण यह संभव हो पाता है। कविता में भाषा

के अध्ययन को प्राधान्य देने वाले New Criticism (नव्य आलोचना) के समर्थक इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह प्रतिक्रिया केवल पाठक के भाषागत ज्ञान पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि उसकी आलोचक-प्रवृत्ति और संवेदनशीलता पर भी निर्भर करती है। अतएव भाषाशास्त्र को काव्य के अध्ययन का आधार मानने वालों के रास्ते में यह भी एक बाधा है।

काव्य के मूल्यांकन में शब्दों के प्रयोग का अपना एक अलग महत्त्व है, क्योंकि कवि जब शब्दों का प्रयोग करता है तो उसके प्रयोग करने के ढंग अथवा उन शब्द-विशेषों के द्वारा वह मूल्यांकन भी करता जाता है। भले ही इन शब्दों या उनके प्रयोगों का काव्य के मूलभूत मूल्यों से सीधा संबंध न हो, फिर भी यह तो सही है कि उन्हीं के सहारे उन मूल्यों तक पहुँचा जा सकता है। इसे थोड़ा और स्पष्ट रूप में समझने की चेष्टा करें। जैसे कोई कह उठे, वाह ! अरे ! बस-बस ! छि:-छि: ! तो इन शब्दों के प्रयोग तथा कहने के ढंग के द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। फिर यह भी होता है कि कोई कहता है कि यह घृणित है, अथवा यह अन्याय है या वह यों कहे कि कितना सुन्दर है अथवा कितना भद्दा है तो इन प्रयोगों द्वारा अपने भावों या प्रतिक्रियाओं को अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति देता है। कुछ ऐसे भी शब्द या वाक्य या उनके प्रयोग हैं जो ऊपर के दोनों प्रकारों से भिन्न हैं। ये ऐसे होते हैं जिनमें अपने आप में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कुछ अभि-व्यक्त करने की शक्ति नहीं होती लेकिन प्रसंगानुसार ये ऊपर के दोनों से कहीं अधिक हमारे भावों तथा संवेदनाओं को प्रभावित करते हैं। जैसे किसी अत्यन्त सुपरिचित समाज या अनिष्ट करने वाले के लिए कहा जाय 'बाघ निकला है'। इसी प्रकार 'वातावरण पर कालिमा छाई हुई है', 'बिल्ली राह काट गई' आदि वाक्य प्रसंगानुसार अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

कविता की विशिष्टताओं को आयत्त करने के लिए शब्दों, शब्द-समूहों, संदर्भों आदि को ध्यान में रखना आवश्यक है। कविता के 'अर्थ' तक पहुँचने के लिए शब्दों और संदर्भों दोनों को अपनी दृष्टि में रखना पड़ता है। शब्द न अपने आप इकाई के रूप में और न असंबद्ध ज्यों का त्यों, जहाँ का तहाँ रख देने से किसी काम के साबित होंगे। किसी कविता में प्रयुक्त शब्द परस्पर एक-दूसरे को जीवन्त बनाते हैं, केवल इतना ही नहीं बल्कि ये शब्द पहले किसी प्रसंग में आकर एक वैशिष्ट्य प्राप्त करते हैं और इस वैशिष्ट्य से सम्पन्न होकर प्रस्तुत प्रसंग में व्यवहृत होकर उस प्रसंग को एक विशेष गरिमा प्रदान करते हैं। जिस प्रसंग में शब्दों का प्रयोग किया गया है उसे अगर ध्यान से ओझल होने दिया जाय तब शब्दों के 'अर्थ' और उनके वैशिष्ट्य को ठीक-ठीक आयत्त नहीं किया जा सकता। उस प्रसंग पर पूरा का पूरा ध्यान रखें तभी शब्दों की विशेषताओं को हृदयगम किया जा सकता है।

(ख) अर्थ

कविता मे अर्थ सदर्भ सापेक्ष है। कविता मे शब्दो का केवल कोशगत अर्थ ही नही बना रहता बल्कि उनके चारो ओर उनके जैसी ध्वनि वाले लेकिन भिन्नार्थक शब्दो अथवा समानार्थक शब्दो का प्रभामडल बना रहता है जिससे कविता मे प्रयुक्त शब्द इन्द्रधनुषी रग धारण करते हैं। यह समझ रखना चाहिए कि शब्द केवल अपने ही अर्थ या सकेत नही करते बल्कि जिन शब्दो के साथ ध्वनि, तात्पर्य आदि से उनका सबध जुडा रहता है उनको सारगर्भ तथा मार्मिक बनाते हैं। केवल इतना ही नहीं, उनका सबध अगर वैषम्यमूलक ध्वनि और तात्पर्य वाले शब्दो से भी हो तो उस स्थिति मे भी उनकी क्रियाशीलता का वही परिणाम होता है अर्थात सारगर्भ तथा मार्मिक बनाने की उनकी शक्ति उस अवस्था म भी वर्तमान रहती है।

वैसे कविता मे हम जिसे 'अर्थ' कहते हैं आजकल उस 'अर्थ' का भी अर्थ किया जाने लगा है अतएव 'अर्थ' शब्द ही भिन्न भिन्न मतो के पोषण करने वालों के बीच मतभेद का कारण बना हुआ है। कविता मे 'अर्थ' खोजने की समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब हम इस सबध मे स्पष्ट हो जायें कि कविता का उद्देश्य क्या किसी प्रकार का विशेष मन्तव्य करना है? अगर इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी जानना आवश्यक है कि किस प्रकार से कविता में यह उद्देश्य सिद्ध होता है?

पाश्चात्य विद्वानो मे कविता मे 'अर्थ' की व्याख्या करने वाला म मोटे तौर पर दो प्रकार की विचारधारा देखने को मिलती है (क) कविता उस अर्थ को रूप देती है जो इस अवास्तव, दृश्यमान क्षणभगुर जगत् के सत्य से भिन्न परम सत्य है। इस विचारधारा के अनुसार कविता कवि के लोकोत्तर मानस को प्रतिबिंबित करती है। उनके अनुसार समस्याओं से सबधित कथनों, उक्तियों तथा वक्तव्यों को प्रकाश देने वाले अर्थ को रूप देना कविता का कार्य नहीं है। लेकिन पुरानी परम्परा को ध्यान म रखने वाले आलोचक कविता को इस कोटि म रखना पसद नही करते। वे मानते हैं कि कविता भी उसी अर्थ को व्यक्त करती है जैसा कि हम आमतौर पर तर्कमूलक विवेचना या कथन में पाते हैं। वैसे कविता मे पाए जाने वाले अर्थ से इस अर्थ म यही अन्तर है कि कविता म पाया जाने वाला अर्थ अधिक आकर्षक और प्रभावात्मक होता है। परम्परावादी काव्य को अनुकरणमूलक मानने के पक्ष म हैं। ईसवी सन् की अठारहवीं शताब्दी तक के आलोचको ने इस मत को प्राय ही स्वीकार किया है कि कविता अनुकरण-मूलक है। वैसे काव्य को अनुकरणमूलक मानने वाले आलोचक में एक अहा-मूलक दल, विशुद्ध रूप मे अनुकरण, कविता का आदर्श मानता है लेकिन

कविता को अनुकरणमूलक मानने पर भी यह समुदाय इसे इतना संकुचित बना देने के पक्ष मे नहीं है। इस दल के आलोचकों की दृष्टि मे अनुकरण को यथातथ अनुकरण मानना ठीक नहीं है। इनकी दृष्टि मे यह अनुकरण आदर्श अनुकरण है, यह समुचित नहीं है। ये मानते हैं कि यह अनुकरण 'वस्तु' के एकदेशीय विशेष तत्त्व का अनुकरण नहीं है बल्कि 'वस्तु' के सार्वभौम तत्त्व का अनुकरण है।

सैमुअल जानसन तथा उनके जैसा विचार रखनेवाले आलोचक इस अनुकरण को व्यक्तिनिष्ठ न मानकर उसे वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाला मानते हैं। उनका कहना है कि काव्य को जब यह मान लिया जाय कि वह वस्तु या वास्तविकता की हू-ब-हू अनुकरण नहीं करता तब अनुकरणवादी के लिए काव्य का अर्थ ऐसी उक्तियों पर निर्भर करता है जो सार्वभौमता (universal) की ओर संकेत करती है। इन लोगों की दृष्टि मे ये संकेत वास्तविकता को अधिक सामने लाने वाले हैं। उनका कहना है कि ब्योरों की हू-ब-हू नकल से यह संभव नहीं। उनका कहना है कि काव्य का सत्य, इतिहास और दर्शन के सत्य से अधिक वास्तव, अधिक महत्त्व का है। इतिहास ब्योरों का चित्रण-मात्र है और उससे हमें सार्वभौमता का ज्ञान नहीं होता और उससे हम यह नहीं जान पाते कि हमें कैसे क्या करना चाहिए। दूसरी ओर दर्शनशास्त्र का सत्य अत्यधिक व्यापक है और वह व्यक्ति-विशेष के उपयोग म नहीं आ पाता लेकिन काव्य का सत्य हमें बताता है कि जीवन को कैसा होना चाहिए। ये आलोचक काव्य के वक्तव्य विषय को उसके रूप-विधान से अलग मानते हैं और कहते हैं कि काव्य का अस्तित्व उसके संदेश या व्याख्यामूलक अर्थ पर निर्भर करता है।

दूसरा दल कविता मे किसी प्रकार के अर्थ को कतई स्वीकार करने को तैयार नहीं। इस सम्प्रदाय वाले कविता के साथ जीवन तथा जीवन की समस्याओं को जोड़ने के बिलकुल पक्ष में नहीं हैं। कविता का एकमात्र उद्देश्य ये यह मानते हैं कि वह पाठक के साथ रागात्मक संबंध जोड़ती है। उनकी दृष्टि में कविता का अस्तित्व इसलिए नहीं है कि वह क्या है और जीवन की समस्याओं से वह कैसे जुड़ी है बल्कि इसलिए है कि वह उनके किस काम आ सकती है। कविता को वे एक चिकित्सा, उपचार (therapy) मात्र मानते हैं। अब अगर यह स्वीकार कर लिया जाय कि कविता मे प्रबुद्ध करने की शक्ति नहीं है तो उसका महत्त्व या तो हमें आनन्द देने के लिए है या वह हमारे संवेगों को उद्दीपित करने के लिए है।

जो लोग कविता का उद्देश्य यह मानते हैं कि उसमें समस्यामूलक अर्थ निहित है वे कविता के वक्तव्य विषय पर ध्यान देते हैं और जो लोग कविता को जीवन के साथ जोड़ने के पक्ष मे नहीं है उनकी दृष्टि उसके रूप-विधान और आनन्द देने वाले रूप पर निबद्ध रहती है। ये लोग कविता का अस्तित्व कविता

के लिए स्वीकार करते हैं। वे कविता के बोधात्मक मूल्य (cognitive value) को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जो कविता से अनुप्रेरित नहीं होते, पढने से जिनके संवेग जीवन्त नहीं हो उठते वे ही कविता में समस्या की खोज करते हैं और उसमे 'अर्थ' देखने के लिए लालायित रहते है। कविता में बोधात्मक मूल्य को जो लोग स्वीकार नहीं करते उनकी विज्ञान पर अधिक आस्था है। विगत सौ वर्षों मे बौद्धिक क्षेत्र मे विज्ञान का बहुत अधिक प्रभाव रहा है इसलिए इस मत की लोकप्रियता बनी रही है।

आई० ए० रिचार्ड्स ने कविता में अर्थ की समस्या का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि कविता उपचार का काम करती है और हमारे स्नायुओं को स्वस्थ बनाती है। कविता के आनन्द देने वाले सिद्धान्त को रिचार्ड्स अस्वीकार करता है। अर्थ के संदर्भ मे रिचार्ड्स भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि भाषा जहाँ एक सामाजिक तथ्य है वहाँ व्यक्तिगत अनुभूति का एक अंग भी है अर्थात् समाज के व्यवहार के निमित्त होने के साथ-साथ भाषा व्यक्ति के अनुभूत सत्य को भी प्रकाश करने का माध्यम है। विशेष शब्द का विशेष अर्थ या यों कहे कि शब्दो का वाच्यार्थ संदर्भों की स्थिरता अर्थात् संदर्भों को अपरिवर्तित स्थिति मे बने रहने पर ही संभव है। सैन्धव का अर्थ घोड़ा, अथवा लवण संदर्भ के अनुसार ही स्थिर किया जा सकता है। विज्ञान में किसी शब्द के व्यवहार की एक परम्परा बन जाती है इसीलिए उसका अर्थ अपरिवर्तित नही होता। उसका अर्थ उस शब्द के व्यवहार करने वालो के लिये एक-जैसा बना रहता है। इसी परम्परा के कारण वैज्ञानिक शब्दावली जन्म ग्रहण करती है और अपना अपरिवर्तित अर्थ बनाए रहती है।

रिचार्ड्स का कहना है कि जब हम विज्ञान के क्षेत्र के बाहर जाते हैं तब ऐसी बात नहीं रह जाती। ऐसे क्षेत्र में जहाँ पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता नहीं वहाँ शब्दों का अर्थ परिवर्तित होकर ही रहेगा। अगर शब्दों की अनेक अर्थ प्रदान करने की शक्ति न रह जाए तो भाषा की प्रकाशन-भंगी की सूक्ष्मता और बारीकी नष्ट हो जाएगी और वह हमारे किसी काम लायक नहीं रह जाएगी। विज्ञान की यथातथ्यता को ध्यान मे रखकर शब्दों के इस अर्थ संकोचन (अर्थ का संकुचित क्षेत्र मे रह जाना) को भले ही उचित माना जाए लेकिन अन्य क्षेत्रो मे जहाँ आनन्द प्रदान करने वाली सूक्ष्मता और बारीकी ही मुख्य हो वहाँ शब्दो की अनेकार्थता अपना महत्त्व रखती है। रिचार्ड्स ने स्वीकार किया है कि शब्दो की अनेकार्थता स्वयं स्वतन्त्र नहीं है। यह अनेकार्थता निरपेक्ष नहीं है। उन शब्दो के व्यवहार करने वाले अलग-अलग ढंग से मनमाना अर्थ लगाएँ तो आपस मे एक-दूसरे से विचारों का आदान प्रदान सम्भव नहीं हो सकता।

यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि पाठक भी रचनाकार के

समान अन्वेषण की एक प्रक्रिया के माध्यम से ही 'अर्थ' तक पहुँचता है। रिचार्ड्स इस प्रक्रिया को पाठक का कुशल अनुमान कहता है। पाठक की पटुता सही दिशा में उसके अनुमान करने में सहायक होती है। रिचार्ड्स के अनुसार अनुमान की इस निपुणता के बिना पाठक के लिए रचनाकार के भावों तक पहुँचना सम्भव नहीं हो पाता।

रचनाकार अपनी अनुभूतियों को शब्दों द्वारा पाठक तक पहुँचाता है। लेकिन ये अनुभूतियाँ शब्दों में सीधे रूप ग्रहण नहीं करतीं। वास्तव में रचनाकार की अनुभूतियाँ उसके कल्पना-जगत (imagination) की वस्तु बनकर अपना अस्तित्व बनाए रहती हैं। शब्दों के माध्यम से रचनाकार पाठक के अन्तर में वैसी ही कल्पना को उद्बुद्ध करने में समर्थ होता है। अपने रचना-कौशल से वह पाठक के लिए कुछ ऐसा सम्भव कर देता है कि वह भी उसी प्रकार के कल्पना जगत् का द्रष्टा बन जाता है। यह सही है कि रचनाकार की कृति पाठक के मन को शब्दों की सहायता से रचनाकार की अनुभूतियों से परिचित करा देती है लेकिन शब्दों की अपनी एक सीमा है। शब्द प्रतीकों के रूप में पाठक के मन में ग्रहण होते हैं और उन्हीं प्रतीकों के सहारे पाठक रचनाकार की अनुभूतियों को अपनी बना लेने में समर्थ होता है। ये प्रतीक पाठक के मन में जिस कल्प-लोक की सृष्टि करते हैं वह शब्दों के द्वारा गृहीत भावों के समान किसी सीमा में बँधा नहीं होता। पाठक के मन में कल्प-लोक के सर्जन की क्षमता वास्तव में शब्दों द्वारा संकेतित प्रतीकों में ही होती है। अगर रचनाकार में अभिव्यंजना की शक्ति है तो वह अपने शब्दों को अपनी अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करने वाला बना सकता है। शब्दों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को सब समय अभिव्यंजित करना सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार की अभिव्यंजना सहज, सरल नहीं है। अतएव यह आसानी से समझा जा सकता है कि काव्य में जिस भाषा का प्रयोग होता है वह व्याकरण के नियमों में बँधी साधारण भाषा से भिन्न है। साधारण भाषा में वह शक्ति नहीं होती कि वह हमारे संवेगों और विचारों के साथ मन में उत्पन्न होने वाली अनगिनत सहजात वृत्तियों को रूप दे सके। इसलिए वह भाषा जो संकेत ग्रहण कराने में समर्थ हो तथा अपनी व्यंजना शक्ति द्वारा रचनाकार की अनुभूतियों को रूप देकर पाठक के कल्पलोक में उतार दे वह एक विशेष भाषा होगी और इसी भाषा का काव्य-भाषा का नाम दिया जाता है।

हमने अभी देखा है कि काव्य के लिए शब्दों की प्रतीकात्मकता का कितना महत्त्व है। इसी प्रतीकात्मकता के कारण ही भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की श्रीवृद्धि होती है। भारतीय साहित्य के पारखियों के लिए इसी बात को यों कहा जा सकता है कि शब्दों की प्रतीकात्मकता के कारण उनकी व्यंजना शक्ति या व्यंजनात्मकता की वृद्धि होती है, भले ही इन शब्दों के निर्दिष्ट और [illegible] अर्थ

में परिवर्तन हो जाय। काव्य में 'अर्थ' की पड़ताल और विवेचना करने वालों के लिए शब्दों या भाषा की इसी शक्ति का उद्घाटन करना काम्य होता है। ये प्रतीकात्मक शब्द कुछ दूर तक अपने अर्थ को बनाए रखकर एक ऐसे अर्थ का संकेत करते हैं जो उसके रूढ़ि अर्थ से अतीत होता है। जैसे ईसाइयों के लिए 'क्रॉस' एक ऐसा प्रतीक है जो अपना अर्थ बनाए रखते हुए भी एक ऐसे सत्य की ओर इंगित करता है जो इस जगत् का नहीं है। ईसाई के लिए यह आत्म-बलिदान और पुनर्जीवन का प्रतीक है जो ईसा मसीह में रूपायित हुआ है। इन प्रतीकात्मक शब्दों में अर्थ-सम्प्रसारण की शक्ति अत्यन्त व्यापक होती है। उनमें एक साथ अनेक सत्यों की ओर इंगित करने वाले अर्थों की ध्वनि होती है जो उन शब्दों के वाच्यार्थ से अतीत है। इन प्रतीकात्मक शब्दों में ऐसे भी अर्थ छिपे हुए रहते हैं जो आदिरूपात्मक (archetypal) होते हैं। जैसे Divine Father, इसके अर्थ में एक ईसाई के लिए अभिभूत कर देने वाला तत्त्व वर्तमान है। कवि इनका प्रयोग बड़ी सफलता से मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कर सकता है। अनेक अर्थों का संकेत करने वाले ये प्रतीकात्मक शब्द संदर्भों के परिवर्तन के साथ भिन्न-भिन्न चमत्कारपूर्ण अर्थों के द्योतक हो सकते हैं। अगर शब्दों अथवा शब्द समूहों का अर्थ स्थितिशील, निश्चित तथा अपरिवर्तित बना रह जाय तो काव्य में अभिव्यंजना की यह शक्ति नहीं रह जाएगी। तर्कपूर्ण वक्तव्यों तथा वैज्ञानिक तथ्यों के लिए वाच्यार्थ में बंधे हुए शब्दों का प्रयोग अवश्य वांछनीय है लेकिन कविता को वैसे शब्द अक्षम बना देंगे।

जहाँ अर्थ की हम चर्चा करते हैं वहाँ दो तत्त्व उपस्थित रहते हैं। एक तो शब्द जो संकेत और निर्देश करता है और जो अर्थ का आधार है और दूसरा स्वयं अर्थ। यह संकेत और निर्देश करने वाली वस्तु प्राकृतिक चिह्न हो सकती है प्रतीक हो सकती है अथवा प्रकृति से उधार लिया हुआ किसी के द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्तीकृत चिह्न हो सकती है। संकेत और निर्देश करने वाली वस्तु व्यवहार के द्वारा कालक्रम से रूढ़ि हो जाती है। जैसे 'पत्र' (वृक्ष का पत्ता) शब्द 'पत्र' (चिट्ठी) के रूप में रूढ़ि हो गया है। प्राकृतिक चिह्न से मतलब उन चिह्नों या व्यापारों से है जिन्हें दृश्यमान जगत् में हम प्रत्यक्ष करते हैं। उनसे हम कुछ संकेत मिलते हैं और उनसे हम मनोनुकूल परिणाम निकालते हैं। भय से चीत्कार करने वाले पशु का चीत्कार किसी भयप्रद स्थिति का संकेत भी करता है और दूसरों को सावधान भी करता है कि वे अपनी सुरक्षा का उपाय करें। इन्हीं प्राकृतिक चिह्नों के आधार पर प्रतीक आदि निर्मित हुए हैं। जो चिह्न रूढ़ि हो जाते हैं अथवा यों कहें कि जो रूढ़ि शब्द हैं उनका अर्थ निश्चित और उस भाषा के बोलने वालों के लिए उसका अर्थ असंदिग्ध हो जाता है। ये रूढ़ि शब्द जातिवाचक भी हैं और व्यक्तिवाचक भी। काव्य में ये रूढ़ि शब्द अपने वाच्यार्थ से

अधिक ऐसे अर्थ के वाहक होते हैं जो अपने अतीन्द्रिय प्रभाव से मन को अभिभूत कर देते हैं।

भाषा जिन शब्दों के सहारे रूप ग्रहण करती है वे शब्द अपने में केवल किसी अर्थ को ही समाहित किए हुए नहीं होते बल्कि उनमें ध्वन्यात्मकता और नाद-वैशिष्ट्य भी होता है। संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में भाषा का प्रत्येक विशिष्ट शब्द अपने भीतर कल्पना को उद्दीपित करने की एक विशेष क्षमता लिए हुए रहता है। उस शब्द का अर्थ शब्दकोश के सहारे नहीं निर्धारित किया जा सकता। उसे केन्द्र कर बहुत से अर्थ वर्तमान रहते हैं। शब्दों के अर्थ के साथ उनका नाद वैशिष्ट्य भी उनसे जुड़ा रहता है। वैसे शब्दों की ध्वनियों में अपनी अलग व्यंजना की शक्ति रहती है। इसके साथ ही इस बात को भी आंखों से ओझल नहीं होने दिया जा सकता कि प्रत्येक भाषा की अपनी एक विशेष प्रवृत्ति होती है, एक विशेष छन्द होता है।

कविता को ध्यान में रखकर शब्द को इकाई के रूप में देखने का कोई अर्थ नहीं। अकेले, स्वतन्त्र रूप में वर्तमान रहकर वे किसी काम के नहीं साबित हो सकते। जिस प्रकार से किसी मुद्रा का महत्त्व साधारणतः इसी बात में है कि उसमें क्रय-शक्ति है, उससे यथासंभव हम अपनी मनचाही वस्तु खरीद सकते हैं। हमारे लिए इसी बात में उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार शब्द अकेले कवि के लिए किसी काम के नहीं जब तक वे कविता की दृष्टि से सार्थक वाक्य या पद में न हों। ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि शब्द अपना स्वतन्त्र महत्त्व नहीं रखते। यह बड़े सहज भाव से कह दिया जाता है कि काव्य का उद्देश्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है और उसके लिए भाषा माध्यम है लेकिन जब हम काव्य के एक-एक शब्द पर विचार करने लगते हैं तो शब्द अपनी विचित्रता लिए हुए आ उपस्थित होते हैं। उस समय हम देखते हैं कि व्याकरण की परिधि से बाहर संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में वे कल्पना और संवेगों के उभाड़ने की क्षमता रखते हैं। भारतीय साहित्य के विद्यार्थियों के लिए शब्दों की इस शक्ति का संकेत कोई अभिनव वस्तु नहीं है। शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का बड़ी गहराई से साथ अध्ययन भारतीय साहित्य-शास्त्र में वर्तमान है।

कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द समुचित रूप से उसके भावों की अभिव्यंजना कर सकें इसके लिए कवि को भाषा में काट-छांट करनी पड़ती है। वास्तव में वह जो कुछ कहना चाहता है उसे अर्थपूर्ण बनाने के लिए वह जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे इसीलिए कारगर होते हैं कि कवि की संपूर्ण उक्ति में निहित व्याख्या की संभावनाएं उन्हें अर्थवत्ता की गरिमा से मंडित करती हैं अर्थात् कवि के शब्दों के सहारे जिस अर्थ तक हम पहुंचते हैं वह (अर्थ) पूरी उक्ति के विभिन्न तत्त्वों जैसे शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, भंकार, लयात्मकता, उनके घात-प्रतिघात,

सनिधि आदि के सम्मिलित प्रभाव के द्वारा सम्पन्न होता है। काव्य का 'अर्थ' कभी-कभी कई कारणो से पकड में नहीं आता। कभी-कभी हम किसी कविता के एक या दो मार्मिक भावो को सब-कुछ समझ लेने की भूल करते हैं। इस तरह के भावो से हम भले ही आकृष्ट हो, भले ही उनसे चमत्कृत हो जाए लेकिन उन्ही भावो को उस कविता का मर्म समझ लें तो भूल होगी। उन भावो की मार्मिकता कई बातो पर निर्भर करती है। उस कविता मे आए अन्य तत्वो को चाहे वे शब्द हो या अन्य भाव हो व्यर्थ नही समझा जा सकता। जिसे हम उस कविता का मर्म समझते हैं उसे अन्य शब्दो और भावो की अपेक्षा रहती है। वे शब्द अथवा भाव केवल अलकृत करने के लिए कविता मे नही आते बल्कि वे ऐसे साधन होते हैं जो उस कविता के मर्म अथवा विशिष्ट भावो को विशिष्टता-सपन्न करने मे सहायक होते हैं।

हम अभी तक प्रसगो और अर्थों की चर्चा करते रहे हैं और यह समझने का प्रयास करते रहे हैं कि प्रसगो-सदर्भो से विच्छिन्न होकर शब्द काव्य के 'अर्थ' तक पहुचने मे सहायक नही हो सकते। प्रसगो के सयोजक के रूप मे रिचार्ड्स रूपक (mataphor) की चर्चा करता है। विभिन्न प्रसगो और सदर्भो के एक मे विलय कर देने मे रूपक के विशेषत्व पर रिचार्ड्स बल देता है। रूपक को वह केवल अलकृत करने का साधन नही मानता और न यही मानता है कि दो प्रसगो की तुलना के लिए उसका उपयोग होता है। बहुत लोग ऐसा समझते हैं कि उस तुलना द्वारा रचनाकार का वक्तव्य स्पष्ट होता है। इसे ठीक इसी रूप मे स्वीकार करने मे रिचार्ड्स को आपत्ति है। उसका कहना है कि रूपक (metaphor) ऐसे दूर-दूर के प्रसगो को जोडता है जिन्हे हम असम्बद्ध मानते हैं। वह इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है कि रूपक तथा लाक्षणिकता (metaphor) मे इन दोनो का समावेश रहता है एक नया अर्थ प्रदान करते हैं जिससे कल्पना क्रियाशील होकर एक नई भावभूमि मे पहुचती है। रिचार्ड्स की दृष्टि मे जिसे हम कविता का ठोस विशेषत्व कह सकते हैं वह उसके वैषम्यमूलक होने मे है। वह कहता है कि कविता मे अगर यह भेद-वैषम्य न हो तो कविता चमत्कार उत्पन्न करने की अपेक्षा एक नीरस वक्तव्य होकर रह जाएगी।

कविता मे 'अर्थ' की समस्या को लेकर हर्बर्ट रीड ने कहा है कि कवि से उसकी कविता की व्याख्या करने के लिए कहना भूल है। कविता के सम्बन्ध मे रीड के अनुसार यह गलत दृष्टिकोण अपनाना है। इसे स्पष्ट करते हुए उसने बतलाया है कि कवि बाह्य रूप से अपने आपको अभिव्यक्त करता है तो वास्तव मे उस अभिव्यक्ति के मूल मे एक सवेगात्मक इकाई (emotional unity) रहती है। इसे ही वोसलर (Vossler) ने अन्तर की भाषा का रूप (inner language form) कहा है। लेकिन बाहर की भाषा के रूप के साथ इस

अन्तर की भाषा का आवश्यक साम्य नहीं है। बाहर की भाषा का जो रूप है उसी के सहारे हम दैनंदिन कार्य सम्पन्न करते हैं और विचारों को दूसरों तक पहुँचाते हैं। अतएव कवि अगर अपने अन्तर की भाषा के रूप के प्रति ईमानदारी बरतना चाहे तो उसे शब्दों का आविष्कार करना पड़ेगा और बिंबों की सृष्टि करनी पड़ेगी। केवल इतना ही नहीं, शब्दों के साथ उसे जबर्दस्ती करनी पड़ेगी और उनके अर्थ में खींचतान करनी पड़ेगी। कविता के मूल में जो संवेगात्मक इकाई है वह उसकी पकड़ में आ गई है। अब उसके अनुरूप कवि को शब्दों की सृष्टि करनी पड़ेगी। हर्बर्ट रीड का कहना है कि इस संवेगात्मक इकाई को रूप देने के लिए ही कविता का अस्तित्व है और उसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। अब अगर उस कविता का 'अर्थ' स्पष्ट न दे तो कोई बात नहीं। उसमें कवि की संवेगात्मक अनुभूति की तीव्रता देखने को मिलेगी। कवि के शब्दों का कोई मतलब निकले या नहीं, लेकिन वे शब्द कवि की संवेगात्मक अनुभूति के अनुरूप सृष्ट हुए हैं और जहाँ तक संभव हो सकता है अन्तर की अस्पष्ट और अपूर्ण ध्वनि की प्रतिध्वनि के रूप में हमारे समक्ष आ उपस्थित होते हैं। यही कारण है कि कवि हमें विचित्र-सा प्रतीत होता है, लेकिन जिन वस्तुओं को लेकर उसका कारबार है वे शाश्वत हैं और उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों में वे जीवित रहती हैं।

कविता में 'अर्थ' के सम्बन्ध में इलियट तथा आधुनिक काल के कुछ विचारकों के मतों से थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। इससे हमारे लिए यह आसान हो जायगा कि हम समझ सकें कि 'अर्थ' और काव्य भाषा के सम्बन्ध में आज की विचारधारा क्या है। कैथरीन एम० विल्सन ने अपनी पुस्तक 'साउण्ड एण्ड मीनिंग इन इंगलिश पोएट्री' (सन् १९३० ई०) में कहा है कि किसी कविता का अर्थ उस (कविता) के सिवा और कुछ नहीं है। उस कविता में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ का वह योगफल नहीं है। सी० डी० लीविस (सन् १९४७ ई०) के अनुसार कविता का 'अर्थ' वह नहीं है जिसे उसका गद्य में रूपान्तर कर हम पाते हैं। वास्तव में उसका 'अर्थ' वही है जो प्रत्येक पाठक अपने अन्तर की अनुभूतियों के प्रकाश में उसका रूपान्तर कर समझता है। मार्जरी बुल्टन ने अपनी पुस्तक 'दि एनेटॉमी ऑफ पोएट्री' (सन् १९५३ ई०) में उन लोगों को कविता का अथवा कवियों के एक विशेष समुदाय का शत्रु कहा है जो निष्कपट भाव से पूछते हैं कि इस कविता का अर्थ क्या है? ऐसे लोग कविता को अखण्ड रूप में तथा उसकी सम्पूर्णता में उसे देखने में असमर्थ हैं या देखना नहीं चाहते। हिलेरी कार्क का कहना है कि सनमुन की कविता में शब्दों का 'यह अथवा वह' अर्थ नहीं होता बल्कि उसका 'यह भी और यह भी और यह भी' अर्थ होता है। कविता को प्रभाव उत्पन्न करने की प्रक्रिया यही है। डब्ल्यू० बी० यीट्स ने एक विशेष कविता की चर्चा करते हुए कहा है कि वह कविता सर्वदा उन्हें सारगर्भित

लगी है लेकिन सब समय उनके लिए एक ही अर्थ की द्योतक नहीं रही है। टी० एस० इलियट ने 'दि एम्स ऑफ पोएटिक ड्रामा' (सन् १६५१ ई०) में कहा है कि सभी कविताओं में ऐसा कुछ रहेगा ही जिसके सम्बन्ध में उनके रचयिता स्वयं अनभिज्ञ रहते हैं। कवि के लिए किसी कविता का क्या अर्थ था अथवा कवि क्या कहना चाहता था जब उसने उसकी रचना की, व्यर्थ का प्रश्न है। सचमुच की सर्जनात्मक कृति में कवि कुछ ऐसा करता है जिसे वह स्वयं नहीं जानता। अन्यत्र 'दि यूज़ ऑफ पोएट्री' (सन् १६३३ ई०) में इलियट ने कहा है कि किसी कविता के अर्थ के सम्बन्ध में उसके रचयिता की स्थिति पाठक से अधिक संतोषप्रद नहीं है और सच्ची बात तो यह है कि समय बीतने पर रचयिता स्वयं अपनी रचनाओं के लिए पाठक मात्र रह जाता है। वह उन रचनाओं के प्रारम्भिक अर्थ को अर्थात् उसे लिखते समय उसके मन में जो अर्थ वर्तमान थे भूल जाता है और अगर नहीं भी भूले तो वह अर्थ उसके लिए वही नहीं रह जाता, वह बदल जाता है। जी० विल्सन नाइट की रचना 'दि व्हील ऑफ फायर' (सन् १६३० ई०) की भूमिका में इलियट ने कहा है कि लोग साधारणतः यह सोचते हैं कि कविता का आनन्द उठाने के लिए यह आवश्यक है कि 'उसके अर्थ की खोज की जाय'। इसलिए कोई अर्थ खोजने के लिए उनका मन अथक परिश्रम करता है कि जिसमें दूसरों को वे उसे समझा सकें और यह सिद्ध कर सकें कि वे उसका आनन्द उठा रहे हैं। लेकिन कविता में 'अर्थ' की संभावनाएँ इतनी विस्तृत और सुदूर प्रसारी हैं कि कविता लिखने वाले का अपना मन भी कहता रहता है कि जो अर्थ उसने समझा है वह अत्यन्त सीमित है।

'अर्थ' सम्बन्धी इस तरह की विचारधारा के विरोध करने वाले भी हैं जो यह मानते हैं कि बिना अभ्यास के कविता का अर्थ बोधगम्य होना चाहिए। उनका कहना है कि काव्य उन मनुष्यों के लिए रचित होता है जो सामान्य रूप से काल और स्थान की सीमा में बँधे हुए हैं और जिनकी भाषा क्रियाओं द्वारा परिचालित होती है अर्थात् क्रियापद उनकी भाषा को गतिशील बनाते हैं। इन लोगों के अनुसार महान् काव्य अर्थ और वाक्य विधान के परम्परायुक्त नियमों को मानकर चलता है। ऐसा विचार रखने वालों में डोनाल्ड डेवी (Donald Davie) तथा फ्रैंक करमोड (Frank Karmode) के नाम प्रमुख हैं। इन आलोचकों का प्रभाव आधुनिक काल के अंग्रेजी साहित्य के आलोचकों पर गहरे रूप से पड़ा है। डेवी ने अपनी पुस्तक 'आर्टिक्यूलेट एनर्जी' (सन् १६५५ ई०) तथा करमोड ने अपनी पुस्तक 'रोमैन्टिक इमेज' (सन् १६५७ ई०) में इलियट के विचा आदि का खण्डन किया है।

(ग) कविता क्या है

कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देखने में जितना सहज प्रतीत होता है उतना सहज नहीं है। अति प्राचीन काल से पाश्चात्य देशों के विचारक, कवि और आलोचक इस प्रश्न के उत्तर की रूपरेखा तैयार करते रहे हैं और आज भी अपने प्रयत्न से विमुख नहीं हुए हैं, फिर भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है। बासवेल ने जानसन से प्रश्न किया, *'अच्छा साहब, तब कविता क्या है ?'* जानसन ने उत्तर दिया, 'अरे साहब, यह बताना आसान है कि यह क्या नहीं है। हम सभी जानते हैं कि प्रकाश क्या है लेकिन यह बताना सहज नहीं कि वह क्या है ?' और यही कारण है कि सभी प्रयत्नों के बाद हार मानकर किसी ने विनोद करते हुए कहा है कि पाठशाला में पढ़ने वाले विद्यार्थी का उत्तर इसके सम्बन्ध में ठीक है कि कविता वह वस्तु है जिसे कवि लिखते हैं। इस प्रश्न की पेचीदगियों का अनुभव करते हुए सन् १९१३ ई० में एजरा पाउन्ड ने एक स्थल पर कहा है कि वैज्ञानिक दृष्टि रखते हुए गद्य और पद्य के सम्बन्ध में सटीक भाव से कुछ कहना प्रायः असम्भव है। एजरा पाउन्ड की दृष्टि में रसायनशास्त्र में आए प्रत्येक शब्द की व्याख्या जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार से गद्य और पद्य में भी। उसका कहना है कि यही कारण है कि कविता के सम्बन्ध में जो लम्बे-लम्बे निबन्ध लिखे जाते हैं वे किसी काम के नहीं हैं। साधारणतः कविता की जितनी भी परिभाषाएँ देखने को मिलती है वे *प्रायः ही अपने-अपने दृष्टिकोणों और मतों के* समर्थन के लिए लिखी गई हैं।

कविता की निम्नलिखित कुछ परिभाषाएँ इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं :

कविता स्वतःस्फूर्त तीव्र भावावेगों का प्लावन है—वर्ड्सवर्थ

कविता कल्पना और आवेगों की भाषा है—हैज़लिट

कालरिज ने कविता की परिभाषा करते हुए कहा है कि सर्वोत्तम क्रम में रखे हुए सर्वोत्तम शब्दों को ही कविता कहेंगे। कालरिज की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए सी० ई० सीविंस ने 'दि कीलोकियल एलिमेन्ट इन इंगलिश पोएट्री' (सन् १९४७ ई०) में कहा है कि अंग्रेजी के एक कवि ने कभी घोषणा की थी कि सर्वोत्तम क्रम में रखे हुए सर्वोत्तम शब्दों को ही कविता कहेंगे—यह ऐसी बात है कि बाधा-निषेधों पर विशेष ध्यान नहीं देने वाले देशों के आलोचक आश्चर्य करते होंगे कि अंग्रेज क्या कभी कविता लिखने में सफल भी होते होंगे। कालरिज की इसी परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए फ्रैन्क स्विनर्टन ने कहा है कि कालरिज ने जब यह दावा किया होगा उस समय उसके दिमाग में कुछ गड़बड़ी रही होगी। इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड की परिभाषा पर टिप्पणी की गई है जिसमें कहा गया है कि कविता जीवन की आलोचना है।

आर्नल्ड की इस परिभाषा पर टिप्पणी करते हुए एफ० एल० लुकस ने कहा है कि यह कैसी मनहूस परिभाषा है कि कविता किसी चीज की आलोचना करती है। क्या सचमुच म जीवन ही ऐसा नही है जो कविता की अन्तिम आलोचना है ? डब्ल्यू० एच० आडेन ने कविता को अविस्मरणीय वाणी कहा है अब कि टी० एस० इलियट ने कविता को सवेदना की सारगर्भिता के साथ निर्दोष रूप विधान का सयोग कहा है।

चाहे जो हो, कविता की परिभाषाएँ तथा कविता सम्बन्धी विभिन्न मतो को उपस्थित करने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि कविता कल्पना-प्रसूत वस्तु है जिसे हम प्राकृतिक जगत् म नही पाते। कविता कवि, कविता म वर्णित मनुष्य, घटनाएँ तथा अन्यान्य वस्तुओ का जगत् तथा पाठक—ये चार तत्त्व कविता मे वर्तमान रहते हैं। वैसे यह सही है कि सभी का एक-जैसा महत्त्व नहीं है। कविता के आलोचक इन चारो म से किसी एक या दूसरे तत्त्वों पर बल देते हैं। कोई कवि को दृष्टि मे रखकर कविता का मूल उत्स ढूँढने का प्रयास करता है तो कोई कविता को अपने आप मे स्वतत्र तथा कार्य-कारण की दुनिया से परे मानता है। पाठक की प्रतिक्रिया को ध्यान म रखकर भी कविता को समझने की चेष्टा की जाती है।

प्लेटो (ईसापूर्व ४२७—ईसापूर्व ३४६) ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक', १० म बतलाया है कि सार्केटिज (उसकी मृत्यु ईसापूर्व सन् ३६६ मे हुई) ने कविता की परिभाषा करते हुए कहा है कि कविता 'मिमेसिस' (mimesis) अनुकृति है। सार्केटिज (सुकरात), प्लेटो (अफलातून) का गुरु था। सुकरात ने बतलाया है कि जिस प्रकार आईने म उसके सामने आने वाली वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं उसी प्रकार कविता आईने के समान है। कविता का यह आईना चारो तरफ घूमता हुआ सभी इन्द्रियग्राह्य वस्तुओ को प्रतिबिम्बित करता है। सार्केटिज की इस परिभाषा से एक बात स्पष्ट होती है कि दृश्यमान जगत् से काव्य का क्या सम्बन्ध है। प्लेटो ने गुरु की इस परिभाषा को स्वीकार तो किया है लेकिन 'अनुकृति' के सम्ब ध म उसके अपने अलग सिद्धान्त हैं। प्लेटो के अनुसार यह इन्द्रियग्राह्य जगत् अपने आप मे एक अनुकृति है। उसका कहना है कि सृष्टि शाश्वत सत्य की प्रतिकृति है और कवि इसी प्रतिकृति का अनुकरण करता है, अतएव उसकी रचना प्रतिकृति की प्रतिकृति है अतएव सत्य से दूर जा पडती है। प्लेटो ने अपने ग्रथ 'अयान' (Ion) मे बतलाया है कि कवि जब अपनी रचना मे प्रवृत्त रहता है उस समय वह अपने म नहीं रहता और अपने अन्तर की प्रेरणा चना रसे करता है। अनुकृति का यह सिद्धात हजारो वर्षों तक किसी न किसी रूप मे पाश्चात्य आलोचकों ओर विचारको को प्रभावित करता रहा है।

प्लेटो के शिष्य एरिस्टाटल (अरस्तू) ने भी कविता को अनुकृति कहा है,

लेकिन उसका सिद्धान्त प्लेटो के सिद्धान्त से भिन्न है। प्लेटो मानता है कि शाश्वत सत्य ही सभी मूल्यों का केन्द्रस्थल है अतएव मनुष्य का ज्ञान, मनुष्य की कृति सभी अनुकृति हैं। एरिस्टाटल का मत है कि वस्तुओं के रूप उनमें ही अन्तर्निहित हैं, उन्हें कहीं बाहर नहीं ढूंढा जा सकता। अतएव एरिस्टाटल के अनुसार जब यह कहा जाता है कि इन्द्रियगोचर वस्तुओं की अनुकृति कविता में होती है तो उसे सत्य से दूर मानने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार शब्द में अनुकरण के सिद्धान्त को मानने पर भी प्लेटो और एरिस्टाटल के विचारों में बहुत अन्तर है। वैसे एरिस्टाटल ने अपने ग्रन्थ 'पोएटिक्स' में कहीं भी कविता की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में नहीं दी है। 'पोएटिक्स' में उसने नाटक तथा काव्य के कथात्मक रूपों पर ही प्रकाश डाला है। अतएव बहुतों ने यह संदेह प्रकट किया है कि अगर वह प्रगीतों (lyrics) पर विचार करता तो अनुकृति के सम्बन्ध में उसका यही मत होता। एरिस्टाटल प्रगीतों में अनुकृति के सिद्धान्तों को स्वीकार करता या नहीं यह कहना कठिन है लेकिन इतना निर्विवाद है कि अनुकृति का सिद्धान्त शताब्दियों तक कुछ हेर-फेर के साथ अपना स्थान बनाए रहा। सन् ईसवी की सोलहवीं शताब्दी में इटली में नवअफलातूनी विचारधारा से प्रभावित आलोचकों ने अनुकृति के सम्बन्ध में एरिस्टाटल के मत को स्वीकार करते हुए कहा कि कविता शाश्वत रूप-विधानों (eternal forms) का अनुकरण करती है। कविता के सम्बन्ध में यह विचारधारा पुनर्जागरण काल से लेकर क्लासिक युग तक बनी रही। शेलिंग आदि जैसे जर्मनी के स्वच्छन्दतावादी विचारक भी इस मत से प्रभावित थे। अंग्रेजी साहित्य के स्वच्छन्दतावादी धारा के कवियों—कालरिज, शेली, कार्लाइल आदि की रचनाओं में भी इस सिद्धान्त का प्रभाव परिलक्षित होता है।

एरिस्टाटल ने कहा है कि कवि या कलाकार मनुष्य का नहीं बल्कि उसके जीवन तथा कार्यों का अनुकरण करते हैं। एरिस्टाटल का यह भी कहना है कि मनुष्य के भीतर अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और अनुकृतियों में वह आनंद पाता है, इसलिए कहा जा सकता है कि अनुकरण कविता के मूल में है। एरिस्टाटल की इस विचारधारा ने बाद के विचारकों को प्रभावित किया और इस प्रकार काव्य को सम्मान का स्थान मिला जिसे प्लेटो की विचारधारा ने निम्नस्तरीय बना दिया था। अनुकरणवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि कविता इन्द्रियगोचर जगत् के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करती है और वह न असत्य की प्रतिकृति की प्रतिकृति है और न अलौकिक जगत् की नकल। यूरोप के पुनर्जागरण काल में कविता के संबंध में इसी मत का प्राधान्य रहा और सन् ईसवी की अठारहवीं शताब्दी में भी बहुत काल तक बना रहा। अठारहवीं शताब्दी के बाद से यथार्थवादी कला और साहित्य के उन्नायकों ने अनुकृति के सिद्धान्त को अपनाया, लेकिन

अनुकृति का अत्यन्त सकीर्ण अर्थ मे उन्होंने उपयोग किया। सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारभ मे उपन्यासो मे यथार्थवादी चित्रण को अनुकृति के इस सिद्धान्त का वाहक कहा जाने लगा। प्रकृतवादी उपन्यासकारो तथा विबवादी कवियो की रचनाओ म इस अनुकृति का सकीर्ण अर्थ म ही आरोप किया गया है।

आधुनिक काल मे कविता की विशिष्टता अथवा असाधारणता इस बात म मानी जाने लगी है कि उसम पुनर्जागरण काल के समान कविता मे किसी प्रकार की कथात्मकता को स्वीकार नही किया जा रहा है बल्कि अनुभूतियों और सवेदनाओ को सीधे-सीधे शब्दो मे उतारा जा रहा है। आज के आलोचक इस बात की ओर विशेष ध्यान देने लगे हैं कि किसी कविता की सृष्टि के पीछे मन की कैसी प्रक्रिया क्रियाशील थी। इस बात की ओर कविता के आलोचको का उतना ध्यान नही है कि किस वस्तु का अनुकरण किया जा रहा है बल्कि इस बात की ओर है कि अनुकृति और अनुकार्य के बीच कैसा सबध है।

कविता को अनुकृति मानने वालो के साथ ही प्राचीन काल मे रोम और ग्रीस म ऐसे भी विचारक हो गए हैं जिन्होंने कविता की परिभाषा उसकी उपयोगिता अथवा यो कहें कि कविता लिखने के उद्देश्य को ध्यान म रखकर की है। कविता का पाठक या श्रोता पर क्या प्रभाव पड़ता है इसे दृष्टि म रखकर इन विचारको ने कविता का अध्ययन किया है। इन विचारको की दृष्टि में कविता का उद्देश्य उपदेश देना अथवा आनन्द देना है। ये विचारक अलकारवादी थे। इन अलकारवादियो ने कविता के प्रत्यय और विश्वास उत्पन्न करने की शक्ति को स्वीकार किया है। होरेस का नाम इस दृष्टि से बडे महत्त्व का है। कविता आनद प्रदान करती है, इस मत का प्रतिपादन होरेस ने किया है। छद की उपयोगिता भी इन अलकारवादियो ने स्वीकार की है। आधुनिक काल मे भी इस बात स आलोचको ने सहमति प्रकट की है कि कविता का 'अर्थ' छन्द पर नियत्रण रखता है। लाजिनस आदि ने कविता का उद्देश्य उपदेश देने, आनद देने और प्रत्यय उत्पन्न करने तक सीमित नही माना है। उसके अनुसार कविता अत प्रेरणा से उत्पन्न होती है यद्यपि अभ्यास भी उसके लिए जरूरी है। उसके अनुसार कविता द्वारा पाठक या श्रोता मे उदात्तीकरण की क्रिया सपन्न होती है। अठारहवीं शताब्दी म कविता के क्षेत्र मे यह विचारधारा भी देखने को मिलती है कि कविता सवेगो को उद्दीपित करती है। इस प्रकार से जो लोग कविता पर उपयोगिता की दृष्टि से विचार करते हैं वे कविता को एक विशेष उद्देश्य का साधन मानते हैं।

आधुनिक काल मे विचारको का एक दल कविता को अभिव्यक्ति मानता है। उनमे क्रोचे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के अभिव्यजनावादियों ने कवि की सवेदना मे जिसे वह कविता मे रूप देता है उस सत्य को देखा जो प्रकृति मे व्याप्त है। इसके विपरीत कालरिज का

कहना है कि कविता कवि की सर्जनात्मक कल्पना का परिणाम है। कालरिज के अनुसार कवि के अंतर में एक प्रकार का सर्जनात्मक आलोडन चलता रहता है। यह आलोडन अंतर में एक-दूसरे के विपरीत चलने वाली क्रियाओं के तनाव से उत्पन्न होता है और सर्जनात्मक कल्पना उनका समाहार एक संपूर्ण नवीन अखंडता में खोजती है। इस संपूर्ण क्रिया को उद्भिद् जीवन में सचरित प्राकृतिक क्रिया के रूप में समझने की ,कालरिज ने कोशिश की है। इस सृष्टि के पीछे जो गत्यात्मकता है उससे इसके संबंध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में कविता के संबंध में तीव्रता (intensity), दीप्ति का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से उद्घोषित हुआ। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों ने प्रगीतों को कविता का आदर्श माना। छोटी कविताओं अथवा लंबी कविता में छोटे-छोटे खंडों में इस 'कविता' का अस्तित्व बताया गया। इसे 'विशुद्ध कविता' कहा गया। इसकी दीप्ति और तीव्रता का स्रोत आत्मा को बताया गया और यह कहा गया कि कला इसे उद्भासित नहीं कर सकती और न इसका विश्लेषण करना ही संभव है। इसकी दीप्ति क्षणभर के लिए बिजली के समान हृदय में कौंध जाती है और फिर वह विलुप्त हो जाती है। कीट्स के अनुसार किसी कला का उत्कर्ष उसकी चकाचौंध करने वाली तीव्रता में है। ('the excellence of every art is its intensity')। कुछ लोगों ने कविता की सम्प्रेषणीयता पर बल दिया है।

कला का अपना अलग जगत् है। उसके अपने नियम-कानून हैं। इसकी अच्छाई-बुराई की परीक्षा के लिए उससे बाहर देखने की आवश्यकता नहीं। 'कला कला के लिये' अथवा 'कविता कविता के लिए' सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले यह मानते हैं कि कविता का उद्देश्य न उपदेश देना है, न प्रयोजन करना है और न आनंद देना है। इसके अस्तित्व का अपने आप में बने रहने तथा इसके अपने आप में सुन्दर होने में ही इसकी सार्थकता है। इसके अस्तित्व का उद्देश्य इसका अस्तित्व है तथा इसके सौन्दर्य का उद्देश्य इसका सुन्दर बने रहना है। आज के आलोचक भी कविता का उद्देश्य उससे बाहर नहीं ढूंढना चाहते। इलियट का कहना है कि कविता को मुख्य रूप से कविता ही मानकर विचार करना चाहिए। कविता को एक वस्तु मानकर उसकी आलोचना करने के पक्ष में आधुनिक काल के साहित्यकार हैं।

ऊपर हमने कविता की परिभाषा संबंधी नाना प्रकार के सिद्धान्तों और मतों की चर्चा की है। आज के विचारक तथा दार्शनिक कविता की परिभाषा करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि इस तरह की कला तथा कविता की परिभाषाओं का कोई ठोस आधार नहीं है। एक को उचित और दूसरे को अस्वीकार

मानने का कोई अनुभवसिद्ध प्रमाण नहीं है। फिर भी प्राचीन काल से लेकर आज तक कविता की जितनी भी परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं वे कविता के भिन्न-भिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाली हैं और उसके अध्ययन में किसी न किसी रूप में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। अतएव उन परिभाषाओं की अपनी सार्थकता है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

काव्य और कला के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद (expressionism) का सिद्धान्त इटली के दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे (सन १८६६–१९५२ ई०) के नाम के साथ इस तरह जुड़ गया है कि क्रोचे को छोड़कर अभिव्यंजनावाद की बात भी नहीं सोची जा सकती। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य और कला की चर्चा करते हुए क्रोचे ने बड़ी व्यापक दृष्टि और गहराई के साथ अभिव्यंजनावाद पर प्रकाश डाला है। वैसे पहले-पहल इस शब्द (expressionism) का प्रयोग चित्रकला के संदर्भ में सन् १९११ ई० के लगभग किया गया और साहित्य के प्रसंग में सन् १९१४ के लगभग। इस शब्द का संभवतः सर्वप्रथम और सबसे अधिक प्रयोग जर्मनी में हुआ। सन् १९०१ ई० में जुलियन आगस्टे हर्वे (Julien Auguste Herve) ने अपने चित्रों का प्रदर्शन इसी (expressionismes) नाम से किया था तथा उसके चित्रों के लिए इस नाम का गढ़ने वाला संभवतः एल० वौक्सेल्स (L Vauxcelles) था। इस परम्परा के सुप्रसिद्ध चित्रकारों में कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं एडवर्ड मंच (सन १८६३–१९४४ ई०), क्रिस्टियन रोहल्फ्स (सन् १८४९–१९३८ ई०), अर्नस्ट लुडविग किर्चनर (सन १८८०–१९३८ ई०), पॉल क्ली (सन् १८७९–१९१४ ई०), वासिली कान्डिन्स्की (सन् १८६६–१९४४ ई०) तथा आस्कर कोकोस्का (सन् १८८६ ई०)। जर्मनी में कला के संदर्भ में अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों में विल्हेल्म वरिंगर तथा वासिली कान्डिन्स्की के नाम लिए जा सकते हैं। सन् १९१९ ई० में कासिमिर एड्स्मीड (Kasimir Edschmid) ने साहित्य के प्रसंग में अभिव्यंजनावाद पर प्रमुख रूप से प्रकाश डाला है। इस आन्दोलन का चित्रकला के क्षेत्र में फ्रान्स में सर्वप्रथम सन् १९०५ ई० में प्रवेश हुआ। सन् १८९३ ई० के मार्च में दिनभर के गंभीर चिन्तन के बाद क्रोचे ने एक निबंध लिखा जिसका शीर्षक 'कला की सामान्य धारणा में सन्निविष्ट इतिहास' *(History subsumed under the general concept of art)* था। सौन्दर्य, भाव की इन्द्रियग्राह्य अनुभूति है। (Beauty is the sensuous manifestation of the idea), हीगेल के इस सिद्धान्त को क्रोचे ने दूसरा रूप दिया।

क्रोचे का कहना है कि सौन्दर्य, अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति है (Beauty is the expression of a content)। सन् १९०० ई० के फरवरी और मई महीने में नेपुल्स में क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र सबंधी एक निबन्ध पढ़ा जिसका शीर्षक 'Fundamental Theses of an Aesthetic as Science of Expression and General Linguistic' (अभिव्यक्तिविज्ञान तथा सामान्य भाषा-विज्ञान के रूप में सौन्दर्यशास्त्रीय मौलिक शोध-निबन्ध) था। इसके बाद ही सन् १९०२ ई० में क्रोचे का युगान्तरकारी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'इस्थेटिक' (Aesthetic) का प्रकाशन हुआ।

आर० ए० स्काट जेम्स का कहना है कि मेधावी कलाकारों पर क्रोचे का ऐसा जादू-सा छा गया कि जहाँ पर उसके तर्क अत्यन्त युक्तियुक्त हैं वहाँ उन लोगों ने उसे गलत समझा है और जहाँ पर उसके तर्कों में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं वहाँ वे उससे चिपक पड़े हैं। सुप्रसिद्ध इतालवी नाटककार और उपन्यासकार पिरान्डेलो के नाटकों को उसके मित्रों ने कहा कि वे अभिव्यंजनावादी नाटक हैं और वे बेनेदेतो क्रोचे के सिद्धान्तों के उदाहरण समझे जा सकते हैं। स्काट जेम्स का कहना है कि ऐसा दावा बेतुका है क्योंकि क्रोचे ने कहीं भी किसी विशेष प्रकार की कला को अभिव्यंजनावादी नहीं कहा है। जिस प्रकार से क्रोचे ने कला के संबंध में अभिव्यंजनावाद की बात कही है उस दृष्टि से पिरान्डेलो को ही क्यों, सोफोक्लिस, शेक्सपियर यहाँ तक कि टेनिसन को भी अभिव्यंजनावादी कहा जा सकता है।

अभिव्यंजनावाद का प्रभाव जर्मनी में अधिक रहा। फ्रांस में इसका प्रभाव नहीं के बराबर था। जर्मनी में कविता और नाटक के क्षेत्रों में तथा अंग्रेजी के नाटक साहित्य पर इसका प्रभाव सन १९१० ई० से लगभग सन १९२५ ई० तक बना रहा। यथार्थवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप अभिव्यंजनावाद का आविर्भाव हुआ। अभिव्यंजनावाद के अनुयायी अनुकरण में विश्वास नहीं करते। वे पुनरावृत्ति के भी पक्षपाती नहीं हैं। उनका कहना है कि जगत् तो सामने पड़ा हुआ है, उसके चित्रण की क्या आवश्यकता है। इसके बदले उनका कहना है कि अतर की ओर दृष्टि फिराओ। वे इस बात को अधिक पसन्द करते हैं कि अभिव्यक्ति के पहले उसके विशुद्ध रूप को देखना श्रेयस्कर है। इस प्रकार से इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि कवि या कलाकार अपने अन्तर की भावना को बाहर प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं। यह भावना उसकी अपनी निज की वस्तु है। उसका बाह्य वस्तु से संबंध नहीं है। अपनी इस भावना को प्रकाशित करने में ही कलाकार की सार्थकता है। अतएव अभिव्यंजनावादियों का कहना है कि *कलाकार का काम यथार्थ का प्रतिबिम्बमूलक चित्रण करना नहीं* है। वह या तो अपने अन्तर की भावना के अनुरूप यथार्थ को चित्रित करता है

या उस यथार्थ को स्पर्श ही नहीं करता। वह केवल अपने मन की एक अवस्था को अभिव्यंजित करता है और इस अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द, रंग आदि से निर्मित कोई संरचना (गठन) होती है। इस प्रकार से कलाकार जिस रूप की सृष्टि करता है वह उसके मन की अवस्था से मिलती-जुलती है। लेकिन यह कैसे हो पाता है इसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

इस सिद्धान्त को मानने वाले कुछ ऐसे चित्रकार और साहित्यकार हो गए हैं जिनकी दृष्टि में यथार्थ के साथ अधिक घनिष्ठ सम्पर्क होने से किसी कलाकार की अपनी निजी सत्ता दूषित हो जाती है तथा उसके अन्तर की भावनाएं विनष्ट हो जाती हैं। वे तो यहां तक चले जाते हैं कि बच्चों को चित्र बनाने की शिक्षा देने की बात पर भी आपत्ति करते हैं क्योंकि वैसा करने से उनके अनुसार दूसरों के मन के भाव उनके भीतर प्रवेश कर जाएंगे और उनकी मौलिकता को नष्ट कर देंगे तथा उनके अन्तर में विकास पाने वाली अभिव्यंजना की शक्ति को कुण्ठित कर देंगे। अभिव्यंजनावादी अपने को क्रोचे का अनुयायी कहते हैं। क्रोचे इस बात को मानता है कि कला अन्तर की भावना या सहज ज्ञान है और किसी प्रकार की बाह्य वस्तु से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, चूंकि बाह्य वस्तु में वास्तविकता नहीं है, फिर भी वह मानता है कि अन्तर की भावना और सहज ज्ञान को बाह्य अभिव्यक्ति के लिए रूप (form) की आवश्यकता होती है। इस रूप को स्वीकार करते हुए भी वह कलाकार के अन्तर के भाव पर ही विशेष बल देता है। मूर्ति या चित्र जो प्रकट रूप से दीख पड़ते हैं उन पर अधिक ध्यान देने की बात वह नहीं करता क्योंकि उसके लिए कलाकार के मन का भाव ही वास्तविक है। आध्यात्मिकता को प्राधान्य देने वाले दार्शनिकों की दृष्टि में कला, जीवन अथवा सभ्यता विश्व-मानस (cosmic mind) की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मात्र है अतएव किसी कलाकार के मन में जो भाव आते हैं अथवा चित्र की जो कल्पना आती है वह उसी विश्व-मानस की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का ही अंग है।

क्रोचे ने अपने 'इस्थेटिक' में चार प्रकार के यथार्थ बतलाए हैं। ये मूलभूत हैं और एक-दूसरे से भिन्न हैं। लेकिन यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। हमने ऊपर देखा है कि क्रोचे बाह्य प्रकृति के यथार्थ को नहीं स्वीकार करता है। अपनी आत्मकथा में उसने बतलाया है कि 'प्रकृति' मानव-आत्मा की ही उपज है जो कला के विशुद्ध जगत् में रूप ग्रहण करती है। प्रकृति के यथार्थ को इस प्रकार कला के क्षेत्र में अस्वीकार करने के बाद क्रोचे उसे सर्वत्र अस्वीकार करता है और सर्वत्र ही वह यथार्थ के असली स्वरूप का अन्वेषण करता है। उसके लिए मानव आत्मा ही परम यथार्थ है। यह मानव-आत्मा ही अनुभूतियों की अन्तर्वस्तु (contents) को उत्पन्न करती है। वास्तविक सहज ज्ञान जो समृद्ध और प्राणवान होता है वह सीधे मानव आत्मा की सृष्टि है।

क्रोचे के चार प्रकार के यथार्थ मानव आत्मा की ही मूलभूत प्रक्रियाएं हैं। इनमें प्रथम सहजानुभूति या स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuition) अभिव्यंजना (expression) है। यह व्यक्ति की रूप रचना (रूपायन) की मूल कल्पना-प्रसूत प्रक्रिया है। दूसरा प्रत्ययात्मक या वैचारिक यथार्थ है। इस प्रक्रिया में सहजानुभूति की इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों का बौद्धिक या वैज्ञानिक परिज्ञान निहित है। तीसरा सामान्य रूप से संकल्प या इच्छा शक्ति पर आधारित है। इसमें ऐसी क्रियाओं की गणना हो सकती है जो जीवन की दृष्टि से व्यावहारिक हैं। जीवन के लिए उपयोगी ये क्रियाएँ आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इसमें इन्द्रियानुभूति क्रियाकलाप निहित हैं। क्रोचे का चौथा यथार्थ भी संकल्प या इच्छा-शक्ति पर आधारित है, लेकिन इसका उद्देश्य आर्थिक न होकर नैतिक है। उसके अनुसार सौन्दर्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र—ये चारों विज्ञान क्रमशः उपर्युक्त चारों यथार्थों के अनुरूप हैं। क्रोचे का कहना है कि ये चारों एक-दूसरे से भिन्न ठीक ही हैं, फिर भी इन चारों का स्थान इसी क्रम से एक के बाद एक है और इसी क्रम से प्रत्येक को अपने पहले के यथार्थ या यथार्थों की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार से क्रोचे ने मानव आत्मा की क्रिया को चरम यथार्थ कहा है। इस दृष्टि से हीगेल के सिद्धान्त से उसका मत भिन्न हो जाता है। हीगेल कम से कम जगत् और प्रकृति को स्वीकार करता है और उसके परिप्रेक्ष्य में मानव आत्मा की क्रिया को द्वन्द्वात्मक (dialectical) माना है।

क्रोचे के मतानुसार सौन्दर्य, सहजज्ञान की अभिव्यक्ति है। उसने अपने 'इस्थेटिक' में बतलाया है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति संवेगों (emotions) की सीधी अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि सहजज्ञान (intuition) की अभिव्यक्ति है। सहजज्ञान या स्वयंप्रकाश ज्ञान से क्रोचे का मतलब किसी वस्तु का पूर्ण रूप से गढ़ा हुआ मानसिक चित्र है। वह वस्तु चाहे कोई विशेष स्थान हो या कोई कहानी हो अथवा कोई घटना हो या कोई विशेष पात्र हो। उसके अनुसार इन्हीं मानसिक चित्रों या बिम्बों के द्वारा संवेगों की अभिव्यंजना होती है। क्रोचे के लिए सहज ज्ञान अपने आप में बिम्ब (image) या प्रतिच्छवि है, लेकिन इस प्रतिच्छवि में उस प्रतिच्छवि से अन्तर है जो बाह्य वस्तु को देखने से दर्शक के मन में उत्पन्न होती है। अभिव्यंजना का ऐसा संश्लेषण (synthesis) कहा गया है जो अनुभूति के पूर्व सम्पन्न हो जाता है। संवेग का अस्तित्व तब तक संभव नहीं जब तक कि वह अभिव्यक्त न हो और बिम्ब (प्रतिच्छवि) का अस्तित्व संवेग की अभिव्यंजना में ही संभव है। और चूंकि सहजज्ञान वास्तव में अभिव्यंजना ही है अर्थात् सहज ज्ञान और अभिव्यंजना अभेदात्मक हैं, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहजज्ञान है अथवा सौन्दर्य अभिव्यंजना है।

बिना अभिव्यंजना (expression) के सहजज्ञान (intuition) मन में घटित ही नहीं होता। किसी वस्तु का जानना, उसका ज्ञान होना और कुछ नहीं, अपने ही भीतर उसकी अभिव्यक्ति है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु का हमे ज्ञान है तो उसका मतलब यह है कि उसकी अभिव्यंजना हम अपने भीतर करते हैं। अगर हम किसी वस्तु को जानने की बात कहते हैं और उसे अभिव्यक्ति नहीं दे सकते तो कम से कम इसका अर्थ इतना तो अवश्य हो जाता है कि हम उस वस्तु के सम्बन्ध की जानकारी दूसरों तक नहीं पहुंचा सकते। अगर हम उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकें तो उसके होने न होने का कोई प्रमाण नहीं दे सकते। लेकिन यह स्वीकृति भी क्रोचे के लिए पर्याप्त नहीं है। हमारा शब्दों द्वारा प्रकट करना, गाना अथवा चित्र बनाना क्रोचे के लिए मात्र व्यावहारिक दृष्टि से बाहर प्रकट करना है। कलात्मकता को ध्यान में रखकर क्रोचे इसे अनावश्यक कहता है। उसका कहना है कि बाहर प्रकट करने की यह क्रिया अन्तर के सहजज्ञान-अभिव्यंजना की प्रक्रिया का अनुगमन कर भी सकती है अथवा नहीं भी कर सकती है। क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान या स्वयंप्रकाश ज्ञान कलाकार के अपने ही मन के भीतर अभिव्यक्त होता है या रूपायित होता है और जैसे ही यह क्रिया सम्पन्न होती है, सौन्दर्य का सर्जन पूरा हो जाता है। पत्थरों में, रंगों में, स्वरों में तथा शब्दों में उस सौन्दर्य को रूप देने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि उसके द्वारा हम सहजज्ञान (intuition) को सुरक्षित रखना चाहते हैं तथा उसे दूसरों तक पहुंचाना चाहते हैं। यह अन्तर का सहजज्ञान ही अपने आप में सुन्दर है, बाहर इन्द्रियगोचर कलाकृतियों में इसका प्रकटीकरण नहीं। अगर सुविवेचित ढंग से कहा जाय तो किसी बाह्य वस्तु को चाहे वह प्रकृति-उद्भूत हो, प्रकृति की देन हो अथवा कलाकृति को, सुन्दर कहना गलत है। सौन्दर्य केवल मानव-आत्मा की, केवल सहजज्ञान की विभूति है। अतएव सौन्दर्य क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान है, अभिव्यंजना है, रूप (form) है।

सहजज्ञानपरक क्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए क्रोचे ने बतलाया है कि उतने ही सहजज्ञान (intuition) पर हमारा अधिकार रहता है जितने को हम अभिव्यंजना देते हैं। उसका कहना है कि अभिव्यंजना से उसका तात्पर्य केवल शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करने से ही नहीं है बल्कि उसके साथ ही रंग, स्वर आदि से भी अभिव्यक्त करने से है। संवेदना (feeling) अथवा प्रभाव (impression) शब्दों के सहारे अन्तर के निभृत प्रान्त से चिन्तनशील मन में आकर स्पष्ट होते हैं। इस प्रक्रिया में सहजज्ञान और अभिव्यंजना को अलग कर नहीं देखा जा सकता क्योंकि वे दो नहीं हैं। उनमें अभेद है। उसका कहना है कि साधारणतः लोगों के मन में यह भ्रम है कि उनके भीतर यथार्थ का एक अत्यन्त ही पूर्ण सहजज्ञान वर्तमान है। क्रोचे ने बतलाया है कि बहुत लोग कहते हैं कि उनके मन के

भीतर बहुत-से भाव हैं, लेकिन कठिनाई यह है कि वे उन्हें अभिव्यक्ति नहीं दे पाते। क्रोचे का कहना है कि यह गलत है, क्योंकि अगर ऐसी बात होती तो वे सुन्दर शब्दों में उन्हें अभिव्यक्त कर सकते थे। क्रोचे इस बात को मानने को तैयार नहीं कि हम सभी चित्रकार, मूर्तिकार की तरह दृश्यों, आकृतियों का सहजज्ञान अपने भीतर उपलब्ध करते हैं लेकिन उन्हें रूप इसलिए नहीं दे सकते कि चित्रकार तथा मूर्तिकार के समान उन्हें रूप देने का हुनर हमें प्राप्त नहीं। *रफाएल चित्रफलक पर मैडोना को उतारने में इसलिए सफल नहीं हुआ कि उसे अंकन की कुशलता प्राप्त थी बल्कि उसे 'देखने' की शक्ति प्राप्त थी।* जिसे चित्रकार या मूर्तिकार 'देखता' है उसकी मात्र एक झलक हम पाते हैं अथवा किंचित् उसका स्पर्श हम कर पाते हैं। क्रोचे का कहना है कि हम समझते हैं कि हम एक मुसकान देख पा रहे हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि उसकी एक स्पष्ट छाप ही हमारे मन पर पड़ती है। सम्पूर्ण की विशिष्टता हमारी पकड़ाई में नहीं आती। *क्रोचे के अनुसार सहजज्ञान बुद्धि का व्यापार नहीं है।*

इस प्रकार से क्रोचे के सहजज्ञान और अभिव्यंजना के सिद्धान्त के अनुसार कलाकार के मन के भीतर ही रचना की क्रिया चल रही है और उसकी अभिव्यंजना भी उसके अन्तर में ही हो रही है। उसके अन्तर में जो भाव-तरंगें बनती-बिगड़ती हैं वे केवल उसी के लिए हैं। फिर भी वह मानता है कि एक ऐसा क्षण आता है जब कलाकार भीतर की उस अभिव्यंजना को बाहर प्रकाशित करता है। लेकिन इस बाहर प्रकाशित करने के साथ जो वास्तविक कलात्मक क्रिया है उसे कुछ लेना-देना नहीं। कलाकार प्रेरणा के स्वाधीन क्षणों में ही कलाकार रहता है, उन क्षणों में वह अपने विषय को लिए हुए गौरवशाली बना रहता है। इस प्रकार वह अपने को जो गौरवशाली अनुभव करता है वह कैसे संभव हो पाता है, यह वह नहीं जानता। अन्तर की यह अभिव्यंजना जब सफलतापूर्वक अपने आपको उद्घाटित करती है तब वह 'सुन्दर' हो उठती है। अभिव्यंजना की सफलता कलाकार को अत्यन्त आनन्द प्रदान करती है। अभिव्यंजना के द्वारा जैसे वह अपने आप से भी मुक्ति लाभ करता है। मन के भीतर जो कुछ कलात्मक क्रिया सम्पन्न होती है उसे ही क्रोचे कलात्मक कृति मानता है (The work of art is always internal, and that which is called external is no longer a work of art)। चित्र, काव्य, मूर्ति आदि को वह केवल स्मरण दिलाने में 'सहायक' अथवा 'उत्तेजना प्रदान करने वाला' मानता है जिसमें कि कलाकार अपने सहजज्ञान (intuition) को फिर से मन में ला सके। अतएव जब इन कलाकृतियों को हम 'सुन्दर' कहते हैं तो इसका मतलब यह है कि उनसे हमें इस बात में सहायता मिलती है कि मन की उस अवस्था को जिसमें हमारे भीतर सुन्दर सहजज्ञान वर्तमान थे, हम फिर से प्राप्त कर सकें।

क्रोचे का कहना है कि जीवन का कोई भी पहलू कलाकार की कृति के लिए उपयुक्त हो सकता है। इसमे कुछ आता-जाता नही कि वह पहलू कैसा है। इस दृष्टि से विषयवस्तु का विभाजन कर किसी विशेष भाग को श्रेष्ठ और उत्तम कहना और दूसरे को निकृष्ट कहना कोई अर्थ नही रखता। वास्तव मे कलाकार की श्रेष्ठता उसकी अन्तर्दृष्टि मे है जिसकी अभिव्यंजना वह कल्पना के सहारे करता है। कोई भी वस्तु कलाकृति के लिए उपयुक्त है तथा उसके अच्छा या बुरा होने का प्रश्न नही उठता, क्रोचे के इस कथन का दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ है। इस कथन की आड मे बहुतों ने कलात्मक सृष्टि मे मनमानी की है। लेकिन वे इसे मनमानी नही मानते। उनका कहना है कि उनके मन के भीतर के वे ही भाव हैं, जो उस रूप मे उसके अन्तर में प्रकट हुए हैं और उन्हें ही उन्होंने बाह्य रूप मे प्रकट किया है। अब किसी के अन्तर के भाव का कोई कैसे गलत साबित कर सकता है? चूकि कहा जाता है कि कला सम्पूर्ण रूप से अनुभूतियो का अन्तर मे रूपायित करना है और अगर इस बात को मान लिया जाय तो उसकी आलोचना नही हो सकती, क्योंकि उसे किसी सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं, सिवाय इसके कि वह कलाकार की निज की प्रकृति से प्रभावित होती है।

यहा एक भ्रम हो सकता है कि क्रोचे कला के क्षेत्र मे स्वेच्छाचार को प्रश्रय दे रहा है। लेकिन बात ऐसी नही है। उसका कहना है कि कलाकार जब कला को बाह्य रूप देने लगता है तब उसकी कलात्मकता का अन्त हो जाता है और उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। क्रोचे का कहना है कि कलाकार अपने अन्तर के सभी भावो को रूप नही देता बल्कि कुछ सहजानुभूतियो (intuitions) को चुन लेता है और उन्हें ही रूप देता है (We do not externalize all our impressions We select from the crowd of intuitions)। कलाकार जब 'वस्तु' को बाह्य रूप देने मे प्रवृत्त होता है तो मानो वह अपने प्रकृत दायरे को छोडकर सामाजिक दुनिया म प्रवेश करता है जहां आर्थिक व्यवस्था, नैतिकता तथा प्रचार अपने महत्व को लिए हुए आ उपस्थित होते है। कलाकार के चयन करने की प्रक्रिया पर आर्थिक जीवन और नैतिक आदर्श का प्रभाव पडकर ही रहेगा। इसे क्रोचे निचला प्रभाव क्षेत्र कहता है। उसके अनुसार इस क्षेत्र मे प्रवेश करने पर कलाकार को वह स्वतन्त्रता नही रह जाती जिसे कलाकार की स्वतन्त्रता कहते हैं। इस क्षुद्र जगत् म अब उसे आचार विचार नैतिकता आदि को ध्यान म रखना होगा।

क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'ला पाएजिआ' (सन १९३६ ई०) मे कविता के सिद्धांतो पर पूरी तरह स प्रकाश डालने का प्रयास किया है। क्रोचे के अनुसार काव्य मे मुख्य रूप से सवेगो (emotions) की अभिव्यंजना बिम्बो क रूप म अपना अस्तित्व बनाए रहती है। उसके अनुसार काव्य क जितने भी प्रकार है

सभी मूलत. प्रगीतात्मक होते हैं। काव्य चाहे आख्यानमूलक हो, चाहे नाटक के रूप में हो, उसमें एक ही मन स्थिति की अभिव्यक्ति रहती है। उसमें आए भिन्न-भिन्न पात्र, परिस्थितियां अथवा क्रियाकलाप उसी एक ही मन स्थिति के भिन्न-भिन्न रगों, सवेगो और स्वर सगतियों की अभिव्यजना है। इस प्रकार से काव्य में तीन बातो पर ध्यान देने की आवश्यकता आ पड़ती है—एक तो बिंब, दूसरी प्रगीतात्मकता या सवेगो की अभिव्यक्ति और तीसरी बिबो तथा सवेगो का समुचित सयोजन। अगर काव्य उत्तम है तो उसमें इन तीनो का सफलतापूर्वक सतुलन नियोजित रहेगा। काव्य को तभी त्रुटिपूर्ण कहा जाएगा जबकि बिबों पर उसकी सवेगात्मकता हावी हो जाय अथवा बिबो की अपेक्षा सवेग शिथिल पड़ जाए अथवा दोनों का सयोजन समुचित ढग से नहीं हुआ हो।

कविता में सवेदनाओ (feelings) के मात्र प्रदर्शन की क्रोचेने सब समय कटु आलोचना की है। रचनाकार के रुझान तथा सवेदना की जानकारी के लिए आलोचकों के आग्रह को भी वह अनुचित मानता है। अपने 'इस्थेटिक' में रचनाकार या पाठक के नैतिक क्रियाकलापो की ओर ध्यान देने को वह ठीक नहीं मानता। काव्य की चर्चा करते हुए क्रोचे ने बतलाया है कि उसमें सवेदना सहजानुभूति के रूप मे इन्द्रियग्राह्य हो उठती है। उसम सवेदना की अभिव्यजना हुई है, इसीलिए जिस प्रकार हमारे दैनदिन जीवन में हम उनसे जितना कष्ट पाते हैं वैसा काव्य मे नही पाते। क्रोचे का कहना है कि सवेदना की अभिव्यजना काव्य म पूर्ण रूप से बिबो का आकार धारण कर लेती है। बिबों की इस समष्टि से सवेदना, चिन्तन और मनन का विषय बन जाती है, अतएव उसे विघटित भी किया जा सकता है और उसस परे हो ऊपर भी उठा जा सकता है। अतएव क्रोचे का कहना है कि कविता को न सवेदना कहा जा सकता है, न बिंब कहा जा सकता है और न इन दोनों का योगफल। उसके अनुसार कविता को सवेदनाओं का चिन्तन-मनन अथवा प्रगीतात्मक सहजानुभूति कहा जा सकता है। क्रोचे के लिए प्रगीतात्मक सहजानुभूति ही विशुद्ध सहजज्ञान है, अतएव वह कविता को विशुद्ध सहजज्ञान भी कहता है। *विशुद्ध से उसका तात्पर्य यह है कि कविता जिन बिंबों के* सहारे बुनी गई है उन बिबो की यथार्थता अथवा अयथार्थता का न ऐतिहासिक और न तर्कमूलक सकेत सहजानुभूति (intuition) में रहता है बल्कि उसमें जीवन का आदर्श रूप मे स्पन्दन रहता है।

इसी प्रकार प्रगीत के सम्बन्ध म क्रोचे का कहना है कि वह (सवेदनाओं का) उँडेल देना नहीं है। उसकी दृष्टि में वह न क्रन्दन है और न आह भरना। क्रोचे प्रगीत को इन्द्रियग्राह्य बनाना (objectification) मानता है जिसमें 'अहं' अपने-आपको रगमच पर देखता है, अपनी कहानी कहता है, अपने आपको नाटकीय भगिमा में प्रस्तुत करता है। प्रगीतात्मकता की यह प्रवृत्ति महाकाव्य अथवा

नाटक मे निहित कविता का रूप लेती है। अतएव महाकाव्य और नाटक केवल बाहर से देखने मे ही प्रगीतो से भिन्न है।

कविता के वैशिष्ट्य की चर्चा करते हुए क्रोचे ने कहा कि जीवन के क्रिया-कलापो, सवेगो तथा विचारो का कविता के वक्तव्य-विषय मे जब उदात्तीकरण होता है तब ये विचार, आलोचना और विमर्श करने वाले विचार नही रह जाते। इसी प्रकार अच्छे या बुरे क्रियाकलाप भी वही नही रह जाते और न हमारे सच-मुच के अनुभव किए हुए सुख-दु ख ही वही सुख-दु.ख रह जाते हैं। बिंबो मे रूपान्तरित होकर ये अब केवल शान्त और उपशमित आवेग और सवेदना बनकर रह जाते हैं। यही कविता का जादू है। इस जादू के प्रभाव से शान्ति और हलचल तथा भावावेश और उसका नियत्रण करने वाले मन का ऐक्य साधन होता है। यह ऐक्य चिन्तन और मनन द्वारा सपन्न होता है। चिन्तन और मनन की विजय तो यह अवश्य है, फिर भी इसके पहले उसे जो सघर्ष मे रत रहना पडा है उसकी थरथराहट अभी भी उसमे बनी हुई रहती है। क्रोचे आगे यह भी कहता है कि काव्य-प्रतिभा एक ऐसे कठिन और सकीर्ण मार्ग का अनुसरण करती है कि जिसमे आवेग प्रशमित रहता है और शान्ति मे आवेग बना रहता है। इस मार्ग मे एक ओर स्वाभाविक सवेदना बनी रहती है और दूसरी ओर प्रवृत्ति से दुबारा हटाई हुई आलोचना और विमर्श बने रहते हैं। यह ऐसा मार्ग है कि लघु प्रतिभा (minor talents) अति सहज भाव से एक प्रकार की कला की ओर झुक पडती है जो या तो भावावेश से विकम्पित और विकृत होती है अथवा जो भावावेश-रहित होती है और विचारो से परिचालित होती है। इनमे से एक को रोमांटिक और दूसरी को क्लासिकल कहकर अभिहित किया जाता है। दोषयुक्त कविता मे या तो बिंब की अपेक्षा सवेग (emotion) का आधिक्य होता है अथवा सवेग अत्यन्त ही न्यून मात्रा मे होता है।

क्रोचे के अनुसार अभिव्यजना की क्रिया के पूर्व अभिव्यजना की शैली का कोई अस्तित्व नही रहता। किसी प्रकार की काव्यात्मक शब्दावली को वह नही स्वीकार करता। उसे यह भी मानने मे सकोच है कि काव्य कोई बनी-बनाई शैली होती है या उसकी सरचना का कोई सिद्धान्त होता है। अगर काव्य की कोई शैली है, सरचना का कोई सिद्धान्त है तो वह किसी विशेष कविता तक ही सीमित है। वह उसी पर लागू होता है। अन्य कविता के लिए उसे आदर्श नहीं माना जा सकता। क्रोचे के अनुसार भाषा की सृष्टि निरन्तर चलती रहती है। अविच्छिन्न भाव से भाषा का सर्जन होता रहता है। क्रोचे के अनुसार भाषा के द्वारा जो अभिव्यक्ति हो चुकी है उसे दोहराया नहीं जा सकता। सतत नये प्रभाव (impressions) स्वर और अर्थ मे निरन्तर परिवर्तन लाते रहते हैं। दूसरे शब्दो मे, कहा जा सकता है कि वे सदैव नई अभिव्यक्तियो को प्रस्तुत करते

हैं। *अतएव क्रोचे का कहना है कि आदर्श भाषा की खोज करने का अर्थ गति*-शीलता को अवरुद्ध करना है। अतएव क्रोचे इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं कि भाषा पहले से बने हुए अस्त्रों का भाडार है। वह यह भी नहीं *मानता कि कविता के लिए कोई विशेष शब्दावली है।* वैसे उसे यह स्वीकार करने में सकोच नहीं कि अभिव्यजना की प्रत्येक क्रिया पहले की अभिव्यजना की क्रियाओं को कच्चे माल के रूप में व्यवहार करती है और उसका उपयोग नई *अभिव्यजना के लिए करती है। प्रत्येक बिंब को वह पहले के प्रयुक्त बिंबों का* सश्लेषण मानता है और मानता है कि नये सवेग की दृष्टि में रखकर नये ढंग से उन्हें नियोजित किया जाता है। अपनी पुस्तक 'ला पोएज़िआ' में उसने स्वीकार *किया है कि पहले से चले आते हुए काव्य के रूप तथा ढाँचे भले ही नियमन* करने वाले न हों, फिर भी वे पहले की अभिव्यजनाओं की याद दिलाते हैं। क्रोचे का कहना है कि कवि को उन्हें ध्यान में रखना चाहिए और मन पर उनकी *क्रियाओं और प्रभावों को चलते रहने देना चाहिए क्योंकि उनमें से कुछ एक नई* अभिव्यजना के अग बन जाएंगे। वैसे यह कैसे हो जाता है, पहले से उसके बारे में कुछ कहना अथवा कल्पना करना कठिन है। अनुवाद के सबध में क्रोचे का मत *है कि उससे या तो मौलिक रचना का रूप विनष्ट हो जाता है या कमजोर हो* जाता है अथवा वह अनुवाद एक नई अभिव्यजना का रूप ले लेता है। उसका यह भी कहना है कि कलात्मक कृतियों के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि *एक ही विषय को लेकर सामान्य रूप से बहुत-से रचनाकार रचना में प्रवृत्त रहते* हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि उसे उपयुक्त रूप देने में वे सफल हों, फिर भी वे उस (उपयुक्त रूप) की ओर अग्रसर होते रहते हैं। इस स्थिति में यह दावा *किया जाता है कि हम आगे बढ़ रहे हैं। और यह क्रम तब तक चलता रहता है* जब तक कि कोई रचनाकार आ उपस्थित होता है और उसे स्थिर रूप दे देता है। क्रोचे का कहना है कि इस रूप देने के साथ ही आगे बढ़ने का क्रम समाप्त हो जाता है। अतएव वह अभिव्यजना के किसी भी प्रकार के वर्गीकरण अथवा किसी कला की सीमा निर्धारित करने के किसी भी विचार के पक्ष में नहीं है। क्रोचे के इस सिद्धान्त-निर्धारण के पीछे यह बात काम करती रही है कि साहित्य के क्षेत्र में आज तक कोई भी विचारक ऐसा नियम-कानून प्रतिष्ठित करने में सफल नहीं हो सका है जिसका उल्लघन बाद के कवियों ने न किया हो। यद्यपि यह सही है कि कवि अपनी रचना के लिए जिन उपकरणों अथवा छन्द सम्बन्धी तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों का सहारा लेता है वे रूढ़िगत हैं, लेकिन उसकी रचना-विधि का नियम ही ऐसा है कि उन्हें लेकर वह कुछ भिन्न, कुछ अभिनव करेगा ही।

अच्छी कविता की परिभाषा करने के जो प्रयत्न आलोचकों ने किए हैं उन्हें

वह बिलकुल मानने को तैयार नहीं। उसका कहना है कि जब हम क्लासिकल, रोमांटिक, प्रतीकवादी तथा यथार्थवादी शब्दों का प्रयोग कविता के संदर्भ में करते हैं तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि एक विशेष, निश्चित दृष्टि से हम कविता का मूल्यांकन करते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि विशेष दृष्टिभंगी को लेकर आलोचकों ने कविता के मूल्यों का निर्धारण किया है और काव्य के मूल्यांकन में हम उनका उपयोग कर सकते हैं। लेकिन क्रोचे का कहना है कि थोड़ा विचारकर देखें तो उपर्युक्त चार शब्दों द्वारा मूल्यों के निर्देश का जो प्रयत्न किया गया है उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से भी हो सकती है। जैसे क्लासिकल कहने से दो अर्थों का बोध हो सकता है कि रचना कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है अथवा यह भी कि वह निर्मम और तटस्थ भाव से कृत्रिम (coldly artificial) है। इसी प्रकार रोमांटिक से भी या तो यह अर्थ निकाला जा सकता है कि रचना सचमुच में भावप्रवण और संवेदनशील है अथवा यह कि वह अनियंत्रित और भावुकतापूर्ण है। यथार्थवादी का अर्थ यथवत् अनुकरण अथवा स्पष्ट रूप से जीवन्त तथा पूर्ण रूप से जैसा कि जीवन है उसके अनुरूप है। प्रतीकात्मक का अर्थ यह लिया जा सकता है कि रचना में यथार्थ के साथ अनुप्रेरित होकर स्वाधीनता बरती गई है अथवा यह भी हो सकता है कि वह निष्प्राण अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस तरह से हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इन चारों का अर्थ एक ओर कलात्मक होता है तो दूसरी ओर कलात्मकता का अभाव। अतएव क्रोचे का मत यह है कि किसी भी आलोचनात्मक शब्द में यह विशेषता नहीं है कि वह कलात्मकता का बोध कराए ही। अतएव कलाकृति का मूल्यांकन कोई सुनिश्चित, सुनिर्धारित वस्तु नहीं है।

क्रोचे ने बतलाया है कि यह हमारा भ्रम है कि किसी कविता में प्रयुक्त स्वरों और ध्वनियों से हम आनन्द प्राप्त करते हैं। वास्तव में कविता हमारी कल्पना को उद्दीपित करती है जिसके द्वारा हमारे भावों का उद्दीपन होता है। क्रोचे के लिए अभिव्यंजना की इकाई वाक्य है, शब्द नहीं। उसके अनुसार अलग-अलग पड़े शब्द अर्थ की दृष्टि से निरपेक्ष और अमूर्त हैं और उन्हें शब्दकोशों में ही स्थान मिल सकता है। किसी संदर्भ में प्रयुक्त होकर ही कोई शब्द किसी अर्थ की इकाई का प्रतिनिधित्व कर सकता है। क्रोचे का कहना है कि वाक्य से विच्छिन्न कर शब्द, पद आदि का विवेचन कर जो अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है उससे कलात्मकता खंडित होती है। पर इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि किसी रचना के एक वाक्य को जिस तरह दूसरे वाक्य से अलग कर देखा जा सकता है तो यह बात शब्द पर क्यों नहीं लागू हो सकती ?

आलोचना के क्षेत्र में क्रोचे की देन पर प्रकाश डालते हुए विमसाट ने बतलाया है कि क्रोचे ने सभी प्रकार की उपदेशात्मक आलोचना का विरोध किया है।

सभी प्रकार के वैज्ञानिक, यथार्थवादी, सूचनात्मक तथा नि.सकोच भाव से अनुकरणमूलक मानदण्डो को अपनाने के विरुद्ध क्रोचे ने अपना मत प्रकट किया है। आलोचना को नियम-कानून से जकड देने को भी वह ठीक नही मानता। वह यह स्वीकार करने को तैयार नही कि वक्तव्य-विषय (content) और वस्तु-विधान (form) को अलग-अलग माना जाए। क्रोचे साहित्यिक कृति के अगो का अध्ययन सपूर्ण को ध्यान म रखकर करने को उचित मानता है। कलाकृति की समग्रता मे अध्ययन पर वह बल देता है। क्रोचे ऐतिहासिक अध्ययन को ठीक तो मानता है लेकिन उसी हालत मे जबकि वह सही ढग से किया जाय और उससे कृति के सर्जन के मूल मे जो परिस्थितिया वर्तमान थी उनको स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

क्रोचे के सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत-से तर्क उपस्थित किए गए है। कहा जाता है कि कुछ स्थलो पर क्रोचे ने रचनाकार का जो रूप उपस्थित किया है, उसके काव्यात्मक व्यक्तित्व का जो सकेत किया है वह अतिरजित है। बीसवी शताब्दी के प्रारभ मे कम से कम अग्रेजी साहित्य के आलोचको मे आलोचना के लिए सच्चाई, स्वच्छन्दता, स्वत प्रवर्तिता, प्रामाणिकता आदि को महत्त्व देने की प्रवृत्ति जो देखी जाती है उसकी प्रेरणा क्रोचे के उस सिद्धान्त से मिली जिसमे उसने उन सहजानुभूतियो पर बल दिया है जिनकी बाह्य अभिव्यक्ति नही हुई है। आलोचना के क्षेत्र मे क्रोचे ने विवेचना करके प्रभाववाद को प्रश्रय दिया। क्रोचे के मत को लेकर सबसे बडा आक्षेप इस बात को लेकर किया जाता है कि आलोचन की मनोसिकल पद्धति के प्रति विरुद्ध मनोभाव के कारण उसने प्राय सभी प्रकार के आलोचनात्मक विश्लेषण का वर्जन कर दिया। इस प्रकार के वर्जन का अर्थ यह हो जाता है कि साहित्यिक कृति को अखण्ड वस्तु के रूप म देखे जाने के वह विरुद्ध है। कृति अर्थ की एक समष्टि है जैसे इस ओर से भी क्रोचे का सिद्धान्त हम विमुख करता है। क्रोचे के सिद्धान्त म अक्षरार्थ और प्रतीकात्मक अर्थ म जैसे भेद मिट-सा गया है। एक प्रकार से हमारे सहजज्ञान को समृद्ध करने के लिए किए जाने वाले किसी भी प्रयत्न के वह पक्ष म नहीं प्रतीत होता। वह जैसे हमे इसी बात से सतोष कर लेने के लिए कहता है कि सहजानुभूति अपने आप बिजली की तरह कौंध उठेगी। यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा कि इस सबध मे स्वय क्रोचे का दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है।

स्काट जेम्स ने क्रोचे के मत के विरुद्ध और भी निम्नलिखित कुछ आपत्तियाँ का उल्लेख किया है। मनोविज्ञान के पडितो ने क्रोचे के सहजज्ञान के विरुद्ध दो आपत्तियाँ उपस्थित की है— (१) क्रोचे के मतानुसार सहजज्ञान (intuition) मे धारणाओ और विचारो का किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता तथा वह सभी प्रकार के बौद्धिक तत्त्वो से मुक्त होता है। लेकिन मनोविज्ञान के पडितो का

कहना है कि इस प्रकार के सहजज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। चेतना के एक तत्त्व के रूप में ही उसका अस्तित्व संभव है। अपने आप वह अकेला नहीं रह सकता, जैसा कि क्रोचे का मत है। (२) दूसरी आपत्ति यों उठाई जाती है—क्रोचे का मत है कि सहजज्ञान रूपायित होता है लेकिन सहजज्ञान का यह रूप स्थान (space), काल (time) तथा धारणा (concept) से अतीत होता है। मनोविज्ञान के पंडितों का कहना है कि इन्हें छोड़कर किसी रूप की कल्पना मानव-मन के लिए संभव नहीं।

क्रोचे के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ अन्य आपत्तियाँ भी उठाई जाती हैं। जैसे कहा जाता है कि कला का काम कलाकार के भावों को दूसरों तक पहुँचाना है, लेकिन क्रोचे ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। दूसरे, कला के पारखी इस बात को नहीं भूलते कि कलात्मक कृति का प्रभाव दूसरों पर कैसा पड़ता है। क्रोचे यह मानने को तैयार नहीं कि कलाकार का कार्य कलाकार के रूप में अपनी सहजानुभूति को सम्प्रेषित करना है और उसे दूसरों तक पहुँचाना है। वैसे दूसरे लोग इसे सर्जनात्मक आवेग का मुख्य तत्त्व मानते हैं। सबसे बड़ी आपत्ति यह उठाई जाती है कि एक ओर तो यह कहा जाता है कि कलाकार की अन्तश्चेतना (intuition) उसकी अपनी निज की अनुभूतियों से प्रसार पाती है, लेकिन दूसरी ओर क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार कला के प्रेमी से इस बात की अपेक्षा रहती है कि दूसरी एक अन्य वस्तु के सहारे, जो उससे बाहर की है, उसकी अन्तश्चेतना का प्रसार हो। उससे बाहर की यह अन्य वस्तु कलाकृति का रूप विशेष है। क्रोचे के सिद्धान्त के विरुद्ध यह एक बड़ी कठिनाई आ उपस्थित होती है। क्रोचे के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जाती है कि उसमें 'जीवन' की उपेक्षा की गई है। कहा जाता है कि कलाकार 'जीवन' को देखता है और उस 'देखने' को दूसरों के लिए चित्रित करता है। इस प्रकार अपनी कला के द्वारा वह अपनी 'दृष्टिभंगी' को अभिव्यंजित करता है, लेकिन इस अभिव्यंजना का माध्यम ऐसा होना चाहिए जो सबका परिचित हो, जिसे सब समझ सकें। अतएव यह माध्यम भी 'जीवन' से ही लेना पड़ता है। क्रोचे के सिद्धान्त में यह बात नहीं पाई जाती।

यथार्थवाद और प्रकृतिवाद

यथार्थवाद की चर्चा करते समय आलोचकों का ध्यान बरबस उपन्यास की ओर जाता है। वास्तव में, सामान्य रूप से उपन्यास को दृष्टि में रखकर ही यथार्थवाद की चर्चा की जाती रही है। उपन्यास आदि साहित्य की विधाओं अथवा अन्य कलाओं के रूप-विधान तथा कथ्य में काल और परिवेश के परिवर्तन के साथ अंतर आ जाता है, अतएव साहित्य में यथार्थवाद की चर्चा जब हम करते हैं, तब स्पष्ट ही हमारे लिए यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि समय के परिवर्तन के साथ यथार्थवाद के स्वरूप में भी परिवर्तन अनिवार्य है। वर्तमान काल के लिए जो यथार्थ है, कोई आवश्यक नहीं कि भविष्य में भी उसका स्वरूप वही रहेगा। समाज में जो परिवर्तन होते हैं, उनसे साहित्य की विभिन्न विधाओं में तकनीक की दृष्टि से परिवर्तन होता है, अतएव कहा जा सकता है कि यथार्थवाद वास्तव में साहित्य की विधाओं की तकनीक का बदलते हुए काल के साथ तालमेल बनाए रखने का प्रयत्न है और यह प्रयत्न एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में लगातार चलता रहता है। इस प्रयत्न का स्पष्ट रूप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास में अधिक देखने को मिलता है।

यथार्थवाद को नाना भाव से समझने का प्रयास किया गया है। कहा जाता है कि यथार्थ चित्रण, वस्तुओं का तथ्यात्मक वर्णन यथार्थवाद है। वास्तविकता जैसी प्रतीति (verisimilitude) का सिद्धान्त ही यथार्थवाद है। विलियम डीन हॉवेल्स का कहना है कि यथार्थवाद वस्तु का यथातथ्य चित्रण है और वास्तविक से न उसे कम होना चाहिए, न बेसी। यथार्थवाद की एक और परिभाषा में कहा गया है कि कलाकृतियों का यह वह तत्त्व है, जिससे मनुष्य के सहज, स्वस्थ मन को लगता है कि वास्तव का यही असली और सच्चा रूप है और अत्यन्त सहज भाव से बड़ी सरलता से वह वास्तविकता को ग्रहण करता है। कुछ लोगों ने यथार्थवाद को एक दृष्टिकोण माना है, जो इस बात में रुचि रखती है कि जीवन तथा प्रकृति का ब्योरेवार, जहां तक सम्भव हो, सही-सही चित्रण किया जाय।

एमिल ज़ोला ने 'विशुद्ध यथार्थवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार उपन्यासकार प्रकृति, मानव तथा वस्तुओं का चित्रण जो करता

है, लेकिन उसके लिए कल्पना का सहारा लेना, कथानक तथा कथा के विकास मे कुछ बँधे-बँधाये नियमो के कुशल प्रयोग को अपनाना तथा रहस्यमयता आदि कुछ विशेष अर्थ नही रखते, अर्थात् यथार्थ मे वह न कुछ बढाता है और न घटाता है। उसकी स्वाभाविक गति मे वह बाधा नही देता। इस प्रकार, ज़ोला के मत से किसी घटना की कल्पना अथवा उसे उलझनदार बनाना अथवा नाटकीयता लाने के लिए घटनाओ का ऐसा संयोजन, जो एक दृश्य के बाद अन्य दृश्य को उपस्थित करता हुआ चरम परिणति मे पर्यवसित होता है, कोई अर्थ नही रखता। ज़ोला के अनुसार उपन्यासकार किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह के जीवन को लेता है और उनके कार्यों का ईमानदारी के साथ सही-सही चित्रण करता है। इस चित्रण को एक प्रकार से 'रिपोर्ट' भी कहा जा सकता है। वैसे ज़ोला का यह भी कहना है कि उपन्यास मे उपन्यासकार की पैनी दृष्टि और सूक्ष्म विश्लेषण का परिचय मिलता है, साथ ही उसमे कार्यकारण-परम्परा का निर्वाह भी रहता है। ज़ोला यह नही स्वीकार करता कि उपन्यासकार का काम निर्णय देना है।

यथार्थवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले कहते है कि उपन्यासकार को जाने हुए तथ्यो तथा प्रकृति के निरीक्षण मे ही अपने को सीमित रखना चाहिए, नही तो वह गलत परिणामो पर पहुँचेगा। वे कहते है कि उपन्यासकार अगर यथार्थवादी चित्रण मे लगा हुआ है तो वह अपने व्यक्तित्व से उदासीन हो जाता है और अपनी भावनाओ पर अधिकार किये हुए रहता है और उसने जो देखा है, उसे ही चित्रित करता है। इस प्रकार से उसके चित्रण मे 'सत्य' आ जाता है और उसे देखकर चाहे कोई हँसे या कांपे या जो भी परिणाम निकालना चाहे निकाले। उपन्यासकार का काम, इस सिद्धान्त के माननेवालो के अनुसार, तथ्यात्मक आंकडो को पाठको के समक्ष रखकर अलग हो जाना है। एमिल ज़ोला का कहना है कि उपन्यासकार अगर किसी वस्तु के गुणगान अथवा किसी की भर्त्सना मे लग जाए तथा पाप-पुण्य के लेखा-जोखा मे प्रवृत्त हो जाय, तो उससे उसकी कृति अशक्त हो उठती है। और, जिन तथ्यो को वह पाठको के सामने रखने की चेष्टा करता है, वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं। उन तथ्यो का फिर कोई मूल्य नही रह जाता, क्योकि वे उपन्यासकार के राग-विराग से अनुरंजित होकर सामयिक महत्त्व के हो जाते हैं और कुछ ही दिनो मे उनका प्रभाव कम हो जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यथार्थवादी कल्पना की दुनिया मे नही भटकता बल्कि अपनी अनुभूतियो की वास्तविकता को लेकर ही उसका कारबार है। वह उन्हीं भावों और वस्तुओ का चित्रण करता है, जो उसके लिए सुपरिचित और सुस्पष्ट होते हैं। उन पर कल्पना की रंगीनियाँ चढाकर देखना उसे पसन्द नहीं। वह वास्तव जगत् की वस्तुओं को चित्रित करता है और उन्हें वास्तव ही

बनाए रखना चाहता है। उन्हें वह आदर्श का चोगा नहीं पहनाना चाहता। वैसे जो कुछ भी वह चित्रित करता है, उसमें कलात्मकता तो रहेगी ही, लेकिन कलात्मकता की रक्षा के लिए कल्पना का रंग चढ़ाकर वह अपने चित्र को धूमिल नहीं बनाना चाहता। पाठक के लिए उसका चित्रण सामान्य जीवन की वास्तविकताओं से मिलता-जुलता है।

यथार्थवादी उपन्यासकार इस बात की चिन्ता नहीं करता कि उसकी कृति में मनोरंजकता है या नहीं। वह वैज्ञानिक दृष्टि से अपने तथ्यों को देखता है और उनके चित्रण में पूरी-पूरी निर्वैयक्तिकता का परिचय देता है। इसका फल यह हुआ कि उसने जो कुछ भी देखा है, उसे ही चित्रित किया है और उस चित्र को देखकर पाठक नाक-भौं सिकोड़ते हैं। यथार्थवादी साहित्य की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) स्थान-विशेष के दृश्य तथा परिवेश का समावेश; (ख) समसामयिक घटनाओं, रीति-रस्मों और व्यवहारों को दृष्टि में रखना; (ग) स्थानों तथा व्यक्तियों का पुंखानुपुंख वर्णन, भले ही विषयवस्तु की दृष्टि से वे नगण्य हों और कोई महत्त्व न रखते हों; (घ) आंचलिक बोलियों अथवा भद्देपन का ज्यों-का-त्यों चित्रण; (ङ) विज्ञान तथा व्यापार के क्षेत्र में व्यवहार में आनेवाले शब्दों तथा उनके पारिभाषिक शब्दों को अपनाना और (च) दस्तावेजों, पत्रों, संस्मरणों आदि को अन्तर्भुक्त करना, जिससे वर्णित घटनाओं की तथ्यात्मकता की प्रतीति में सहायता मिले। यथार्थवादी कविताओं में कवि भावचित्रों को उपस्थित करने में दूर की कौड़ी छान लाने का प्रयास नहीं करता और प्रायः ही रूपकों की भाषा से अपना पिण्ड छुड़ाता है। कथ्य भाषा का ज्यों-का-त्यों प्रयोग और बहुत दूर तक गद्य की लयात्मकता को अपनाने की प्रवृत्ति यथार्थवादी कवियों में पाई जाती है। जीवन की सामान्य स्थितियों और समाज के निचले वर्ग के चित्रण की ओर यथार्थवादी कवियों का रुझान होता है।

साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद के सिद्धान्त का विकास यूरोप में, सन् १८३० ई० की फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद, हुआ और सन् १८५० से सन् १८८० ई० के बीच इस सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रभाव यूरोपीय साहित्य पर रहा। इस काल के यथार्थवादी साहित्य को कौम्ते (Comte) के दार्शनिक सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रेरणा मिली। कोम्ते ने अपने सिद्धान्त का प्रवर्तन सन् १८२२ ई० में किया। कोम्ते के सिद्धान्त का आधार वैज्ञानिक अन्वेषण था। उसका कहना था कि इन्द्रियग्राह्य दृश्यों का सहज-सरल चित्रण ही ज्ञान का सर्वोच्च रूपायन है। उसके अनुसार सत्य की जाँच का आधार जाने-माने तथ्य हैं। कोम्ते ने सभी विज्ञानों के पहले समाजविज्ञान को स्थान दिया। फायरबाक (Feuerbach) ने सन् १८४१ ई० और उसके बाद भी धर्म की विवेचना में

नृतत्त्वशास्त्र को अपनाया। वह अमरत्व आदि में विश्वास नहीं करता था। धर्म को उसने इस जगत् का बताया और अनन्त के साथ उसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार उसे मान्य नहीं था। उसने बतलाया कि वातावरण और परिवेश से ही मनुष्य प्रभावित होता है। वह जगत् जैसा है, उसका बनाना बिगाड़ना मनुष्य के हाथ में है। उस काल की वैज्ञानिक प्रगति ने भी साहित्यकारों और कलाकारों को प्रभावित किया। सन् १८३६ ई० में दागुर (*Daguerre*) ने फोटोग्राफी का आविष्कार किया। इससे भी कलाकार प्रभावित हुए। इस आविष्कार ने कला की उस शैली की ओर, जिसका उद्देश्य 'वस्तु' का ठीक ठीक चित्रण है, कलाकारों का ध्यान आकृष्ट किया। सुप्रसिद्ध चित्रकार कुर्बे (Courbet) की सन् १८५५ ई० की चित्र-प्रदर्शनी और फ्लाबेयर (Flaubert) के उपन्यास मादाम बोवारी (Madame Bovary), जो सन् १८५६ ई० में प्रकाशित हुआ, यथार्थवाद के उस काल के प्रतिनिधित्व करनेवाले नमूने माने जाते हैं। कुर्बे ने उपन्यास और काव्य के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसका कहना है कि गीतिकाव्य के रचयिता कवि को जीवन के प्रति निर्वैयक्तिकता का भाव बनाए रखना चाहिए। उपन्यास के सम्बन्ध में उसका कहना है कि उपन्यास का नायक जनसाधारण से लिया जाना चाहिए। वह पुण्यात्मा है या पापी, सुन्दर है या कुरूप, इस बात का विचार करना कोई अर्थ नहीं रखता। असली बात यह है कि उपन्यासकार को देखना चाहिए कि उसके उपन्यास का नायक, दैनन्दिन जीवन में जिस मनुष्य को हम देखते हैं, वह वही है या नहीं। लेकिन कुर्बे द्वारा प्रतिपादित यथार्थवाद का सिद्धान्त कुछ ही दिनों रहा। इस सिद्धान्त के माननेवाले फ्रांसीसी साहित्यकार अथवा कलाकार स्वयं ही अनुभव करते थे कि यथार्थवाद के इस सिद्धान्त की उपयोगिता भविष्य में आनेवाले यथार्थवाद के स्वरूप का मार्ग प्रशस्त करने तक ही सीमित है। कुर्बे द्वारा प्रतिपादित यथार्थवाद का सिद्धान्त समाजशास्त्र तथा सामान्य मनुष्य के जीवन को प्रधानता देनेवाला था। समाज के निम्नतर स्तर के चित्रण तक ही यह यथार्थवाद सीमित नहीं था, बल्कि भद्दा, कुरूप, कुरुचिपूर्ण और बीभत्स को भी वह अपनानेवाला था। फलस्वरूप, इस प्रकार के यथार्थवादी चित्रण में वैविध्य और वैचित्र्य का अभाव था, अतएव इसका प्रभाव समाप्त हो गया, लेकिन इसी यथार्थवाद ने बाद में प्रकृतवाद का रूप ले लिया, जो एमिल ज़ोला के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। ईसवी सन् की उन्नीसवीं शती में यथार्थवाद के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। ये विभिन्न रूप अपनी प्रकृति में एक-दूसरे से कभी-कभी इतने दूर जा पड़ते हैं कि यह समझना कठिन हो जाता है कि वास्तव में यथार्थवाद से क्या समझा जाए।

हम ऊपर देख चुके हैं कि ज़ोला आदि उपन्यासकारों ने जिस यथार्थवाद को

अपनाया, उसमें तथ्यगत वास्तविकता के चित्रण को अपने-आप में आदर्श माना गया, लेकिन उनके बाद के यथार्थवादी उपन्यासकारों ने इस दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्य के व्यक्तित्व का अध्ययन सहज नहीं है। बाहर जो कुछ दीख पड़ता है, केवल उसी का चित्रण कर देने-भर से ही मनुष्य के व्यक्तित्व को सामने नहीं लाया जा सकता। उसके भीतर का निहित सत्य अछूता ही रह जाता है

कला में 'यथार्थ' का प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है (क) जिस 'वस्तु' का चित्रण किया जा रहा है, उसके उपकरणों के चुनाव में और (ख) उन उपकरणों के प्रस्तुत करने के ढंग या चित्रण में। इसी को ध्यान में रखकर बहुत से आलोचकों ने यथार्थवाद को शैली-मात्र माना है, अर्थात् वस्तु के चित्रण के ढंग में ही 'यथार्थ' है। कुछ लोगों ने इसे उपकरणों के चुनाव का एक सिद्धान्त माना है, लेकिन इस चुनाव के सम्बन्ध में उनका अपना अलग दृष्टिकोण है। उनके मत से चुनाव करने की प्रक्रिया में कलाकार उस 'वस्तु' में अपने दृष्टिकोण का आरोप कर देता है और उसे ही दूसरों पर थोपता है, अतएव उसे यथार्थवाद नहीं कहा जा सकता। उनका कहना है कि जब यह कहा जाता है कि यथार्थवादी सम्पूर्ण 'सत्य' को जैसा-का-तैसा, बिना किसी प्रकार का रंग चढ़ाये चित्रित करता है, तब इसका मतलब यह हुआ कि कलाकार इस बात का ध्यान रखता है कि अपने चित्रण में चुनाव की अपनी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न दे और यह भी कि जो चित्र वह उपस्थित करने जा रहा है, उसमें पूरी निर्वैयक्तिकता का परिचय दे और पूरी ईमानदारी के साथ उसके ब्योरे को चित्रित करे।

आज पाश्चात्य देशों में यथार्थवाद का जो रूप देखने को मिलता है, उसमें पराजय की मनोवृत्ति को उत्तरोत्तर प्राधान्य मिलता गया है। आज का साहित्यकार या कलाकार आज के समाज का चित्र जब उपस्थित करता है, तब स्पष्ट ही देखने को मिलता है कि उसकी दृष्टि में आज का समाज विशृंखल हो गया है। सर्वत्र उसे बिखराव-ही-बिखराव दीखता है। पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों एवं कलाकारों की इस दृष्टि के विपरीत सोवियत रूस में यथार्थवाद का जो रूप देखने को मिलता है, उसे 'समाजवादी यथार्थवाद' कह सकते हैं। साहित्य और कला के क्षेत्र में सोवियत रूस में यथार्थवाद का उपयोग मार्क्सवाद को ध्यान में रखकर किया जा रहा है। वहाँ इस बात की अपेक्षा की जाती है कि समाजवादी समाज की प्रगति और उन्नति-साधन में साहित्य और कला सहायक हो। पाश्चात्य देशों में जिस यथार्थवाद को हम देखते हैं, उसे रूस में पूँजीवादी 'यथार्थवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। रूसी आलोचक इस यथार्थवाद की निन्दा करते हैं। उनके अनुसार पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी मनुष्यता, मानवतावाद आदि की घोषणा केवल मौखिक रूप से करते हैं, उसकी

स्थापना में गे हो, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं और इस सम्बन्ध में वे बिलकुल निश्चिन्त हैं। हमने देखा है कि यथार्थवाद ही ईसवी सन् की उन्नीसवीं शती में बड़ी तेजी से प्रकृतवाद में रूपान्तरित हो गया और इसके सिद्धान्तों को रूप देने में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार एमिल ज़ोला का बहुत बड़ा हाथ है। *यथार्थवाद से इसीलिए बहुत-सी बातों में प्रकृतवाद की समानता है।* प्रकृतवादी कहते हैं कि कला का वास्तविक अध्ययन प्रकृति का अध्ययन है। इसको स्पष्ट शब्दों में यों कह सकते हैं कि कलाकार अपने प्राकृतिक परिपार्श्व की प्रकृति और स्वरूप तथा व्यवहार का अध्ययन करता है और बिना बनाव-शृंगार के स्पष्ट रूप में उसे चित्रित करता है। प्रकृतवादियों का कहना है कि कलाकार का काम यह नहीं है कि किसी अगोचर सत्य अथवा रहस्यात्मक सत्ता को ढूँढे। *उनका यह भी कहना है* कि कलाकार इस बात का प्रयास नहीं करता कि आदर्श रूप में चित्रित कर अथवा सार्वभौम बहकर प्रकृति में जो कमियाँ उसे प्रतीत होती हैं, उन्हें पूरा करे अथवा प्रकृति में जो उसे दोष दीख पड़ें, उन्हें दूर करने का प्रयास करे। प्रकृति का मूल्यांकन भी वे कलाकार का काम नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्रकृति में *जिन तत्त्वों को वह सुन्दर मानता है और जिन्हें वह कलात्मक सौन्दर्य* का प्रतीक मानता है तथा जिन्हें वह आनन्द-प्राप्ति का मूल समझता है, उनका चयन कलाकार के लिए उचित नहीं। प्रकृतवादी कहते हैं कि कलाकार या साहित्यकार के लिए इतना ही यथेष्ट और उचित है कि अपने चारों ओर जो कुछ वह पाता है, जो कुछ वह देखता है, उसका चित्रण करे और उसकी छानबीन करे।

स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया प्रकृतवादियों में देखने को मिलती है। स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) वस्तुओं के उन गुणों को महत्त्व देता है जो हमारे *अन्तस्तल का स्पर्श करते हैं। उन गुणों के स्पन्दन का हमें बोध* होता है। फिर, स्वच्छन्दतावादी का मुख्य रूप से उन अनुभूतियों की ओर आकर्षण होता है, जिन्हें प्रकृति हमारे लिए सुलभ करती है। इस प्रकार से स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के कारबार में दखल देने पाता है। लेकिन प्रकृतवादी का झुकाव इस मनोवृत्ति से अधिक से अधिक बचने का होता है। वह प्रकृति को एक स्वतन्त्र सत्ता मानता है। प्रकृति की वस्तुओं में वह किसी प्रकार का आरोप नहीं करता, बल्कि उन्हें निरपेक्ष मानकर ही वह अपने चित्रण में प्रवृत्त होता है।

यथार्थवाद से भी प्रकृतवाद में कई बातों में अन्तर है। उन्नीसवीं शती में कला और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद रूपविधान के साथ 'सत्य' का तालमेल बिठाने का प्रयास करता रहा, जबकि प्रकृतवाद का ध्यान सामाजिक परिवेश के चित्रण की ओर गया और उसमें यह दिखलाने पर बल दिया गया कि पूँजीवादी समाज में मनुष्य की प्रकृति में कितनी विकृति आ गई है। उन्नीसवीं शती में यथार्थवाद का यह प्रयास रहा कि वह निरपेक्ष रहे और उसमें *निर्वैयक्तिकता हो,*

लेकिन प्रकृतवाद अधिक व्यक्तिनिष्ठ था। उसमें साहित्यकार के व्यक्तिगत भुकाव का पूर्ण परिचय मिलता है। समाज की बुराइयों के प्रति प्रकृतवादी उपन्यासकार का आक्रोश और उसमें सुधार लाने का उसका प्रबल आग्रह पूर्णतया उसकी रचना में देखने को मिलता है। यथार्थवाद को व्यापक दृष्टि से अगर समझने का प्रयास करें और उन्नीसवीं शती में ही अपने को सीमित न रखें, तो प्रकृतवाद के साथ उसका अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। यथार्थवाद को कहा जा सकता है कि कला के क्षेत्र में एक विशेष दृष्टिभंगी का वह परिचायक है। वास्तव में प्रति विभिन्न युगों में व्यक्तियों के यथार्थवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति बहुत-सी कलाकृतियों में देखने को मिलती है। अतएव, यथार्थवाद को एक विशेष काल में सीमित करके देखने का कोई अर्थ नहीं होगा, लेकिन प्रकृतवाद पूर्ण रूप से उन्नीसवीं शती की उपज है। तत्कालीन एक विशेष दार्शनिक मत से अनुप्राणित वह कला और साहित्य के क्षेत्र में एक आन्दोलन जैसा था।

प्रकृतवाद इस बात में विश्वास नहीं करता कि इस जगत् का कोई उद्देश्य है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका विकास हो रहा है। उसका इस मत में विश्वास नहीं कि ब्रह्माण्ड का परिचालन करनेवाली कोई अदृश्य शक्ति है या वही इसका कारणस्वरूप है। प्रकृतवादी का कहना है कि यह जगत् अपने-आप परिचालित हो रहा है और किसी पर निर्भर नहीं करता। इसके रहस्य को समझने के लिए अन्यत्र नहीं जाना होगा। मनुष्य आदि जीवों का उत्पन्न होना प्रकृति के विकास-क्रम की सहज साधारण घटना है। अतएव मनुष्य के नैतिक अथवा आध्यात्मिक कहे जानेवाले जीवन की व्याख्या के लिए किसी रहस्यात्मक शक्ति को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उसके लिए प्रकृति के नियमों का ही सहारा लेना होगा। प्रकृतवादियों का कहना है कि प्रकृति ही सब-कुछ है। कार्य कारण की परम्परा ही इसका नियमन करती है। इसके बाहर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं, जो इसका संचालन करती हो। इस प्रकार प्रकृतिवादियों के लिए 'ईश्वर' नाम का कोई पदार्थ नहीं है। वे पूर्ण रूप से भौतिकवादी हैं। प्रकृतवाद ने यथार्थवाद को अपनाया तो ज़रूर, लेकिन उसने और भी कई विचार-धाराओं से प्रेरणा ग्रहण की। उस पर भौतिकवादी दर्शन का प्रभाव तो हम स्पष्ट ही देखते हैं, साथ ही डारविन के विकासवाद से भी वह प्रभावित हुआ।

साहित्य के क्षेत्र में प्रकृतवाद को सुप्रतिष्ठ करने का श्रेय एमिल ज़ोला को है। सन् १८८० ई० में उसने अपनी पुस्तक (Le Roman Experimental) में बतलाया है कि उपन्यासकार को अपने को वैज्ञानिक की तरह निःसंग और निर्वैयक्तिक मानना चाहिए। उसका कहना था कि उपन्यासकार को अपने को एक वैज्ञानिक की तरह समझना चाहिए, जो अपनी अनुसन्धानशाला में अनुसंधान में

लगा हुआ है। समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र से वह लेखक को वैज्ञानिक की दृष्टि अपनाने की सलाह देता है। समाज के विभिन्न तत्त्वों की छानबीन, विश्लेषण आदि को वह उपन्यासकार का काम मानता था। जीवन को वैज्ञानिक की दृष्टि से वह देखता है और 'वास्तव' का विशुद्ध चित्रण करने की सलाह देता है। जीवन के कटु सत्य को विशुद्ध रूप में चित्रित करने को वह कहता है, जिसमें हम उसके असली रूप को प्रत्यक्ष कर सकें और उसमें सुधार लाने का प्रयास कर सकें। ज़ोला का कहना है कि जिस प्रकार से प्रकृति के तत्त्वों का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का भी अध्ययन होना चाहिए। मनुष्य की वंश-परम्परा, वंशानुक्रम से पाई हुई उसकी विशेषताओं, उसके परिवेश आदि का वैज्ञानिक की तरह अध्ययन किया जाना ज़ोला की दृष्टि में अधिक महत्त्व रखता है। इस प्रकार के अध्ययन को वह अधिक उपादेय मानता है। प्रकृतवादियों ने उपन्यास और नाटक को अपना क्षेत्र चुना तथा गीतिकाव्य को अपने लिए अनुपयुक्त समझा। वैसे ज़ोला ने काव्य में भी प्रकृतवाद को स्थान दिलाने का प्रयास किया, लेकिन उसके समसामयिकों में किसी ने भी इस बात का साहस नहीं दिखाया कि परम्पराभुक्त रूढ़ियों का त्याग कर दिया जाय।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद में बहुत-कुछ साम्य होने के कारण दोनों के स्पष्ट रूप को समझने में बड़ी उलझन होती है। दोनों के चित्रण में भेद नहीं है, लेकिन जब वे 'वस्तु' के ब्योरे (details) का चुनाव करते हैं, तब दोनों में अन्तर पड़ जाता है। प्रकृतवादी जब चुनाव करने लगता है, तब एक विशेष पथ का अनुसरण करता है। उसकी एक विशेष दृष्टिभंगी होती है। व्यवहार में वे चुनाव तो करते हैं, लेकिन सिद्धान्त-रूप में इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया प्रकृतवादियों में देखने को मिलती है। स्वच्छन्दतावादी जब किसी 'वस्तु' के ब्योरे में जाता है और उन ब्योरों के चित्रण की बात सोचता है, तब उसकी दृष्टि उन्हीं उपकरणों की ओर रहती है, जो पाठक या दर्शक की भावुकता को उत्तेजित करें अथवा कल्पना के विकास में सहायक हों। इसके विपरीत प्रकृतवादी जान-बूझकर उन्हीं उपकरणों और ब्योरों को चुनता है, जो अप्रिय और वीभत्स होते हैं। उन ब्योरों में जुगुप्सा और भयानक रस को भी वे नहीं छोड़ते। कोमल कल्पना और भावुकता को ठेस पहुँचाना ही जैसे उसका लक्ष्य हो। उदाहरणस्वरूप, गोकुर (Goncourt) बन्धुओं के उपन्यास जेर्मिनी लासर्तो (Germini Lacerteux) को ले सकते हैं। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् १८६५ ई० में हुआ। इस उपन्यास में विकृत और कुरुचिपूर्ण वर्णन का एकमात्र उद्देश्य ऐन्द्रिक उत्तेजना की सृष्टि करना है, निम्न और शोषित वर्ग के अधिकारों की वकालत करना नहीं। प्रकृति में जो कुछ हो रहा है, उसका ज्यों-का-त्यों विवरण देना तथा प्राकृतिक घटनाओं की

व्याख्या करना वे कलाकार के लिए आवश्यक मानते हैं। लेकिन यह व्याख्या प्रकृति को ध्यान में रखकर की जाती है, उससे बाहर जाकर नहीं। इस व्याख्या में 'कैसे' की प्रधानता रहती है, 'क्यों' की नहीं। प्रकृतवादी मानते हैं कि कला का उद्देश्य यथार्थ का हू-ब-हू चित्रण है और इस उद्देश्य में कलाकार तभी सफल हो सकता है, जब वह चरित्र और आचरण का विश्लेषण करे तथा उद्देश्य और इरादों के मूल में पहुँचने की कोशिश करे। प्रकृतवादी कहते हैं कि जब वे अच्छा या बुरा कहते हैं, तब उनका ऐसा कहना परम्परापालन-मात्र है, प्रकृति में उसका कोई आधार नहीं, अतएव उनके अनुसार कलाकार का उद्देश्य जानना और समझना है, अच्छा या बुरा कहकर निर्णय देना नहीं। वे कहते हैं कि मनुष्य के आचरण में परिवेश और परिस्थितियों का बहुत अधिक हाथ होता है। इसीलिए वे इस बात पर बल देते हैं कि उपन्यासकार को इन्हें ब्योरेवार चित्रित करना चाहिए। वे यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस चित्रण में उपन्यासकार को पात्रों को आदर्श रूप में उपस्थित करने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिए और न जिसे कुरूप कहा जाता है, उससे मुख मोड़ना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि कलाकार के लिए यह काम की बात नहीं होगी कि वह तथाकथित अदृश्य शक्तियों का पल्ला पकड़े।

प्रकृतवाद और यथार्थवाद के मार्ग में बहुत-सी कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। प्रकृति की सत्ता, उसके भीतर चलनेवाली असंख्य प्रक्रियाएँ अथवा उसके क्रियाकलाप के पीछे कौन-सा उद्देश्य है इसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषणों के दौरान जो कुछ भी प्रकाश में आता है, उसका साहित्यकार या कलाकार के अनुभवों के साथ सामंजस्य बैठाना सम्भव नहीं दीखता। मानव मन को समझने का अथवा उसकी गुत्थियों को सुलझाने की बात मनोविज्ञान में पण्डित करते रहे हैं, लेकिन आधुनिक युग में इस प्रकार का दावा करने में वे संकोचबोध करने लगे हैं। आज मानव-मन के सम्बन्ध में जब यह कठिनाई हो रही है, तब प्रकृति के रहस्यों को समझना और साहित्यकार के अनुभवों के साथ सामंजस्य बैठाने की बात निरर्थक-सी लगने लगी है। साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में प्रकृतवाद की बात को अब कोई भी महत्त्व नहीं देता।

यथार्थवाद और प्रकृतवाद के रास्ते में दूसरी उल्लेखनीय कठिनाई 'वस्तु' के यथातथ्य चित्रण के समय उपस्थित होती है। यथार्थवादी जब कहते हैं कि वस्तु का ज्यों-का-त्यों चित्रण (Truthful presention of material) अथवा सत्य का विशुद्ध रूप में चित्रण (*The whole unvarnished truth*) तो सम्भवतः उनका यह मतलब होता है कि जो कुछ उन्होंने देखा है, उसे बिना घटाये-बढ़ाये वे ज्यों-का-त्यों चित्रित करते हैं। लेकिन, सम्पूर्ण रूप से निःसंग तथा तटस्थ होना सम्भव नहीं है, अतएव कलाकार या साहित्यकार जो कुछ देखता है और

जो कुछ चित्रित करता है, उसमें वैयक्तिकता रहेगी ही।

विशुद्ध यथार्थवादी चित्रण के मार्ग में भाषा भी एक बाधा है। हमारे अनुभवों और भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा के लिए संभव नहीं है। भाषा की नाईं लेखक की शैली भी यथार्थवादी चित्रण को प्रभावित करती है। उसके लिखने के ढंग से उसके वर्णन का प्रभावित होना अवश्यम्भावी है। जब 'वस्तु' के उपकरणों के चुनाव की बात कही जाती है तब इसका मतलब ही है कि उसमें लेखक की पसन्दगी और नापसन्दगी रहेगी। कलाकार या साहित्यकार के सामने असंख्य तथ्य उपस्थित रहते हैं और उन्हीं तथ्यों में उसे किसी एक को चुनना होता है और फिर इस तरह से चुनाव करने के बाद भी उसके विशेष पहलू या पहलुओं को ही उसे चित्रित करना होता है। इस प्रकार से जब वह चुनाव करता है और चुने हुए तथ्य को जब वह तराशकर उपस्थित करता है, तब उस चुनाव की प्रक्रिया या तराश करने में उसकी दृष्टिभंगी तथा पसन्दगी और नापसन्दगी निहित रहती है। अतएव इस प्रकार के चित्रण को निर्वैयक्तिक या 'विशुद्ध' नहीं कहा जा सकता।

फिर अगर यह सम्भव मान लिया जाय कि किसी 'वस्तु' का सांगोपांग वर्णन हो सकता है और उसके ब्योरों का पूरा-का-पूरा वर्णन किया जा सकता है, तो हम देखेंगे कि उस 'वस्तु' के इस प्रकार के वर्णन से वह 'वस्तु' ही अवास्तविक जैसी हो जायगी। जैसे, अगर किसी उपन्यास में किसी पात्र के भोजन करने का प्रसंग आये और उपन्यासकार उसके प्रत्येक ग्रास का पूरा वर्णन करना शुरू कर दे कि कैसे वह खाद्य-सामग्री को हाथ से उठाता है और कैसे मुंह में डालता है और फिर कैसे हाथ नीचे करता है, कैसे हाथ उठाता है आदि, तो यह सम्पूर्ण वर्णन व्यर्थ और निरर्थक मालूम होगा। उसकी वास्तविकता ही 'अवास्तव' जैसी मालूम होने लगेगी। यथार्थ के बोध की तीव्रता प्रदान करनेवाली भाषा निश्चित रूप से साधारण बातचीत वाली भाषा नहीं होती, इसलिए विशुद्ध यथार्थवादी चित्रण की बात का कुछ अर्थ नहीं होता। अगर उपन्यास को छोड़कर साहित्य की अन्य विधाओं—जैसे कविता, नाटक आदि—को लें, तो यह विशुद्ध यथार्थवादी चित्रण वाली बात और भी हास्यास्पद हो उठेगी। साहित्यिक कृति को यथार्थवादी कहने का अर्थ यथातथ्य वर्णन नहीं है। साहित्य के यथार्थ का अर्थ वास्तव में बिम्ब-ग्रहण कराना है। वह यथार्थ मानस में ग्रहण किया जानेवाला यथार्थ का रूप है। साहित्यकार की अपेक्षा चित्रकार के लिए इस 'विशुद्ध यथार्थवाद' के सिद्धान्त को मानकर चलना और भी कठिन है। चित्रकार सभी ब्योरों (details) का चित्रण नहीं कर सकता, उसे कुछ को ही लेकर अपना काम चलाना पड़ता है, क्योंकि ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें वह चित्रित नहीं कर सकता। जैसे, किसी सुन्दरी गायिका की आवाज या उसके केशों की सुगन्ध को

वह चित्रित नहीं कर सकता। इससे यह सहज ही देखा जा सकता है कि चाहे साहित्य हो या चित्र, सतही यथार्थवाद का सिद्धान्त किसी काम का नहीं। यथार्थवाद को अगर इस अर्थ में ग्रहण करें, तो कलात्मक सृष्टि नहीं हो सकती। देखनेवाली आँखों और चित्रित करनेवाले हाथ के बीच मन आ जाता है। मन का व्यापार अपना प्रभाव डालकर ही रहता है।

प्रकृति में सभी तत्त्व विद्यमान हैं। रूप, रंग सभी से वह परिपूर्ण है। कलाकार इन बिखरे हुए तत्त्वों का उपयोग करता है। राग-रागिनियों की योजना विभिन्न सुरों से की जाती है। प्रकृति के इन तत्त्वों से कुछ को चुनकर कलाकार सौन्दर्य की सृष्टि करता है। इसी प्रकार से संगीतज्ञ भी विभिन्न सुरों में चुनाव करता है। प्रकृति में सभी तत्त्वों के वर्तमान रहने पर भी अपने-आप चित्रों का निर्माण नहीं होता। अतएव यह कहना कि प्रकृति सर्वदा सही है, कलात्मकता को दृष्टि में रखकर इस कथन को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कला का काम केवल नकल करना नहीं है, जो कुछ हो रहा है या हो चुका है, उसको ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देना भी नहीं। कलाकार जब किसी आदमी का चित्र बनाता है, तब दो पैर और दो हाथोंवाला आदमी दिखाना भर ही उसका उद्देश्य नहीं होता, बल्कि उसके व्यक्तित्व को उपस्थित करना होता है। उसका यथार्थ उसके व्यक्तित्व में ही निहित है। आईने की तरह प्रतिबिम्बित कर देना-भर ही उपन्यास आदि का काम नहीं है, क्योंकि उस तरह से प्रतिबिम्बित करना केवल जीवन में घटनेवाली कुछ घटनाओं को चित्रित करना है, लेकिन उपन्यासकार इतना ही नहीं करना चाहता, वह जीवन की विशिष्टताओं तथा विचित्रताओं को सामने उपस्थित करना चाहता है। जीवन अपने वैचित्र्य तथा अपने वैविध्य के साथ कलाकार या साहित्यकार के सामने आता है, उसे वह अपनी दृष्टि से देखता है और उसे ही चित्रित करता है। यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण होने पर भी सापेक्ष दृष्टि से एक 'सत्य' को प्रदर्शित करता है। सम्पूर्ण 'सत्य' को प्रदर्शित करना सम्भव भी नहीं है।

कला, कला के लिए

'कला कला के लिए' सिद्धान्त का जन्मदाता एक प्रकार से फ्रान्स को कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले कहते हैं कि कला का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र है तथा उसका अपना एक अलग उद्देश्य तथा लक्ष्य है। उनका कहना कि है कला अपने ही नियमों से परिचालित होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य अथवा कहा जा सकता है कि साधारणतः सभी कलाएँ अपने आप में स्वतन्त्र हैं और अपने ही ऊपर निर्भर करती है तथा अपनी स्वतन्त्र सत्ता का उद्घोष जोरदार शब्दों में कर सकती हैं। काव्य अथवा कलाओं का वैशिष्ट्य उन्हीं में निहित है। कला का अपना एक अलग मानदण्ड है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले यह भी कहते हैं कि कला को कला के क्षेत्र के बाहर की अन्य बातों और प्रतिमानों की अपेक्षा नहीं रहती। कला-सृष्टि में उपयोगिता, नैतिकता आदि को ये स्थान नहीं देते। कलाओं का सर्जन समाज या देश के हिताहित की दृष्टि से रखकर करना चाहिए, यह बात इन्हें मान्य नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार कला से पाया जाने वाला आनन्द और सन्तोष ही कलात्मक सृष्टि का एकमात्र उद्देश्य है। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वालों में कम से कम इस बात पर मतैक्य है कि कला में किसी प्रकार के सत्य अथवा उसकी व्यवस्था और निगमन के सिद्धान्त अथवा उसके किसी मूल्य के लिए कलाकृति के बाहर नहीं जाना होगा। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि कला का काम उपदेश नहीं है, यहाँ तक कि आनन्द प्रदान करना भी नहीं। वे मानते हैं कि उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह है, उसका अस्तित्व है और वह सुन्दर है।

सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त पर अधिक बल दिया गया, लेकिन इस सिद्धान्त के पीछे जो तत्त्व है तथा इसमें अन्तर्निहित जो प्रवृत्ति है, वह प्रायः सभी कालों में देखने को मिलती है। प्राचीन काल में भी इसका संकेत मिलता है कि कलाओं में उपदेशात्मकता की अपेक्षा उनमें आनन्दोद्रेक करने की या आह्लाद उत्पन्न करने की शक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य तथा कलाओं में किसी-न-किसी प्रकार का संदेश तथा उपदेशात्मकता को अनिवार्य मानने की जो प्रवृत्ति नियामक थी उसी की

प्रतिक्रिया के रूप में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का बोलबाला हुआ। प्रतीकों और मिथकों पर आधारित जर्मनी के आलोचकों के काव्य संबंधी सिद्धान्त ने कलाओं के मूल्यांकन के क्षेत्र में अपना प्रभाव-विस्तार किया। उनके इस सिद्धान्त से जहां एक ओर काव्य में उपदेशात्मकता और उसमें अंतर्निहित किसी संदेश की अनिवार्यता को बल मिला वहाँ दूसरी ओर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को बल मिला। लेकिन एक बात यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पीछे जो नई भावधारा देखने को मिलती है वह वास्तव में उस काल में जैसे वायुमंडल में फैली हुई थी और लोगों के मन पर अधिकार जमाए हुए थी। अतएव अगर यह कहा जाय कि इस सिद्धान्त के प्रभाव-विस्तार को समझने के लिए न फ्रान्स, न जर्मनी के आलोचकों की ओर और न इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक क्रम-विकास की ओर देखने की आवश्यकता है तो ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

इस सिद्धान्त के मानने वाले जिस प्रकार कलाओं का अपना एक अलग क्षेत्र मानते हैं, उसी प्रकार से वे कलाकार को भी एक अलग कोटि का प्राणी मानते हैं, अन्य साधारण लोगों से वह भिन्न होता है। वे मानते हैं कि कवि सौन्दर्य का स्रष्टा होता है। सौन्दर्य का अपना एक अलग महत्त्व है। कवि स्वतंत्र है तथा उसे किसी का आश्रय नहीं ग्रहण करना पड़ता। सौन्दर्य से जिस आनन्द की उपलब्धि होती है वह अतुलनीय है। इसी सौन्दर्य को लेकर कवि मग्न रहता है। इस संसार की कुरुचिपूर्ण वस्तुओं में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं। अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा उसकी दृष्टिभंगी अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और परिष्कृत होती है। भाव-जगत् में विचरण करनेवाला कलाकार सौन्दर्यगत अपने आदर्श के ऊहापोह में लगा रहता है। वह जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है वह उसी का सत्य है और अपनी अनुभूति को जब वह रूप देता है तो उसका महत्त्व उसी के लिए होता है। सौन्दर्य-भावना की परितुष्टि कलाकृति के मूल में है और सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होकर कवि या कलाकार कला के सर्जन में प्रवृत्त होता है। इस सिद्धान्त के माननेवालों का कहना है कि कलाकृति का रसास्वादन उन्हीं के लिए संभव है जो कलाकार का अनुसरण कर सकें और उसके आदर्श की ओर उन्मुख हो उससे सामंजस्य स्थापित कर सकें। इस सिद्धान्त के अनुसार कवि या कलाकार जिस जगत् से हम परिचित हैं तथा जिन समस्याओं, उद्देश्यों अथवा विश्वासों से हम चिपटे हुए हैं उनसे निर्लिप्त रहकर कला की सृष्टि करता है जिसका एकमात्र प्रयोजन आनन्द की उपलब्धि है। इस प्रकार से काव्य अथवा कला की अपनी स्वतंत्र सत्ता है जो बाह्य नियमों से बंधी नहीं है और उसका मूल्य इसलिए नहीं है कि उसमें किसी प्रकार की नैतिकता अथवा संदेश निहित है। वाल्टर पेटर का कहना है कि अनुभूति का परिणाम नहीं बल्कि अपने आप में

अनुभूति ही उद्देश्य है। इसी प्रकार आस्कर वाइल्ड का कहना है कि संवेग (emotion) के लिए संवेग कला का उद्देश्य है और क्रियाशीलता (action) के लिए संवेग (व्यावहारिक) जीवन का उद्देश्य है। कला और प्रकृति की चर्चा करते हुए ह्विस्लर ने कहा है कि यह दावा कि प्रकृति सब समय सही है, कलात्मक दृष्टि से गलत है यद्यपि इसकी सत्यता को सब लोग स्वीकार करते हैं। किसी चित्र में पूर्ण सामंजस्य के लिए वस्तुओं की जिस अवस्था की आवश्यकता होती है प्रकृति शायद ही कभी उसे पा पाती है।

कला या काव्य के संबंध में इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रारंभ कलाओं के एक विशेष प्रकार के वर्गीकरण से होता है। इस वर्गीकरण में कलाओं के दो प्रकार बताए जाते हैं (१) उपयोगी कला, (२) ललित कला। कान्ट जैसे दार्शनिकों ने ललित कलाओं को स्वतंत्र और आनन्द की उपलब्धि करानेवाली माना है। उसने उपयोगी कला को कष्टकर कहा है। उपयोगी कला में कला से पाए जाने-वाले आनंद के अतिरिक्त आर्थिक लाभ की बात भी निहित है, अतएव अपने आप में वह स्वतंत्र नहीं कही जा सकती। कारीगर केवल सौन्दर्य को रूप देने के लिए ही सृष्टि नहीं करता बल्कि आर्थिक रूप में कुछ पाने की दृष्टि से करता है। इसलिए कारीगर को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। उसकी कला-सृष्टि में उसकी लाचारी भी बनी हुई है। आर्थिक लाभ की दृष्टि से उसे उसको अपनाना पड़ता है।

कलाओं के संबंध में इस प्रकार से विचार करने के पीछे सन् ईसवी की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की विभिन्न विचारधाराएँ थीं। कुछ लोगों ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर बल दिया तो कुछ लोगों ने इसका जोरदार विरोध किया। कान्ट, शीलर आदि विचारकों ने बतलाया है कि कलाकार की कला के मूल में उसकी स्वतंत्र कल्पना तथा उसकी सौन्दर्य-वृत्ति है और उससे पाया जानेवाला आनंद अपने-आप में विशिष्ट है। आर्थिक लाभ की दृष्टि अथवा किसी प्रकार की व्यावहारिकता से उसकी संगति नहीं बैठाई जा सकती। इन सब उद्देश्यों को सामने रख वह अपने को नीचे नहीं गिरा सकती। वह अपनी ही महिमा में मंडित है।

कहा जाता है कि अर्थोपार्जन की वृत्ति कलाकार या साहित्यकार की दृष्टि को संकुचित बना देती है तथा उसकी कल्पना के स्वतंत्र विकास में बाधक होती है। अगर आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर कलाकार या साहित्यकार सृजन करने लगे तो वह न तो सौन्दर्य का ही उपभोग कर सकता है और न स्वतंत्रता-पूर्वक कलात्मक सृष्टि ही कर सकता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले ललित कलाओं को एक विशिष्ट कोटि में रखते हैं। वे कला-सृष्टि को सभी प्रकार की व्यावहारिकता से अलग की वस्तु मानते हैं। वाइल्ड का कहना है कि कला

उपयोगी वस्तु नहीं है (all art is useless)। इसी प्रकार ह्विस्लर का कहना है कि कला अत्यन्त स्वार्थ-परायण होती है और अपनी पूर्णता में संलग्न रहती है। उपदेश देने की ओर उसकी रुचि नहीं है। वह सभी अवस्थाओं में, सभी समय सौन्दर्य के अन्वेषण में लगी रहती है और उसे पाती रहती है। कला के संबंध में इस प्रकार का मत रखने वालों की दृष्टि में कलाकार एक ऐसा व्यक्ति है जिसे किसी प्रकार की आर्थिक चिन्ता नहीं तथा उसकी कलात्मक सृष्टि का कोई व्यावहारिक उद्देश्य नहीं।

स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग के कुछ विचारकों ने कला अथवा काव्य की *'स्वतन्त्रता' का यह अर्थ बताया कि आधुनिक सभ्यता के अस्वाभाविक बन्धनों* और रूढ़ियों से कला को मुक्ति मिलनी चाहिए। कुछ लोगों ने बतलाया कि कलाएँ मनुष्य को उन्मुक्त करती हैं। पुराने विचारकों से अनुप्रेरित होकर ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से आलोचकों ने यह बतलाया कि कला आत्मा को उन्मुक्त करती है। उनका कहना है कि वैसे तो सभी कलाएँ उन्मुक्त करती हैं लेकिन कुछ कलाओं में इस प्रकार की शक्ति अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक है। विशेष रूप से संगीत को इन लोगों ने अधिक 'स्वतन्त्र' माना। उनका कहना था कि संगीत को अधिक स्वतन्त्र मानने का कारण यह है कि संगीत में न प्रकृति की अनुकृति ही करनी पड़ती है और न प्रकृति के नियमों अथवा वस्तु के तथ्यात्मक रूप या दृश्य को ही ध्यान में रखकर चलना पड़ता है। लेकिन इस प्रकार से सोचनेवालों के मन में यह बात नहीं आई कि *चित्रकला और कविता के लिए भी* 'स्वतन्त्र' हो जाना सहज है।

सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में इस सिद्धान्त के माननेवालों ने कुछ कलाओं को कल-कारखानों से भरे हुए शहरों के गन्दे और घिनौने वातावरण से मुक्ति पाने का साधन बतलाया। सामान्य रूप से कलाओं को 'स्वतन्त्र' मानने की ओर ही अधिकांश लोगों का ध्यान था, लेकिन उस 'स्वतन्त्रता' के रूप को लेकर मतभेद था कि किस बंधन से ये कलाएँ आत्मा को मुक्ति दिलाती हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी में इतना जो प्रचलन हुआ उसके मूल में जर्मन स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के विचारकों और साहित्यकारों की रचनाओं की अनुप्रेरणा है। कान्ट (Kant), शेलिंग (Schelling), गेटे (Goethe) तथा शीलर (Schiller) आदि प्रमुख विचारकों का मत था कि कला अपने आप में स्वतन्त्र है। इन विचारकों ने काव्य तथा कला की स्वायत्तता पर पूरा बल दिया। इंग्लैण्ड में कार्लाइल, कालरिज आदि ने अशतः इस विचारधारा को अपनी रचनाओं द्वारा प्रश्रय दिया। लेकिन इसका सबसे बड़ा समर्थक फ्रान्स का विक्तर कुज़े (Victor Cousin) था। कहते हैं कि सन् १८१८ ई० को अपने एक व्याख्यान माला 'न स्ये, ल बो ए न

वियों (Le Vrai, le beau et le bien) में विक्टर कुज़ें ने ला'र पुर ला'र (*L'art pour L'art*) अर्थात् *'कला कला के लिए' का प्रयोग किया था।* उसके शिष्यों ने उन व्याख्यानों का संपादन करके सन् १८३६ ई० –१८४२ ई० के बीच प्रकाशित किया। इसके पहले बेंजामिन कान्स्टेन्ट ने सन् १८०४ ई० में अपने 'जरनाल औंतिम' (Journal intime) में चलते ढंग से इसका जिक्र किया था, लेकिन यह बहुत दिनों बाद सन् १८९५ ई० में प्रकाशित हुआ। विक्टर ह्यूगो ने भी सन् १८२९ ई० में इसका उल्लेख किया है। ह्यूगो की रचनाएँ 'क्राम्वेल' (सन् १८२७ ई०) तथा 'हरनानी' (सन् १८३० ई०) के प्राक्कथनों में भी इस सिद्धान्त की छाया देखने को मिलती है।

संभवतः छापे के अक्षरों में 'कला कला के लिए' का प्रयोग सन् १८३३ ई० में हुआ जब कि इसे लेकर एक वितण्डा की सृष्टि हुई थी। गोतियै (Gautier) ने अपने उपन्यास 'मादमोआजल द मोपें' (Mademoiselle det Maupin) *की भूमिका में इस सिद्धान्त में निहित तत्त्व का उल्लेख किया है।* यह उपन्यास सन् १८३५ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के बारे में उसका कथन था कि सौन्दर्य को प्रकाशित करने के सिवा उसके लिखने का अन्य कोई उद्देश्य नहीं। वैसे गोतियै ने सन् १८४७ ई० में प्रकाशित अपने एक निबन्ध में 'कला कला के लिए' का स्पष्ट उल्लेख किया है। गोतियै और एडगर एलेन पो के सौन्दर्यवादी सिद्धान्त से, जिसमें काव्य या कला के मूल में सौन्दर्य की सृष्टि को उद्देश्य माना गया है सुप्रसिद्ध प्रतीकवादी फ्रान्सीसी कवि बोदलेयर बहुत अधिक प्रभावित हुआ। लेकिन यह भी सही है कि बोदलेयर ने उन लोगों की खिल्ली उड़ाई है जिन लोगों ने काव्य को नैतिकता से बिलकुल अछूता रखने की सलाह दी है। लेकिन बोदलेयर को उन लोगों की कोटि में नहीं रखा जा सकता जो कविता में नैतिकता की अनिवार्यता की वकालत करते हैं। बोदलेयर केवल कवि ही नहीं था बल्कि एक निबंधकार और पत्रकार भी था। उसके निबन्धों में विवेचक की दृष्टि की प्रधानता है। उसके मत के संबंध में पूर्ण जानकारी तभी संभव है जब हम उसके विभिन्न निबंधों को अपने समक्ष रखें।

बोदलेयर का कहना है कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के अनुयायियों की बचकानी अव्यावहारिक स्वप्नदर्शिता (childish utopianism) के कारण नैतिकता के बहिष्कार के उनके प्रयत्नों को असफल होना ही था। यह सिद्धान्त मानव-प्रकृति को निर्लज्ज भाव से चुनौती देता है। बोदलेयर के अनुसार जीवन के उच्चतर सारभौम सिद्धान्तों को ध्यान में रख इस आन्दोलन को अपधर्म की संज्ञा दी जानी चाहिए। एक अन्य स्थल पर बोदलेयर ने कहा है कि नैतिकता विधिवत् दावा लेकर नहीं उपस्थित होती। वह सहज भाव से कला में अन्तः-प्रविष्ट होकर उससे उसी प्रकार घुल-मिल जाती है जैसा कि जीवन के साथ वह

घुली-मिली रहती है। नहीं चाहते हुए भी कवि नैतिकतावादी होता है और यह उसकी प्रवृत्ति में उमड़ पड़ने वाले आविश्य में ही निहित है। बोदलेयर के इन कथनों से यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि बोदलेयर नैतिकता का पूर्ण समर्थक है। लेकिन अन्य स्थलों पर प्रकट किए हुए उसके विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता की अपेक्षा उसने कला पर ही अधिक बल दिया है। बोदलेयर ने एक जगह कहा है कि रंग, रूप, शब्द और गन्ध के नैतिक मूल्यों की शिक्षा कल्पना (imagination) ने ही मनुष्य को दी है। सृष्टि के प्रारम्भ में कल्पना ने तुल्यरूपता (analogy) और रूपक (metaphor) का सर्जन किया। कल्पना संपूर्ण सृष्टि को घुला-मिलाकर एकाकार कर देती है और मानव-आत्मा की गहराई से उद्भूत सिद्धान्तों के सहारे वह फिर से अपने उपकरणों को एकत्र करती है और उनमें व्यवस्था लाती है तथा एक नये जगत् का निर्माण करती है। यहाँ तक कि वह इन्द्रियानुभूति का एक नया राज्य ही गढ़ डालती है। बोदलेयर का कहना है, चूँकि कल्पना ने इस जगत् का निर्माण किया है इसलिए उचित यही होगा कि उसी मानसिक शक्ति का उस पर नियन्त्रण रहे और वही उस पर शासन करे। बोदलेयर के अनुसार सौन्दर्य-संबंधी बहुत-सी गलत धारणाओं के मूल में नैतिकता-सम्बन्धी अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित मान्यताएँ हैं। उस युग में मंगल और सौन्दर्य के आधार, उद्गम तथा आद्यरूप (आर्केटाइप) को प्रकृति में ही ढूँढ़ा जाता था। स्वच्छन्दतावादी युग के लिए प्रकृति मंगलमयी थी। स्वच्छन्दतावादी, कला को प्रकृति के निकट लाना चाहते थे। उनका आदिपाप (original sin) में विश्वास नहीं था। लेकिन बोदलेयर का दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावादियों से बिलकुल भिन्न था। अपने काव्य में बोदलेयर ने अन्य किसी बात का ध्यान न रख केवल कलाकार की सार्वभौमता को स्वीकार किया। उसने सर्जनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से ही चरम सत्य को जानने की अभिरुचि दिखलाई। वैसे इतना होने पर भी उसने यह स्वीकार किया है कि अपने काव्य में वह नैतिकता को छोड़ नहीं सका है। काव्य अथवा कला को वह न प्रकृति की नकल मानता है और न यही स्वीकार करता है कि वास्तविकता को लेकर उसमें किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न किया जाय। बोदलेयर के बाद फ्रान्स में रूप और शिल्प-विधान को ही महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रयास में विषयवस्तु ही गौण हो गई और फिर जीवन के गंभीर तत्त्वों की ओर ध्यान देने का प्रश्न ही नहीं रह गया। काव्य को संगीत के अति निकट ला देने के प्रयास भी हुए तथा प्रतीकवादियों को इसमें सफलता भी कम न मिली।

इंग्लैण्ड में सौन्दर्यवादी मत का प्रभाव कुछ तो पहले से ही वहाँ के कवियों पर था और फिर वे फ्रान्सीसी साहित्य से भी प्रभावित हुए। इंग्लैण्ड में सन् १८८० ई० के बाद के सौन्दर्यवादी आन्दोलन पर वहाँ के स्वच्छन्दतावादी कवियों के

कभी-कभी वैयक्तिकता और आत्मकेन्द्रिकता का जो आतिशय्य देखने को मिलता है उसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। वाल्टर पेटर ने इस आन्दोलन को बहुत अधिक अनुप्रेरणा दी। वैसे इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं में वाल्टर पेटर के अलावा ह्विस्लर, आस्कर वाइल्ड, डाउसन, लायनेल जानसन आदि के नाम लिए जा सकते हैं। बोदलेयर का प्रभाव स्विनबर्न पर पड़ा। जब स्विनबर्न का काव्य-संग्रह 'पोएम्स एण्ड बैलेड्स' सन् १८६६ ई० में प्रकाशित हुआ तो ऑक्सफोर्ड के नवयुवक विद्यार्थियों में एक आलोडन-सा आया और बड़े चाव और उत्साह से वे उन कविताओं का पाठ करते थे। लेकिन सन् १८६० ई० के बाद के कवि वाइल्ड, डाउसन आदि पेटर से बहुत अधिक प्रभावित थे। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त से अनुप्राणित अंग्रेज कवि इस बात पर बल देते थे कि सौन्दर्य एक ऐसी वस्तु है जो अत्यन्त पवित्र है और वह सबसे अलग, सबसे भिन्न, निराली है। कला भी सौन्दर्य जैसी ही है। वाइल्ड का कहना है कि सौन्दर्य प्रतीकों का प्रतीक है। सौन्दर्य समग्र रूप में गोचर कराता है क्योंकि वह किसी वस्तु को अभिव्यक्त नहीं करता। ह्विस्लर (सन् १८८८ ई०) ने भी कुछ इसी प्रकार से कहा है कि कला अत्यन्त स्वार्थपर और आत्मकेन्द्रिक है। वह उपदेश नहीं देती बल्कि अपने आप को ही पूर्ण करने में लगी रहती है। वाइल्ड का कहना है कि जब तक कोई भी वस्तु हमारे लिए उपयोगी या आवश्यक बनी रहती है, और हमारे सुख या दुःख का कारण बनी रहती है तब तक वह वस्तु कला की वास्तविक परिधि के बाहर रहती है। ब्रैडले का कहना है कि कविता की प्रकृति वास्तविक जगत् का न अनुकरण है और न उसका अंश बल्कि अपने-आप में एक जगत् होना है जो अपने आप में स्वतन्त्र, पूर्ण और स्वशासित है। इसके विपरीत रस्किन उसी चित्र को महान् और उच्चकोटि का मानता है जिसमें उच्च विचारों का अधिक से अधिक समावेश हो तथा जो हमें ऊँचा उठानेवाला हो, भले ही उसकी अभिव्यक्ति भेड़ी हो। सुन्दर से सुन्दर ढंग से बनाए गए चित्र को वह कोई भी स्थान देने को तैयार नहीं अगर उसमें विचारों का थोड़ा-सा भी अंश वर्तमान न हो। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में जैसी प्रवृत्ति पाई जाती है उसे सौन्दर्य के क्षेत्र में एक प्रकार की वैज्ञानिक निस्संगता समझा जा सकता है। स्वच्छन्दतावादियों की वैयक्तिक संवेगात्मकता के विरुद्ध इसे एक बौद्धिक प्रतिक्रिया कहा जा सकता है।

बाद में चलकर अर्थात् सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में 'रूप' (form) के सौन्दर्यगत तत्त्व पर बल दिया जाने लगा। वाइल्ड ने कहा है कि 'रूप' ही सब-कुछ है तथा जीवन का रहस्य उसी में छिपा है। उनका कहना है कि इस 'रूप' की अर्चा में अगर लगो तो कला का कोई भी रहस्य तुमसे छिपा नहीं रहेगा। (Start with the worship of form and there is no secret in art that will not be revealed to

you)। वाइल्ड के इन कथनों के स्पष्टीकरण के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। वाइल्ड स्वयं कहता है कि सचमुच के कलाकार के हाथ में तुक की योजना केवल छन्दगत सौन्दर्य का उपकरण मात्र नहीं रह जाती बल्कि विचारों और भावों में अर्तहित शक्ति का अर्थात् विचारों और भावों की आत्मा का एक तत्त्व भी बन जाती है। वह कहता है कि तुक की योजना मनुष्य की भाषा को देव-भाषा में परिणत कर देने की शक्ति रखती है।

वाल्टर पेटर ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना है कि भाषा का गभीर अध्ययन होना चाहिए। प्रत्येक शब्द और वाक्यांश की शक्ति की उसी प्रकार तोल होनी चाहिए जिस प्रकार हीरे-जवाहिर की होती है। सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में लगता है कि इस सिद्धान्त में माननेवाला ने काव्य को एक कठोर आकार-प्रकार वाली ठोस वस्तु बना दी थी। इस काल में आँखों से देखी जानेवाली कलाओं ने संगीत के अनुरूप होने में ही अपनी सार्थकता मानी और यही उनका आदर्श बन गया। संगीत को चूंकि बहुत दूर तक एक विशुद्ध 'रूप' (form) स्वीकार किया जाता था इसीलिए संगीत को कलात्मकता का आदर्श माना गया। कला अथवा काव्य के अनुकरणमूलक अथवा हू-ब-हू नकल करने के आदर्श को त्याग दिया गया।

ईसवी सन् की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों में 'रूपवादी आलोचना' (formalist criticism) का आविर्भाव 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की अनुप्रेरणा का फल है। आलोचना के इस सिद्धान्त ने साहित्य के क्षेत्र में न केवल 'रूप' की विशुद्धता पर बल दिया बल्कि यह भी कहा कि इसका आनन्द उठाना सबके लिए संभव नहीं। रोजर फ्राइ ने अपनी पुस्तक 'विज़न एण्ड डिज़ाइन' (Vision and Design, London, 1920) में पृ० १० पर कहा है कि कला जिस अनुपात में 'रूप' की विशुद्धता की ओर बढ़ेगी उसी अनुपात में उसे समझने और उससे आनन्द उठाने वालों की संख्या में कमी होगी। जिसमें सौन्दर्य-बोध की क्षमता होगी वही उसका आनन्द उठा सकता है, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या कम ही होती है। रोजर फ्राइ का कहना है कि कलाकृतियां एक विचित्र प्रकार के भाव का उद्रेक करने में समर्थ होती हैं। सौन्दर्यात्मक अनुभूति का कलाकृतियों के 'अर्थगर्भित रूप' (significant form) से लगाव होता है।

काव्य अथवा कला को उपदेशमूलक या कोई संदेश देने वाली होना चाहिए ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में कला-सम्बन्धी यह जो धारणा थी उसे भी इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि 'वस्तु' के चित्रण में उस 'वस्तु' की विशेषताओं को दृष्टि में अवश्य रखा जाय। लेकिन 'कला कला के लिए' सिद्धान्त चाहे प्रारम्भिक अवस्था में या बाद में एक प्रकार से उपर्युक्त दृष्टिकोण के ठीक विपरीत था। सौन्दर्यवादियों ने जब समस्त इस बात को स्वीकार किया कि

'सौन्दर्य' की अपनी एक अलग, स्वतन्त्र महिमा है और कवि से सब समय उन्हें अपेक्षा थी कि शिल्प-विधान में वह किसी प्रकार की च्युति-विच्युति न होने दे।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त में कई प्रकार की त्रुटियों की ओर निर्देश किया जाता है। सबसे पहली बात तो यह है कि केवल कला के नियमन करने वाले सिद्धान्तों को ही मानकर चलने में कलाकार वैसा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता जैसाकि उसे चाहिए। कलाकार जीवन या प्रकृति का चित्रण करता है। उसके चित्रण को मनुष्य की सहज बुद्धि अगर ग्रहण नहीं करे तो वह उतना आनन्द नहीं दे सकेगा। मनोविज्ञान के पंडितों का कहना है कि आनन्द का आवेग कलात्मक कृति में केवल बाहरी आकार-प्रकार को देखने से ही उत्पन्न नहीं होता। काव्य अथवा चित्र, यह सही है, कि इन्द्रियग्राह्य है और इन्द्रियानुभूति कल्पना के उद्रेक में सहायक होती है, फिर भी काव्य या चित्र से पाया जानेवाला आनन्द पाठक या दर्शक की मानसिक प्रतिक्रिया पर भी निर्भर करता है। लेकिन यहाँ यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि पाठक या दर्शक का मन समाज द्वारा स्वीकृत भिन्न-भिन्न धारणाओं से प्रभावित होता है। अतएव कलाकार की दृष्टि अगर आनन्दोपलब्धि कराने की ओर है तब उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उसकी कलाकृति में जिन उपकरणों का उपयोग किया गया है वे इस तरह प्रस्तुत किए जाएँ कि वे समाजगत इन धारणाओं के प्रतिकूल न हों।

इस प्रश्न पर दूसरे प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। किसी चित्र या कविता अथवा अन्य कलाकृति का एक पहलू उन कलाओं की बारीकियों के जानकार मनुष्य को प्रभावित करता है और उसका दूसरा पहलू उन विशेषज्ञों के अतिरिक्त अन्य लोगों को प्रभावित करता है। दूसरी कोटि के लोग ही अधिक संख्या में पाए जाते हैं। उनकी अपनी रुचि है। वे किसी विशेष कृति को अपनी रुचि के अनुसार ही अच्छा या बुरा कहते हैं। विभिन्न समाज और विभिन्न काल की रुचि में भेद हो सकता है, फिर भी एक सर्वमान्य समाजगत रुचि जैसी भी एक चीज़ हो जाती है। अगर इस रुचि के अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं और अगर यह मानने को हम तैयार होते हैं कि कलात्मक कृति को समाजगत रुचि के अनुकूल होना चाहिए तब कला के अच्छे या बुरे प्रभाव को हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दे सकते।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त के सम्बन्ध में और भी अन्य आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। जैसे कहा जाता है कि चाहे जिस तरह की कला क्यों न हो उसका मूल कहीं न कहीं यथार्थ में अवश्य रहता है। वाल्टर पेटर आदि ने सौन्दर्यानुभूति पर बहुत अधिक बल दिया है। वे लोग कलाकार की अनुभूति को वैयक्तिक और ऐकान्तिक मानते हैं। उनका कहना है कि कलाकार में एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है जिससे वह कला के सर्जन में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार की शक्ति

सबमे नही होती। उनका यह भी कहना है कि कला-सर्जन मे जिस शक्ति का उपयोग होता है वह अन्य प्रकार की क्रियाओ मे लगनेवाली शक्ति मे भिन्न होती है। लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान इस बात को नही स्वीकार करता। आज का विज्ञान यह नही मानता कि कलाकार बिलकुल 'स्वतन्त्र' और 'तटस्थ' होता है, भले ही वह स्वतन्त्र और तटस्थ दीख पडे। उसकी भावनाएँ, उसकी इच्छाएँ अथवा किसी ओर उसके विशेष झुकाव के पीछे यह देखा जा सकता है कि उसकी वश-परम्परा और परिवेश क्रियाशील हैं।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त का प्रभाव कला की समीक्षा के क्षेत्र मे भी देखने को मिलता है। इस प्रभाव के कारण कला की समीक्षा के सम्बन्ध म यह समझा गया कि समीक्षा भी अपने-आप मे एक प्रकार का कलात्मक प्रयोग है। समीक्षा का उद्देश्य समीक्षा मे ही निहित माना जाने लगा (art criticism for its own sake)। इसका फल यह हुआ कि प्रभाववादी (impressionistic) आलोचना को प्राधान्य दिया जाने लगा। प्रभाववादी आलोचना के सम्बन्ध में विमसाट (Wimsatt) ने 'लिटररी क्रिटिसिज्म' म तीन उल्लेख योग्य बातो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है (१) आलोचक के लिए सबसे अधिक आवश्यकता अथवा एकमात्र आवश्यकता इस बात की है कि उसम सवेदनशीलता (sensibility) हो। इसके सम्बन्ध म वाल्टर पेटर का कथन ध्यान देने योग्य है। उसका कहना है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक नही है कि सौन्दर्य की सामान्य, अमूर्त (abstract) परिभाषा से उसकी प्रतिभा का परिचय है। पेटर के अनुसार आलोचक मे एक विशेष प्रकार का सस्कार (temperament) होना चाहिए कि जिससे सुन्दर वस्तुओ को अपने समक्ष पाकर वह उनसे अभिभूत हो जाय। आस्कर वाइल्ड न भी कुछ इसी तरह की बात कही है। उसने भी इसी बात पर बल दिया है कि आलोचक के लिए मुख्य वस्तु उसका सस्कार है जिससे वह 'सुन्दर' के प्रति अति सवेदनशील हो पाता है। (२) स्वय कलाकार ही वह व्यक्ति है जिसम 'सुन्दर' के प्रति अति सवेदनशीलता होती है, इसलिए कलाकार ही स्वय एकमात्र आलोचक होने का अधिकार रखता है। कलाकार को ही उपयुक्त आलोचक मानने की बात हिलसार ने भी कही है। इलियट के भी विचार कुछ इसी प्रकार के हैं जिसकी आलोचना करते हुए सी० एस० लीविस (c s Lewis) न कहा है कि यह बात समझ म आ सकती है कि तर्कप्रवण बुद्धि ही तर्कों की बारीकियो को पकड पाने म समर्थ होती है, लेकिन यह नही स्वीकार किया जा सकता कि एक निपुण रसोइया ही यह बताने म समर्थ है कि भोजन अच्छा बना है या बुरा। लीविस के अनुसार कविता म ये दोनो ही बातें वर्तमान हैं, कुछ तो वह रसोई की तरह है और कुछ तार्किकता की तरह। इस प्रकार से लीविस बहुत दूर तक इस सिद्धान्त का

प्रत्याख्यान करने मे सफल हो पाया है कि कवि ही आलोचक हो सकता है। (३) अच्छा आलोचक अपनी आलोचना के कारण ही एक सचमुच का कलाकार है।

आज कला की स्वतन्त्रता की बात बहुत कम लोग करते हैं। प्रत्येक कला को कुछ शर्ते मानकर चलना पडता है। उसकी अपनी एक सीमा है इसे उसे स्वीकार करना पडता है। इन सीमाओ तथा नियन्त्रणो को मानकर चलने का अर्थ यह नही है कि कला किसी प्रकार हीन हो गई। इसी तरह 'कला कला के लिए' सिद्धान्त मे निहित सत्य को भुलाया नही जा सकता कि कला-सृष्टि मे लगा हुआ कलाकार पूर्ण रूप से अपनी विषयवस्तु मे खोया हुआ रहता है तथा अपने अन्तर के प्रकाश मे उसको देखने का प्रयास करता है। अपनी सर्जन-क्रिया मे लगा हुआ अन्य किसी बाह्य कारण से वह नही बहकता। अपने आदर्श के प्रकाश मे वह अपने भावो को रूप देता है। सर्जन की इस अवस्था मे वह सचमुच मे स्वतन्त्र है इस बात को स्वीकार करना ही पडेगा। वास्तव मे उस 'वस्तु' के परिप्रेक्ष्य मे हम उस कलाकार की आत्मा को ही देखते है।

कला का मार्क्सवादी सिद्धान्त

कला का मार्क्सवादी सिद्धान्त वास्तव में मानव-संस्कृति को देखने की मार्क्सवादी दृष्टि पर आधारित है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार किसी समाज का गठन उत्पादन प्रणाली पर निर्भर करता है। मार्क्सवादी इस पर बल देते हैं कि किसी समाज को समझने के लिए उसके आर्थिक ढांचे का अध्ययन आवश्यक है। अतएव जब मार्क्सवादी कला का विवेचन करता है तब उसका ध्यान दो बातों पर जाता है (१) कला के आविर्भाव में किन-किन सामाजिक अथवा आर्थिक शक्तियों का हाथ रहा है, (२) सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में कला का प्रभाव कैसा पड़ रहा है। किसी भी कलात्मक कृति की विवेचना करते समय मार्क्सवादी की दृष्टि स्वभावतः उसमें निहित राजनैतिक और सामाजिक मूल्यों की ओर जाती है। मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्रेरित आलोचक कलाकार से इस बात की अपेक्षा रखता है कि अपने समक्ष वह एक विशेष सिद्धान्त (मार्क्सवादी सिद्धान्त) को ध्यान में रखे। राजनैतिक और सामाजिक मूल्यों को दृष्टि में रखकर ही वह कला की विवेचना करता है। अन्य कलाओं की अपेक्षा साहित्य में इन मूल्यों का रूप स्पष्ट देखने को मिलता है, अतएव मार्क्सवादी की दृष्टि साहित्य की विवेचना की ओर ही अधिक जाती है। मार्क्सवाद वास्तव में इतिहास का दर्शन प्रस्तुत करता है और उसी को ध्यान में रखकर राजनैतिक क्रियाकलाप का निर्धारण करता है। मार्क्सवादी कलात्मक मूल्यों का निर्धारण आर्थिक समस्याओं को ध्यान में रखकर करता है, अतएव साहित्य अथवा कला की उसकी आलोचना वास्तव में प्रकारान्तर से ही उन पर विचार करती है। मार्क्सवाद को एक प्रकार से आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) कहा जा सकता है।

प्रत्येक समाज की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं। उसकी अपनी धार्मिक और सामाजिक दृष्टिभंगी होती है। दर्शन और कला के क्षेत्र में भी समाज की अपनी विशिष्टता होती है। साहित्य, दर्शन, कला तथा अन्य सामाजिक मान्यताएँ ही समाज की संस्कृति के उपकरण हैं। विशेष समाज की विशेष मान्यता एवं दृष्टिभंगी होती है और इस प्रकार से उसकी अपनी संस्कृति होती है। इसी संस्कृति को मार्क्सवादी उस समाज की विशिष्ट संरचना

(super-structure) कहते हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि विशेष समाज के विशेष आदर्श होते हैं और इस आदर्श के मूल में उस समाज की उत्पादन-प्रणाली है। आदिम जातियों में श्रम-विभाजन या कामों के संपादन में बहुत विभेद नहीं है, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनकी भाषा या उनकी कला उनके सामूहिक जीवन के अनुरूप है। उससे अलग वह नहीं जा पडती। मार्क्सवादियों के अनुसार मनुष्य के भीतर जो जैविक (biological) तत्त्व मौजूद हैं वे प्राय अपरिवर्तित रह जाते हैं। मनुष्य में जो परिवर्तन आते हैं वे ऐसे तत्त्वों के कारण आते हैं जो जैविक तत्त्वों से भिन्न हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे तत्त्व इन तत्त्वों पर हावी हो जाते हैं और परिवर्तन ला देते हैं। मार्क्सवादियों के अनुसार साहित्य के इतिहास का अध्ययन वास्तव में इस परिवर्तन का अध्ययन है।

मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं कि प्रकृति पर तथा स्वयं अपने-आप पर मनुष्य का जो यह आधिपत्य है उसके मूल में उसके भीतर कोई विशेषता या गुण निहित है। उनके अनुसार यह आधिपत्य इसलिए संभव हो पाता है कि मनुष्य उत्पादन प्रणाली तथा उत्पादन करनेवाली मशीन का विकास कर पाता है और इसके साथ-साथ गृह-निर्माण, भाषा तथा सामाजिक सम्बन्धों आदि को विकसित करने में सक्षम होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन-प्रणाली ही सामाजिक आदर्श की जन्मदात्री है। आज के समाज में उत्पादन का आधार पूँजीवादी व्यवस्था है, अतएव आज के समाज का आदर्श भी पूँजीवादी आदर्श ही है। इसी प्रकार से अगर उत्पादन और वितरण पर समाज का अधिकार हो जाय तो समाज का आदर्श भी बदल जायगा और उसका रूप आज के समाजवादी आदर्श से भिन्न होगा। मार्क्सवादियों के मत से यही सामाजिक आदर्श (ideology) कला, दर्शन, धर्म आदि के रूप निर्धारित करता है। इस दृष्टि से अगर देखा जाय तो कहा जा सकता है कि संस्कृति को उत्पादन-प्रणाली से तथा कविता को सामाजिक गठन से अलग नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक विकास अथवा कविता के विकास के मूल में श्रम-विभाजन की पेचीदगियाँ क्रियाशील हैं। अतएव कला, दर्शन और धर्म आदि के अध्ययन से उस समाज को समझा जा सकता है क्योंकि सामाजिक आदर्श अपने-आप को उन्हीं के माध्यम से अभिव्यंजित करता है। मार्क्सवादियों की दृष्टि में आज के साहित्य, कला आदि को पूँजीवादी साहित्य या कला कहा जा सकता है, क्योंकि पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली तथा पूँजीवादी समाज की मान्यता उसमें प्रतिफलित हुई है।

मार्क्सवादियों का यह भी कहना है कि प्रत्येक सामाजिक आदर्श और विचारधारा (ideology) उस समाज के अन्तर्निहित वर्ग-युद्ध को प्रकाशित

करती है (The fundamental thing about every ideology is that it is an articulation of the class struggle occuring in the prevailing society)। मार्क्सवादियों के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार समाज के भीतर सुविधा-प्राप्त वर्ग और उसे हटाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले वर्ग के बीच संघर्ष चलता रहता है और इसी संघर्ष के फलस्वरूप समाज में परिवर्तन होते हैं और सामाजिक प्रगति सम्भव हो पाती है। वर्तमान समाज के संबंध में मार्क्सवादियों का कहना है कि पूंजीवादी वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच यह संघर्ष चल रहा है। लेकिन यह संघर्ष केवल आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है बल्कि कला, साहित्य, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में यह संघर्ष वर्तमान है। सर्वहारा वर्ग का अपना दर्शन है, उसका अपना साहित्य है तथा उसकी अपनी कला है और ये सभी पूंजीवादी वर्ग के स्वार्थों के विरुद्ध हैं। अतएव पूंजीवादी कला, साहित्य और दर्शन आदि से इनका मेल खाना संभव नहीं। मार्क्सवादियों के अनुसार राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को एक ओर या दूसरी ओर रहना पड़ता है, कला आदि के क्षेत्र में भी यही बात है।

मार्क्सवादी साहित्य और कला से इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि वह भविष्य के समाज के निर्माण को ध्यान में रखकर सर्जन के कार्य में प्रवृत्त हो और दूसरी ओर पूंजीवादी सभ्यता के विरुद्ध भी अपने को नियोजित करे। कला, साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी भी विषयवस्तु (content) और रूप-विधान (form) के अन्तर को स्वीकार करते हैं। विषयवस्तु से उनका मतलब सामाजिक आदर्श के मूल्यों (ideological values) से है अर्थात् उस कृति में इन मूल्यों का समावेश कहाँ तक हुआ है और रूप-विधान से उनका मतलब यह है कि उन मूल्यों की अभिव्यंजना किस प्रकार से की गई है। वे मूल्यों तथा रूप-विधान (शैली) को भी आर्थिक ढांचे से प्रभावित होता मानते हैं। उनके मतानुसार ये दोनों ही समाज में चलने वाले समकालीन संघर्षों को प्रकाशित करते हैं। किसी भी कला की परख तथा मूल्यांकन के लिए उसमें निहित सामाजिक और राजनैतिक विचारों का ऊहापोह आवश्यक है। ये विचार कभी-कभी तो स्पष्ट रूप से व्यक्त किए जाते हैं और कभी-कभी अनजाने में ही उसमें आ जाते हैं। किसी भी कलाकृति की समीक्षा करते समय वे इस बात पर ध्यान रखते हैं कि उससे समाज को कहाँ तक लाभ या हानि पहुँचती है। कलाकार के उद्देश्य और दृष्टिकोण पर विचार करते समय भी उनकी दृष्टि इसी ओर निबद्ध रहती है। मार्क्सवादी के लिए किसी कलाकृति में 'क्या कहा जा रहा है' उतना ही महत्त्व का है जितना कि 'वह कैसे कहा जा रहा है,' अर्थात् उस कलाकृति में प्रकट किए गए विचार, शैली की नाईं ही महत्त्व के हैं। अगर रचनाकार की

कृति में इस दृष्टि को नहीं अपनाया गया हो तो वे उसे खतरनाक भी मानते हैं क्योंकि वह कृति समाज में एक ऐसी मन स्थिति उत्पन्न कर सकती है जो उनके मत से समाज के कल्याण की दृष्टि से अस्वस्थ है। मार्क्सवादियों के अनुसार जिस कलाकृति में केवल इस बात पर जोर दिया जा रहा हो कि उसे 'कैसे कहा जाय' वह कलाकृति एक विशेष मनोवृत्ति की सूचक है। उनका कहना है कि जो कलाकार या साहित्यकार सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों से भागना चाहता है वही वक्तव्य-विषय पर उतना ध्यान न देकर वस्तु-विधान पर बल देता है और वह वास्तव में ह्रासमान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।

कविता और कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद ने व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद को गहरा धक्का दिया। मार्क्सवाद का आविर्भाव ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद (romantic individualism) ने सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों को नगण्य माना और कलाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा को ही सब-कुछ माना। उनकी दृष्टि में कलाकार इस जगत् की वास्तविकताओं से अछूता रहता है और अपने अन्तर के आलोक से ही दीप्तिमान् रहता है। अपने अन्तर के प्रकाश से ही वह सब-कुछ देखता है। कथानक और पात्रों को वह बाहर से ग्रहण कर सकता है, इससे अधिक वे व्यक्तिवादी नहीं जाते। उनका कहना है कि भले ही कलाकार इनको बाहर से ग्रहण करे लेकिन उन्हें वह अपने ढंग से ही सजाता है। इस प्रकार से ये व्यक्तिवादी एकांगी दृष्टि से कलाकृतियों पर विचार करते थे।

सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक क्रिस्टोफर काडवेल का कहना है कि विशिष्टता (differentiation) और वैयक्तिकता (individuation) एक नहीं हैं। व्यक्ति, जैविक (biological) दृष्टि से परस्पर भिन्न होते हैं लेकिन सामाजिक भिन्नता अलग वस्तु है। यह भिन्नता भिन्न-भिन्न प्रकृति के कामों में संलग्न रहने के कारण होती है, जैसे बढ़ई, ऑफिस में काम करने वाला, वकील, पादरी आदि में भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों के करने के कारण व्यक्तित्व में भिन्नता आ जाती है। कहा जा सकता है कि जैविक विशिष्टता पर यह सामाजिक विशिष्टता हावी होकर व्यक्तित्व को दबाती है और व्यक्ति, व्यक्ति न रहकर 'टाइप' हो जाता है। वंशानुक्रम से पाई हुई स्वभावगत विशिष्टताएँ बाध्य होकर एक विशेष ढाँचे में ढल जाती हैं। यह भिन्नता असंतुलन ला देती है। व्यक्ति के संस्कार और उसकी स्वभावगत विशेषताओं के साथ भिन्न-भिन्न कामों में उसके प्रवृत्त होने के कारण उनमें जो विशेषताएँ आ जाती हैं उनका तालमेल बैठाना कठिन हो जाता है। सभ्यता का जितना अधिक विकास होगा मनुष्य के व्यक्तित्व में उतनी ही जटिलताएँ उत्पन्न होंगी। उसके अपने निज के संस्कार दबकर अचेतन मन के अंग हो जाते हैं। चेतन और अचेतन मन का यह

संघर्ष आज की मानसिक उद्विग्नता और मनोविकार के मूल में है। बीसवीं शताब्दी में पूँजीवादी सभ्यता का आधार आर्थिक क्षेत्र में विशुद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है, लेकिन ध्यानपूर्वक अगर देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि यह वैयक्तिकता का विरोधी साबित हो रहा है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का यह अर्थ है कि अपनी रुचि और संस्कारों के अनुरूप मनुष्य आर्थिक क्षेत्र में कार्य की खोज करे लेकिन पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में यह संभव नहीं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि समाज के विकास के फलस्वरूप जिस चेतना का आविर्भाव होता है वह अपने आप में दबा देने वाली (coercive) नहीं होती। इसके विपरीत विज्ञान और कला के क्षेत्र में जब वह रूप ग्रहण करती है तब मनुष्य के लिए स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का साधन बन जाती है। हमारी मूल प्रवृत्ति (instinct) हमें जकड़ने वाली होती है। अन्ध-भाव से मनुष्य उसका दास होता है। मनुष्य उससे तभी मुक्ति पाता है जब सामाजिक शक्तियों के द्वारा वह निखार पाती है। समाज के साथ अगर उसका तालमेल नहीं बैठा तो मनुष्य अपने को मुक्त नहीं कर पाता। लेकिन यह भी सही है कि सामाजिक चेतना दम घोंटने वाली बन जाती है अगर वह सामाजिक सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

मार्क्सवादियों ने व्यक्तियों को ह्रासमान सभ्यता का प्रतिनिधि तो कहा लेकिन वे स्वयं एक दूसरे छोर पर चले गए। उन्होंने सामाजिक शक्तियों को ही सब-कुछ माना और कलाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा को स्वीकार करने से इनकार किया। सामाजिक शक्तियों की क्रियाशीलता को भी इन्होंने सीमित कर दिया। उनके अनुसार शोषक और शोषित के बीच राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व के लिए जो संघर्ष चलता रहता है, वही सब कुछ को रूप देता है। चाहे जो हो इतना सही है कि आर्थिक दृष्टि से इतिहास का मार्क्सवादी अध्ययन साहित्य के इतिहास को समझने में अवश्य ही सहायक हो सकता है।

मनोविश्लेषण और साहित्य की आलोचना

साहित्य के सम्बन्ध में जब मनोविज्ञान की चर्चा की जाती है तो उसके कई अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि हम रचनाकार का मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करना चाहते हैं, उसके व्यक्तित्व को समझना चाहते हैं। यह समझने का प्रयत्न करना चाहते हैं कि कहाँ तक वह निजी विशेषता रखता है अथवा कहाँ तक वह प्रतिनिधिमूलक या 'टाइप' है। दूसरे, हम सर्जन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। तीसरे, हमारा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि साहित्यिक कृति में निहित मनोविज्ञान के सिद्धान्त या उसके प्रभाव को समझना चाहते हैं। चौथे, पाठक पर साहित्यिक कृति का क्या प्रभाव पड़ता है।

सिगमंड फ्रायड स्नायु-रोग (neurosis) सम्बन्धी अपने अध्ययनों के बीच कलात्मक कृतियों के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए। क्योंकि उन्होंने पाया कि जो स्वैर कल्पना या कपोल-कल्पना (phantasi) उनके रोगियों में परिलक्षित होती है उसी तरह की कपोल-कल्पना को अपनी सर्जनात्मक कृति में रचनाकार चित्रित किए हुए है। वैसे दोनों में यह अन्तर उन्होंने अवश्य लक्ष्य किया कि उनके रोगियों में वे स्वैर कल्पनाएं मन ही में रूप ग्रहण कर रह जाती हैं और उसका परिणाम स्नायविक विघटन होता है। स्नायुओं की कमजोरी से रोगी का अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रह जाता। लेकिन रचनाकार में यह बात नहीं होती, उसका चित्त स्वस्थ और स्थिर रहता है और वह अपनी कपोल-कल्पना को रूप देने में समर्थ होता है। इस प्रकार कलात्मक कृति उस कल्पना जगत् से लौटकर वास्तविक जगत् की वस्तु हो जाती है।

फ्रायड ने कलात्मक कृति के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके अनुसार कलाओं के उपयोग के मूल में हमारी वासनाओं, इच्छाओं की तृप्ति की कामना रहती है। हमारे मन के भीतर की अतृप्ति को जैसे कलाओं से एक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। वैसे चाहे फ्रायड के प्रारम्भिक काल में व्यक्त किए हुए विचारों को लें या बाद में उनके स्वयं के संशोधित विचारों को लें अथवा उनके बाद उनके अनुयायियों द्वारा प्रस्तुत किए हुए उनके विचारों से भिन्न

विचारों को लें, हम पाएँगे कि मनोविश्लेषण की दृष्टि से साहित्य तथा अन्य कलाकृतियों का विवेचन बहुत उलझनों वाला है। इतना ही नहीं, उसके सम्बन्ध में अभी तक किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचना भी लोगों के लिए कठिन ही सिद्ध हुआ है।

फ्रायड के अनुसार सभी कलात्मक क्रियाओं तथा सौन्दर्यानुभूति के मूल को व्यक्ति के अवचेतन मन के भीतर ढूँढा जा सकता है। कलात्मक सृष्टि के द्वारा कलाकार वासनाओं की परितृप्ति का अनुभव करता है। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल में उसकी आवश्यकताएँ तथा प्रबल इच्छाएँ हैं जिन्हें चेतन मन दबाए रहता है। ये इच्छाएँ सब समय अपने आपको सतुष्ट करना चाहती हैं और छद्मरूपों में अपने को प्रकट करती हैं। सपनों और कलाकृतियों में प्रतीकों के रूप में ये दमित वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज लेती हैं। फ्रायड के अनुसार कलाकार मूलतः वह व्यक्ति है जो यथार्थ (वास्तविकता) से मुँह मोड़ लिए हुए है क्योंकि प्रारम्भ में प्रथम-प्रथम जो उसकी प्रवृत्ति रही है उसकी सन्तुष्टि को वह छोड़ने को तैयार नहीं है और जो बाद में दिवा-स्वप्नों (कल्पना-जगत्) में अपनी वासनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को पूरी ढील देकर उनका उपभोग करता रहता है। लेकिन उस कल्पना-जगत से वास्तविक जगत् में आने का एक मार्ग वह पा जाता है। अपनी विशेष प्रतिभा के बल से वह अपनी कपोल-कल्पनाओं को यथार्थ का एक नया रूप दे देता है और उसे लोग वास्तविक जीवन का एक अमूल्य प्रतिरूप मान लेने को तैयार रहते हैं। और इस प्रकार से एक विशेष मार्ग अपनाकर वह सचमुच में नायक, राजा, सर्जक, जनप्रिय (जैसी कि उसके मन में वासना थी) हो जाता है। इसके लिए उसे घुमावदार तरीका नहीं अपनाना पड़ता है और वह घुमावदार तरीका बाहरी दुनिया में सचमुच का परिवर्तन लाकर वांछित वस्तु को प्राप्त करना है। अपने 'इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स ऑन साइकोएनेलिसिस' (लंदन, सन् १९२२ ई०) में फ्रायड ने बतलाया है कि कलाकार वह व्यक्ति है जो अपनी प्रवृत्तियों (instincts) से अनुप्रेरित होता है। ये प्रवृत्तियाँ प्रबल रूप से माँग करने वाली होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं सम्मान, प्रभुता, सम्पत्ति, ख्याति और नारी के प्रेम की आकांक्षा। लेकिन उन्हें प्राप्त करने का उसके पास साधन नहीं है। अतएव अपनी अतृप्त वासनाओं के कारण वह यथार्थ से मुँह मोड़ लेता है और अपनी कल्पना (स्वैर कल्पना) की दुनिया में उनकी सृष्टि करता है और उनसे तृप्ति-लाभ करना चाहता है। अपनी कलात्मक प्रतिभा के सहारे वह उन्हें सामान्य बना देता है और दूसरों तक पहुँचाता है और इस प्रकार से अपनी कपोल-कल्पना के सहारे (अपनी कलाकृति के माध्यम से) वह सब-कुछ—सम्मान, प्रभुता तथा नारी का प्रेम प्राप्त करता है। इस प्रकार कलात्मक सृष्टि के माध्यम से कलाकार अपनी वासनाओं की परितृप्ति

का अनुभव करता है। उसके जीवन की अतृप्त वासनाएँ मानो कला के द्वारा अपने-आपको संतुष्ट करना चाहती हैं। अतएव कलात्मक कृति कलाकार की सन्तुष्टि की प्रतिमूर्ति है और कला-प्रेमी को कलाकृति से जिस सुख और आनन्द की अनुभूति होती है वह उसकी अतृप्त वासनाओं की सन्तुष्टि मात्र है। इस प्रकार से कवि दिवा-स्वप्नों, स्वैर कल्पना का उपयोग करने वाला होता है जो अपने-आपको नहीं बदलकर अपनी कपोल-कल्पनाओं को अपनी कृति में अमर बनाता है। इससे वह मानसिक मुक्ति-लाभ करता है और अपने को स्नायु रोगग्रस्त होने से बचाता है। अतएव कविता को कवि की अवदमित वासनाओं और इच्छाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति कह सकते हैं। और इस दृष्टि से कविता के विश्लेषण द्वारा कवि के अन्तर में छिपे उसके व्यक्तित्व तक पहुँचा जा सकता है। वैसे बहुत से आलोचकों ने मनोविश्लेषण को ध्यान में रखकर कवि के बदले कविता के पाठक की प्रतिक्रिया का अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेकिन इस प्रकार के सभी अध्ययन अन्त में कवि तक ही पहुँचते हैं और उसकी कृति में उसकी वासनाओं का ही उदात्तीकरण देखते हैं।

कलाकार या कवि अपने दिवा-स्वप्नों और कपोल-कल्पनाओं को ऐसा रूप देने की चेष्टा करता है कि जिसमें दूसरे उसे ग्रहण कर सकें। इन स्वप्नों और कल्पनाओं में सभी प्रकार के तत्त्व रहते हैं। वे कुरूप, अवांछनीय और कुरुचिपूर्ण सबको समाविष्ट किए हुए रहते हैं। कलाकार या कवि उनके अवांछनीय और कुरुचिपूर्ण अंश पर पर्दा डाल देता है और कुरूपता को सम्भालने की चेष्टा करता है। इसके बाद वह सर्जनात्मक सौन्दर्य के सिद्धान्तों का अनुगमन करता है। उसकी कृति से दर्शक या पाठक अपनी अतृप्त वासनाओं की सन्तुष्टि का अनुभव करता है। अन्य लोगों की भाँति फ्रायड ने भी वक्तव्य-विषय (content) और रूप-विधान (form) के अन्तर को स्वीकार किया है। वक्तव्य-विषय वास्तव में हमारी वासनाओं और इच्छाओं की सन्तुष्टि का मूर्त रूप है और रूप-विधान उन्हें प्रस्तुत करने और उन पर पर्दा डालने का साधन है। उसके अनुसार रूप-विधान केवल मात्र साधन है और उसके महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर मानना बहुत उचित नहीं है। कला से प्राप्त होने वाले आनन्द के साथ अवचेतन मन की छिपी हुई वासना की काल्पनिक सन्तुष्टि जुड़ी रहती है। इस आनन्द के साथ रूप-विधान से पाए जाने वाले आनन्द की तुलना नहीं हो सकती। इस प्रकार से फ्रायड के अनुसार सौन्दर्य के सिद्धान्त जिन्हें कलाकार साधन रूप में ग्रहण करता है, कलाकृति में प्रधान नहीं माने जा सकते बल्कि प्रधान वस्तु कला को प्रेरणा देने वाली यौन-भावना तथा अन्य वासनाएँ हैं।

फ्रायड यह नहीं कहना चाहता कि प्रत्येक दिवा-स्वप्न का उदात्तीकरण कला है। वह कलाकार या रचनाकार में एक ऐसी रहस्यपूर्ण शक्ति को स्वीकार करता

है जिसके द्वारा वह अपनी कपोल-कल्पनाओं को सम्मूर्तित करता है। वह कलात्मक रूप जिसमें सतुलन है, अनुपात है, बुनावट है, वजन है, निश्चित रूप से वह हमें आनन्द पहुँचाने वाला होता है। यह आनन्द उस रूप से ही उपलब्ध होता है। यह स्वैर कल्पना से उद्भूत नहीं है। कलाकृति में रूपगत इस शक्ति की व्याख्या करते हुए फ्रायड ने कहा है कि इसके सम्बन्ध में इतना ही भर कहा जा सकता है कि कलाकार की तकनीक को इसका श्रेय है कि व्यक्तियों के अहम् (ego) के अवरोधों (barriers) को यह दूर करती है और सबको एक प्रकार के सामूहिक अहम् (collective ego) में मिला देती है। उसका सुझाव है कि कलाकृति में विशुद्ध रूपात्मक या सौन्दर्यात्मक तत्त्व होते हैं वे आनन्दमूलक हैं। इनकी क्रियाशीलता जब हमारी संवेदनाओं पर हावी होती है तो उसमें उनका एक आनुषंगिक फिर भी उत्कृष्ट आनन्द उन्मुक्त हो जाता है जो अन्तर की गम्भीरता से उछल पड़ता है। फ्रायड का कहना है कि कला से पाया जाने वाला आनन्द इसलिए सम्भव होता है कि उस (कला) से हमारे कुछ मानसिक तनाव ढीले पड़ जाते हैं।

फ्रायड ने अपने 'न्यू इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स' (सन् १९३३ ई०) में विस्तार के साथ मानसिक प्रक्रिया पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। उसका कहना है कि व्यक्ति में चेतना के तीन स्तर हैं—(१) इगो (*ego*), (२) सुपर इगो (Super ego), (३) इड (Id)। वैसे इन्हें स्थिर, एक स्थल पर बँधा हुआ मानना उचित नहीं होगा। वास्तव में वे एक-दूसरे में अपना प्रभाव विस्तार किए हुए रहते हैं। जैसे यह समझना गलत होगा कि सुपर इगो और इड के बीच आकर इगो उन्हें अलग करता है। सुपर-इगो की कुछ विशेषताएँ इड से प्राप्त होती हैं। इड के सम्बन्ध में जो कुछ हमारी जानकारी है वह स्वप्नों के अध्ययन तथा उन्माद में परिलक्षित होने वाले लक्षणों से प्राप्त होती है। हमारे व्यक्तित्व का दुर्बोध, पहुँच के बाहर वाला अंश 'इड' है। बिम्बों के सहारे हम 'इड' के पास पहुँच सकते हैं। यह क्षोभ, उत्तेजना के उबलते हुए कड़ाह जैसा है। इसे हम अस्त-व्यस्तता (chaos) कहते हैं। हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि कहीं इसका प्राकृतिक या दैहिक प्रक्रियाओं से सीधा सम्बन्ध है और उन्हीं प्रक्रियाओं से यह प्रवृत्तिमूलक आवश्यकताओं को ग्रहण करता है और उन्हें मानसिक अभिव्यक्ति देता है। लेकिन यह कहना कठिन है कि किस स्तर पर यह सम्बन्ध स्थापित होता है। ये प्रवृत्तियाँ (instincts) उसे ऊर्जा (energy) से परिपूर्ण कर देती हैं लेकिन इड में न कोई संघटन है और न एकीकृत इच्छा (unified will)। उसमें केवल प्रवृत्तिमूलक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि प्राप्त करने का आवेग (impulse) होता है। इस आवेग के मूल में आनन्द-प्राप्ति का सिद्धान्त क्रियाशील रहता है। इड की प्रक्रिया में तार्किकता नहीं रहती और विशेष रूप से अन्तर्विरोध का सिद्धान्त यहाँ

कार्य नहीं करता है। इड मे नकारात्मक जैसी कोई वस्तु नहीं रहती। फ्रायड का कहना है कि दार्शनिकों की यह मान्यता है कि हमारी मानसिक क्रियाओं का ही रूप काल और स्थान है, लेकिन आश्चर्य यह है कि इड में काल और स्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। इड मे बीते या भविष्यत् काल का कैसे कोई स्थान नहीं है। स्वभावत इड को किसी प्रकार के मूल्य, अच्छा या बुरा अथवा नैतिकता का पता नहीं।

फ्रायड के अनुसार इड द्वारा प्रस्तुत अस्त व्यस्त और अव्यवस्थित 'वस्तु' को इगो (अह) संश्लिष्ट करता है। अह मानसिक प्रक्रियाओं को एकत्र कर एवं सूत्र में बाँधता है। यथार्थ के आधारभूत तत्त्व में इगो की ही मुख्य भूमिका होती है। इगो में ही कलाकृति रूप ग्रहण करती है। सुपर इगो में सामाजिक और नैतिक उद्देश्य रूपायित होते हैं। सभी प्रकार के नैतिक विधि-निषेधों का यही प्रतिनिधित्व करता है। सुपर इगो ही आवेगो (impulses) को पूर्णता की ओर ले जाता है। मनुष्य के जीवन की जितनी भी महान्, श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं उनकी ओर सुपर इगो ही उन्मुख करता है।

इस प्रकार से यह सहज ही देखा जा सकता है कि कलाकृति का मन के तीनों स्तरों से सम्बन्ध है। इड ही कलाकृति की प्रेरणा का स्रोत है। यहीं से यह शक्ति संचय करती है। इड ही कलाकृति की रहस्यमय शक्ति का उद्गम है। इसकी असंगति भी इड से ही आती है। इगो (अह), इड से प्राप्त वस्तुओं को संश्लिष्ट करता है तथा ऐक्य के सूत्र में बाँधता है और सुपर इगो में ही आदर्शवादी या आध्यात्मिक रंग उस पर चढ़ता है। इड से ही ध्वनि शब्द और बिंब की आकस्मिक अनुप्रेरणा आती है जिससे कलाकार या साहित्यकार सृजन करता है। अन्तर की सहज प्रेरणा, जो न बुद्धिमूलक है और न जिसके मूल में कोई आर्थिक व्यवस्था है यह एक से बाद एक आने वाली पीढ़ी पर समान भाव से प्रभाव विस्तार करती चली आती है। कलाकार ही उन्हें रूप देने में समर्थ होता है। फ्रायड का कहना है कि अवचेतन मन का चेतन मन से सब समय सम्बन्ध है। जब तक चेतन मन ग्रहणशील नहीं है उसकी अनुभूतियाँ व्यापक नहीं हैं, तब तक अवचेतन मन से कुछ भी पाने की बात सोचना गलत है। अवचेतन मन से इसी अवस्था में कुछ पाया जा सकता है।

फ्रायड के अनुसार कलाकार की असाधारणता का मूल उसके शिशुमन में खोजा जा सकता है। फ्रायड का कहना है कि उन्माद रोग के रोगी के विलक्षण व्यवहार का कारण यह है कि वह अपने भीतर की हीन मनोग्रन्थि से छुटकारा पाकर अपने भीतर वरिष्ठता के भाव लाना चाहता है। शिशुमन में यह हीन ग्रन्थि पारिवारिक वातावरण के कारण उत्पन्न होती है। सामाजिक बंधनों, नैतिकता के सामाजिक मानदंड आदि के कारण व्यक्ति की वरिष्ठता की भावना

दबी पड़ी रहती है। यह उसके अवचेतन मन में अस्तित्व बनाए रहती है। उन्मत्त की यह भावना इतनी उच्च होती है कि व्यक्ति को बाध्य होकर वास्तविक जीवन से भागना पड़ता है। वह उसे अपनी स्वैर कल्पना में उपलब्ध करता है। इस प्रकार से बाहर के वास्तविक जीवन के भीतर का यह अन्तर्जीवन है। कलाकार में इस अन्तर्जीवन को रूप देने की शक्ति होती है, लेकिन उन्माद का रोगी उसे रूप देने में असमर्थ होता है इसलिए वह फिर अपनी उसी स्वैर कल्पना वाली दुनिया में लौट आता है।

फ्रायड का कहना है कि यौन सबधी व्यक्ति का प्रारंभिक जीवन बड़े महत्व का है। लेकिन फ्रायड के इस सिद्धान्त का प्रबल विरोध हुआ है, फिर भी इसका प्रभाव कम या बेसी बना ही रहा है। वैसे स्वय फ्रायड ने यह स्वीकार किया है कि यौन भावना समान रूप से मनुष्य जाति में पाई जाती है अतएव कवियों या लेखकों की रचनाओं के आधार पर केवल उन्हीं में यौन भावना की प्रबलता का निर्धारण करना कोई अर्थ नहीं रखता। भले ही आज फ्रायड के सिद्धान्तों को लोग साहित्य के अध्ययन का आधार नहीं बनाना चाहते, फिर भी इतना सही है कि पिछले तीस-चालीस वर्षों में शायद ही ऐसा कोई साहित्य का अध्येता हो जो फ्रायड के सिद्धान्तों से अछूता रहा हो। बहुत-सी कविताओं, नाटकों तथा उपन्यासों का विश्लेषण इस दृष्टि से किया गया है और उन पर इस सिद्धान्त के प्रभाव को दिखाया गया है।

अभी तक हम कला और साहित्य सबधी फ्रायड के सिद्धान्तों से परिचय पाने का प्रयत्न करते रहे हैं, वैसे कला और साहित्य के क्षेत्र में जब हम मनोविश्लेषण की बात करते हैं तो फ्रायड के अलावा युग और एडलर के सिद्धान्तों को भी ध्यान में रखते हैं। इस दृष्टि से युग का अधिक महत्त्व है। लेकिन युग और एडलर की चर्चा करने के पहले उन बातों पर प्रकाश डालना चाहेंगे जो फ्रायड के मत के विरुद्ध कही गई हैं। फ्रायड के कला-सबधी सिद्धान्तों में कला को प्रेरणा देने वाली प्रधान वस्तु यौन भावना तथा वासना की अतृप्ति को कहा गया है। इस मत के विरुद्ध दो तर्क उपस्थित किए जाते हैं—(१) अतृप्त वासनाओं के सबध में कहा जाता है कि कला-सृष्टि की प्रक्रिया केवल अतृप्त वासनाओं की ही सन्तुष्टि नहीं है बल्कि सभी वासनाओं की। वासनाओं के अतिरेक की भी इससे सन्तुष्टि होती है। (२) ये वासनाएँ केवल यौन-वासना तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि इसके अन्तर्गत अन्य वासनाएँ भी आ जाती हैं। फ्रायड के मत का समर्थन करने वालों का कहना है कि सभी वासनाएँ मूलत यौन-वासनाएँ हैं। उनका यह भी कहना है कि वासनाओं के अतिरेक की जो बात कही जाती है वह वास्तव में यौन-वासनाओं का ही अतिरेक है। इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि पिछली अतृप्तियों की पूर्ति का प्रयास अतिरेक के रूप में प्रकट होता है।

फ्रायड के समर्थकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों के विरोध में कहा जाता है कि यौन-वासना तथा उससे भिन्न वासनाओं में भेद किस प्रकार किया जायगा। यह भी कहा गया है कि यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि सभी वासनाएँ मूलत: यौन-वासनाएँ ही हैं। फ्रायड के इस सिद्धान्त को अत्यधिक स्वच्छन्दतावादी (romantic) कहा गया है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार अन्य सामान्य व्यक्तियों से अलग कलाकार दिवा-स्वप्न और कपोल-कल्पना का शिकार मात्र है। इस मत के विरुद्ध कहा गया है कि ऐसे बहुत-से महान् कलाकार हो गए हैं जो अत्यन्त नि:संग रहे हैं और जिनकी दृष्टि अत्यन्त ही विषय-प्रधान रही है। उनके लिए अर्थोपार्जन महत्त्व का रहा है। यह भी कहा गया है कि मन्दिरों और गिर्जाघरों के निर्माण करने वाले बहुत से स्थपति (architect) इस उन्माद से ग्रस्त नहीं थे। आज भी लकड़ी आदि को लेकर काम करने वाले काष्ठ-शिल्पी इस उन्माद से मुक्त हैं। इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो सबसे प्रबल तर्क दिया जाता है वह यह है कि इस सिद्धान्त के सहारे अच्छी या बुरी कलाकृति में प्रभेद नहीं किया जा सकता। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त के मानने वालों का ध्यान कलाकृति की समीक्षा की ओर नहीं जाता। वे सिर्फ इसी बात की जाँच करने में सारी शक्ति लगा देते हैं कि कला के सर्जन की प्रक्रिया के मूल में कौन-सी प्रेरणा काम कर रही है अथवा उसका प्रभाव कैसा पड़ता है। अतएव व्यावहारिक रूप से कलाओं की समीक्षा में इस सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती। फ्रायड के अनुयायियों का ध्यान भी इस तरफ नहीं है।

अतएव फ्रायड के रूढ़िवादी सिद्धान्तों से बहुत-से लेखकों और कवियों को अशान्ति-सी हो गई है। ऑडेन (Auden) का कहना है कि जहाँ तक लेखक के सहन करने की शक्ति हो उसे स्नायु-रोग से ग्रस्त होना चाहिए। इस उन्माद से मुक्ति पाने पर लेखक, लेखक नहीं रह जायगा। बहुत-से लेखक यह अनुभव करते हैं कि फ्रायड के स्नायु रोगग्रस्त होने और सहज स्वाभाविक होने के सिद्धान्त में नृतत्त्वशास्त्र और मार्क्सवाद को ध्यान में रखकर संशोधन करने की आवश्यकता है। फ्रायड के इस मत के आलोचकों का कहना है कि फ्रायड के मत को स्वीकार कर लेने पर न वैज्ञानिक के लिए कोई स्थान रह जाता है, न दार्शनिक के लिए और न कलाकार के लिए। उनका यह भी कहना है कि फ्रायड का सिद्धान्त यह भी देखने में असफल रहा है कि कला और साहित्य की सृष्टि बाहरी दुनिया में कार्य करने की एक विधि है। बड़े-बड़े कवि, नाटककार, लेखक अगर मायाविष्ट होते हैं तो सर्जक भी। अपने सपनों को वे तत्परता के साथ बड़े निपुण भाव से रूप देते हैं। अवचेतन मन से साहित्यिक कृति के उत्पन्न होते तक ही सर्जन की क्रिया समाप्त नहीं हो जाती बल्कि रचनाकार अपनी रचना में संशोधन पर संशोधन करता जाता है। सर्जनात्मक क्रिया का समापन यहीं माना जाना चाहिए,

क्योंकि उन संशोधनों में भी सर्जनकी क्रिया उतनी ही प्रबल बनी रहती है। आस्टिन वारेन ने बहुत-से उदाहरण दिए हैं जिनसे कवियों और लेखकों के संबंध में अद्भुत जानकारी प्राप्त होती है कि लिखने के समय उनमें किस प्रकार सर्जनात्मक प्रेरणा का उद्भव होता था। उसने बतलाया है कि सुप्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर (Schiller) अपने काम करने के डेस्क पर सड़े सेब रखा करता था और सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार बालजाक (Balzac) मठों में रहने वाले संन्यासियों जैसा वस्त्र धारण कर लेता था। प्राउस्ट (Proust) और मार्क ट्वेन (Mark Twain) को बिस्तर पर लेटे-लेटे मन में विचार आते थे। कुछ लेखक शान्त वातावरण पसन्द करते हैं और कुछ लेखकों के मन में परिवार में शोरगुल के बीच या काफे में प्रेरणा का स्फुरण होता है। मिल्टन की कल्पना केवल शरद से वसन्त ऋतु तक ही उड़ान भरा करती थी। डॉ० जानसन का कहना था कि लिखने के लिए समय आदि की बातें करना बेकार है। जब जमकर बैठ गए तभी लिखने का काम हो सकता है। डॉ० जानसन स्वयं पैसों का अभाव होने पर लिखते थे। हेमिंग्वे (Hemingway) के लिए टाइप करने की मशीन ही यह करामात दिखाती थी जबकि कुछ के लिए टाइप की हुई वस्तु बिना संशोधन किए जरूरत से ज्यादा प्रवाहमयी हो जाती है।

अब हम संक्षेप में युंग के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करें। हमने यह पहले ही संकेत किया है कि युंग ने जिस मत का प्रतिपादन किया उसे कलात्मक सृष्टि और साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में बहुत महत्त्व दिया जाता है। साधारणतः प्रचलित धारणा यह है कि वह फ्रायड का शिष्य था और बाद में अपने अध्ययनों के फलस्वरूप उसने फ्रायड से भिन्न विचार प्रकट किए। हर्बर्ट रीड ने बतलाया है कि वह फ्रायड का शिष्य नहीं था और अपने स्वतन्त्र चिंतन से उसने मनोविश्लेषण के क्षेत्र में बहुत-से महत्त्व के परिणाम निकाले।

युंग के सिद्धान्त के मूल में वैपम्यमूलक वृत्तियां संबंधी मनोविश्लेषण का सिद्धान्त है। वैपम्यमूलक वृत्तियों में एक को वह अंतर्वृत्ति या अंतर्मुखता (introversion) कहता है और दूसरी को बहिर्वृत्ति या बहिर्मुखता (extroversion) कहता है। उसका कहना है कि मन की इन वैपम्यमूलक वृत्तियों को व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया में ढूंढ़ा जा सकता है। उसके इस कथन को हम भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त कर सकते हैं। जैसे जब हम विचार (thought) और संवेदना (feeling), भाव (idia) और वस्तु (thing) तथा व्यक्ति (subject) और वस्तु या पदार्थ (object) के विरोध या विषमता की बात कहते हैं तो उसमें इन्हीं वैपम्यमूलक वृत्तियों की बात हम कहते हैं। युंग का कहना है कि इन वैपम्यमूलक वृत्तियों में से केवल किसी एक या दो वृत्तियों का परिणाम सक्रिय वास्तवता नहीं है। जो यथार्थ जीवित है, सक्रिय है वह एक

विशेष जीवन्त क्रिया का परिणाम है। यह विशेष जीवन्त क्रिया उन वैषम्यमूलक विरोधी वृत्तियों को एकसूत्र में बाँधती है, उनमें ऐक्य स्थापित करती है और उनके बीच के विरोध को दूर करती है और इस प्रकार से इन्द्रिय-बोध को तीव्रता प्रदान करती है और भावों को प्रभविष्णु बनाती है। इससे इन्द्रियानुभूति, इन्द्रियों से ग्रहण करने की शक्ति तीव्र हो उठती है और भाव अत्यन्त प्रभावशाली हो जाते हैं। इस विशेष जीवन्त क्रिया को युग 'फैण्टेसी' कहता है और इसे वह सर्जनात्मक क्रिया कहता है जो निरन्तर कार्य करती रहती है। युग के अनुसार इसी सर्जनात्मक क्रिया से सभी प्रश्नों के समाधान का उद्भव होता है। ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर ढूँढे नहीं मिलता। युग ने अपने 'साइकोलॉजिकल टाइप्स' (१९२३ ई०) में इस सर्जनात्मक क्रिया पर प्रकाश डाला है। इस क्रिया को युग सभी संभावनाओं की जन्मदात्री कहता है। मनोविज्ञान की सभी विषमताओं के समान अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् इसी में सक्रिय रूप से एकता-लाभ कर रहे हैं।

युग ने 'फैण्टेसी' के भी दो रूप बतलाए हैं : एक को वह सक्रिय फैण्टेसी कहता है और दूसरी को निष्क्रिय फैण्टेसी। सक्रिय फैण्टेसी के उत्पन्न होने के रहस्य पर उसने प्रकाश डाला है। इसके अस्तित्व का कारण वह चेतन वृत्तियों की प्रवणता या प्रवृत्ति बतलाता है। ये चेतन वृत्तियाँ अवचेतन के हलके सूक्ष्म संबंधों के टुकड़ों से संकेत ग्रहण करती हैं और उन संकेतों के तुल्य अन्य तत्त्वों के साथ उन्हें मिलाकर उन संकेतों को पूर्ण प्रतिमाविधायकता (plasticity) में परिणत कर देती है। सब-कुछ को मिलाकर यह एक ऐसा तत्त्व तैयार हो जाता है कि इच्छानुसार चाहे जैसा भी रूप वह ग्रहण कर सकता है या उसे रूप दिया जा सकता है। युग इसी सक्रिय फैण्टेसी को कलात्मक मनोभाव का प्रधान गुण या धर्म कहता है। युग इसी सक्रिय फैण्टेसी के उस पक्ष को ही, जो मात्र वैयक्तिक नहीं बल्कि वैयक्तिकता से परे है, काव्यात्मक व्यापार कहता है। वास्तव में कवि उन्हीं फैण्टेसियों (phantasies) की सृष्टि करता है जो वैयक्तिकता के ऊर्ध्व होती हैं और जो सर्वसामान्य को प्रभावित करने वाली होती हैं। युग के सक्रिय फैण्टेसी के मत को थोड़े में यों समझा जा सकता है। सक्रिय फैण्टेसी सभी कलाकृतियों के मूल में है। इस सक्रिय फैण्टेसी का जन्म चेतन मन की उस प्रवृत्ति के कारण होता है जिसके द्वारा वह अवचेतन मन में छिपी हुई 'वस्तुओं', वस्तु-स्थितियों (unconscious associations) की धुँधली स्मृतियों या इंगितों को अनुरूप 'वस्तुओं' या वस्तु-स्थितियों के संयोग से मूर्त रूप देने में समर्थ होता है और यह सम्मूर्तन वैयक्तिक न होकर सर्वसामान्य होता है।

युग के अनुसार आदिम बिंबों (Primordial images) और सहज प्रवृत्तिमूलक संवेदनाओं (instinctive feelings) के मन-योग से जो कुछ फूट निकलता है तथा बाह्य वास्तवता से जो कुछ स्फुरित होता है उनमें

ऐक्य-साधन कर एक ही स्रोत मे बहाना कला का कार्य है। कलाकार की अपनी निज की आवश्यकता से फैन्टेसी का जन्म होता है लेकिन कला केवल कलाकार की आवश्यकता को देखकर अपना कार्य नहीं करती बल्कि सकेतो और प्रतीको के द्वारा उनके लिए भी अपना कार्य सम्पन्न करती है जो कलाकार की कला मे रुचि रखते हैं। प्रतीको की सामाजिक मान्यता अधिक व्यापक है या अधिक सकुचित है यह व्यक्ति की सर्जनात्मक प्रतिभा की प्राणवत्ता तथा वैशिष्ट्य पर निर्भर करता है। व्यक्ति अगर अधिक असाधारण (abnormal) है अर्थात् जीवन की आवश्यकताओ तथा व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से जो अधिक योग्य नहीं समझा जाता उसके द्वारा सृष्ट प्रतीक सामाजिक मान्यता की दृष्टि से अधिक सकुचित होग, भले ही उन प्रतीको का उस व्यक्ति के लिए चरम मूल्य हो।

प्रत्येक साहित्य स्रष्टा के मन मे दो वैषम्यमूलक प्रवृत्तियाँ कार्य करती रहती हैं। एक ओर तो चेतन मन के नियन्त्रण से वह छुटकारा पाने का प्रयास करता है और अपने आदिम मन मे ही खो जाना चाहता है, जहाँ वह जानता है कि वह ताजा अभिनव मौलिक बिंब-विधान को पा सकेगा। वह जानता है कि वहाँ वह एक समृद्ध फैन्टेसी को उपलब्ध कर सकेगा, भले ही वह फैन्टेसी असगत और असम्बद्ध हो। यही स्वप्नो और दिवा-स्वप्नो का अस्तव्यस्त आकस्मिक जगत् है। दूसरी ओर वह सवेगात्मक प्रवृत्तियों (affective tendencies) को बनाए रखने को बाध्य होता है अर्थात् नैतिक सौन्दर्य के आदर्श, प्रतिमाविधायक रूप, सन्तुलन और स्थापत्य आदि को उसे भीतर बनाए रखना पड़ता है। इन दोनो प्रवृत्तियो मे एक प्रकार का ऐक्य-साधन सम्पन्न होता है जिसके लिए जान या अनजाने कलाकार या साहित्य-स्रष्टा का जीवन नियोजित रहता है। कला का सामजस्य तभी सभव होता है जब ये दोना शक्तियाँ सतुलन कायम रखने म सफल होती हैं।

युग के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए हर्बर्ट रीड ने बतलाया है कि पहले तो कलाकार के अन्तर म सवेगात्मकता (affectivity) प्रच्छन्न आदर्श रूप विधान या भाव का आविर्भाव होता है। उसके बाद कुछ बिंब या स्मृतियाँ क्रियाशील हो जाती हैं जो अतःप्रेरणा (inspiration) के क्षण तक अवचेतन मन म छिपी रहती है। इसके बाद आकस्मिक बिंब उत्तेजित या उद्दीपित अभिरुचि से विवेचित होता है और वह या तो परित्यक्त होता है या ग्रहण कर लिया जाता है। और अगर वह ग्रहण कर लिया गया ता वह विकसित होता है और सब समय छायी रहने वाली सवेगात्मकता के द्वारा उसके रूपान्तर की क्रिया सम्पन्न होती है। अगर सवेग अकस्मात् प्रबल रूप से उद्दीपित हो उठें तो प्रारम्भिक आकस्मिक बिंबो के उदय होने के बाद जो बिंब और भाव आविर्भूत होते हैं उनकी अत्यन्त तीव्र अनुभूति होती है। और यही भावाविष्टावस्था है।

फिर बिंब जैसे अपने छुपे हुए स्थान में उछल पड़ते हैं और उन्हें आदर्श या सर्वेगात्मक प्रवृत्ति अथवा झुकाव के अनुरूप काम में लाया जा सकता है। भावाविष्टावस्था या तीव्र अनुभूति की अवस्था में भी बिंबों के ग्रहण या परित्याग की क्रिया चलती रहती है। और जब उपयुक्त शब्द या बिंब आयत्त हो जाते हैं तब सर्जनात्मक क्रिया सम्पन्न होती है। पूर्ण सर्जनात्मक प्रक्रिया इसी तरह के प्रारम्भिक सर्जनात्मक क्षणों का संकलन या योगफल है।

फ्रायड तथा युग की रचनाओं में बहुत-से प्रतीकों के बार-बार साहित्यिक कृतियों में आने का उल्लेख किया गया है। इन प्रतीकों का बार-बार आना इस बात को सिद्ध करता है कि ये व्यक्ति के अनुभव की उपज नहीं हैं बल्कि वे विश्वजनीन मानव संस्कृति की विरासत हैं। इसे युग ने 'सामूहिक अचेतन' (Collective unconscious) कहा है। इसे उसने व्यक्ति मानस ((individual psyche) का आदिम स्तर (layer) कहा है जहाँ जातीय स्मृतियाँ इकट्ठी वर्तमान रहती हैं। विभिन्न युगों में कुछ कहानियाँ अथवा कथानक-रूढ़ियाँ (motifs) बार-बार प्रकट होती हैं। उनके इस तरह बार-बार प्रकट होने के कारण युग के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर 'सामूहिक अचेतन में खोजने का प्रयास किया गया है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में युग के आदिम बिंब या आर्केटाइप ■ सिद्धान्त का पूरा-पूरा प्रभाव देखने को मिलता है। साहित्य में मिथकों या धार्मिक कृत्यों का आ जाना इसी कारण से सिद्ध किया जाता है। साहित्य की आलोचना में इसका पूर्ण प्रभाव पड़ा हुआ है।

कलात्मक कृतियों को ध्यान में रखकर मनोविश्लेषण सम्बन्धी जो कुछ कहा गया है उससे साहित्य सम्बन्धी कोई सामान्य सिद्धान्त निर्धारित नहीं किया जा सकता। वास्तव में मनोविज्ञान मानसिक क्रियाकलाप को ध्यान में रखता है और साहित्य की आलोचना मानसिक क्रियाकलाप के परिणाम अर्थात् साहित्यिक और कलात्मक कृतियों को ध्यान में रखती है। आलोचना कृतियों के मूल्य निर्धारित करने में नियोजित होती है जबकि मनोविज्ञान को कृतियों के मूल्य से कोई मतलब नहीं। मनोविज्ञान कलाकृतियों का विश्लेषण इसलिए करता है कि उससे वह सर्जन की प्रक्रिया को समझ सके। इस दृष्टि से मनोविज्ञान के लिए कलाकृतियों तथा अन्य किसी प्रकार के क्रियाकलाप में जो मन की क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं, कोई अन्तर नहीं है। कलाकृतियों में जिन प्रतीकों का व्यवहार हुआ है उनका विश्लेषण कर मनोविज्ञान उनके मूल को खोजने का प्रयास करता है और इस कार्य के पूरा होते ही उसका कार्य समाप्त हो जाता है। कलाकृति की आलोचना की दृष्टि से तथा उनके मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से मनोविज्ञान के इस विश्लेषण का बहुत महत्त्व नहीं है। अलफ्रेड एडलर का कहना है कि कलाकृति संश्लिष्ट करती है और उसके इस संश्लिष्ट करने में ही हमारे लिए उसका आकर्षण

है। विज्ञान विश्लेषण करता है और यह विश्लेषण संश्लिष्टता को विनष्ट करता है, उसे अपवित्र करता है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मूल्य की दृष्टि से कलाकृतियों के अध्ययन में मनोविज्ञान का बहुत महत्त्व नहीं है, वैसे सर्जनात्मक प्रक्रिया को बहुत दूर तक स्पष्ट करने में वह सहायक हो सकता है। यह समझना गलत होगा कि मनोविश्लेषण के द्वारा कला की विशिष्टता को समझा जा सकता है। यहाँ तक कि उपन्यास का लिखना भी मनोविश्लेषण के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। मनोविश्लेषण की बारीकियों के उदाहरणस्वरूप हम कलाकृति को उपस्थित नहीं कर सकते। मनोविश्लेषण की बारीकियाँ कलात्मकता लेकर ही किसी कृति में स्थान पाने की अधिकारिणी हो सकती हैं।

प्रतीकवाद और विशुद्ध कविता

(१) प्रतीकवाद

साहित्य मे प्रतीक उसे ही कहते हैं जिसमे कोई वस्तु (शब्द, चिह्न) अपने से भिन्न दूसरी वस्तु का सकेत करती है। वैसे इस सकेत करने के अलावा उसकी अपनी निज की सार्थकता भी बनी रहती है। इस प्रकार से जिसे प्रस्तुत किया जाता है उसका चित्रण कुछ इस प्रकार से होता है कि उसका भिन्न अर्थ होता है या प्रस्तुत की हुई वस्तु (शब्द, चिह्न) से अधिक होता है। उससे कुछ अधिक अर्थ का जो बोध होता है वह साधारणत अमूर्त होता है, साथ ही दूसरे अर्थ का जो बोध होता है वह प्रस्तुत की हुई वस्तु से सम्बद्ध होता है। जैसे किसी विशेष प्रसग मे climbing the hill (पहाड़ी पर चढना) अथवा ascending the staircase (सीढी पर उठना) का प्रयोग आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचे उठना तथा उस ऊँचे उठने की प्रक्रिया की कठिनाइयो और बाधाओं का प्रतीक हो गया है। प्लेटो ने कहा है कि किसी बात को स्पष्ट रूप से कहने के लिए आसान तरीका यह है कि वह क्या है न कहकर यह कहा जाय कि वह किस वस्तु के अनुरूप है। किसी अन्य वस्तु से उसकी तुल्यरूपता अथवा समानधर्मिता की बात कहकर उसे सहज ही स्पष्ट किया जा सकता है।

शब्द के व्यवहार का उद्देश्य प्रथम किसी विशेष वस्तु के चिह्न या प्रतीक के रूप मे ही होता है, भले ही कलाकृतियो मे उनका व्यवहार बुद्धिपरक और तर्कमूलक न हो। वैसे जो कलाकृतियाँ नही है उनमे भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। शब्दो के अर्थ का विश्लेषण करने पर हम पाएँगे कि उनका आक्षरिक अर्थ उनके अन्योक्तिपरक अर्थ से भिन्न होता है। प्रारम्भिक सकेतित वस्तु की दृष्टि से अगर शब्द (जो उस वस्तु का द्योतक या सकेत करने वाला है) पर विचार करें तो हम पाएँगे कि अन्योक्तिपरक अर्थ शब्द मे ही निहित है। शब्द, वस्तुओ के सकेत करने वाले या द्योतक होने पर भी उन वस्तुओ के तात्पर्य के प्रतीक भी हैं। व्यावहारिक जगत मे शब्दो का अभिधेयार्थ पर्याप्त होता है लेकिन शब्दो को लेकर जब हम सिद्धान्तो की चर्चा करते हैं तब उनके वाच्यार्थ से उनका निहितार्थ, उनका प्रतीकात्मक अर्थ प्राधान्य लाभ करता है। जैसे अगर हम कहे (१) 'लबी बाँह'

और (२) 'प्रभुता की बाँह वहाँ नहीं पहुँचती, तो इन दोनों में 'बाँह' का अर्थ एक नहीं रह गया है। दोनों में एक ही शब्द 'बाँह' का प्रयोग हुआ है, लेकिन दूसरे उदाहरण में 'बाँह' शब्द का प्रयोग एक अमूर्त भाव के लिए हुआ है। इस प्रकार से शब्द संकेत करने वाले भी होते हैं और अभिव्यंजक भी।

जिस भाव को सहज भाव से अभिव्यंजित करना कठिन हो उसे प्रतीकों के द्वारा प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है। बहुत-से ऐसे भाव हैं जिनकी अभिव्यक्ति गद्यात्मक हो उठती है अथवा घुमा-फिराकर बहुत कुछ कहे बिना उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रतीक उन्हें बहुत कम शब्दों के सहारे स्पष्ट तो कर ही देते हैं, साथ ही संवेगों को भी प्रभावोत्पादक ढंग से उद्दीपित करने में समर्थ होते हैं। इस प्रतीकात्मक भाषा का जब कवि या लेखक प्रयोग करता है तब पढ़ने या सुनने में लगता है कि वाच्यार्थ ही कवि या लेखक का उद्देश्य है, फिर भी उसके कहने का ढंग कुछ ऐसा होता है कि पाठक उससे कुछ भिन्न अथवा उससे भी कुछ अधिक समझ लेता है।

उपमा रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग कर जो कुछ कहा जाता है वह कथन या वक्तव्य उससे भिन्न होता है जिसे हम उसका अर्थ कहते या समझते हैं। फिर भी उस भिन्नत्व में भी एक अभिन्नत्व होता है जो उपमान और उपमेय का सबंध जोड़ता है। प्रतीक में लेकिन ऐसी बात नहीं होती यद्यपि प्रतीक बहुत कुछ इन्हीं अलंकारों जैसा प्रतीत होता है। अगर यह कहा जाता है कि मुख चन्द्रमा के समान है तो कहने का उद्देश्य मुख और चन्द्रमा के आकार प्रकार में साम्य दिखलाना नहीं होता बल्कि यह बतलाना होता है कि चन्द्रमा में जो कमनीयता और स्निग्धता तथा लोभनीयता है वही मुख में भी है। यहाँ उपमा अलंकार है। लेकिन अगर कहा जाय 'पहाड़ों पर चढ़ना' तो वहाँ प्रतीकार्थ यह होगा कि पहाड़ों पर चढ़ने में जो कठिनाई होती है, जो बाधाएँ आती हैं, आध्यात्मिक जगत् में अपने को उन्नत करने में उसी प्रकार की कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती हैं (अवश्य ही यह अर्थ प्रसंग-सापेक्ष है।) 'सिर मुँडा लेना' यह सन्यास-ग्रहण का प्रतीक है लेकिन इसमें रूपक अथवा उपमा अलंकारों जैसा सादृश्य नहीं है। सन्यास के साथ संश्लिष्ट होने के कारण 'सिर मुँडा लेना' सन्यास ग्रहण का प्रतीक हो गया है। इसी प्रकार मिथक और अन्योक्ति (allegory) में भी प्रतीकों का अन्तर है। सन् ईसवी की अठारहवीं शताब्दी से और विशेष रूप से बोदलेयर के समय से प्रतीकों का भिन्न अर्थ में प्रयोग होने लगा है। सभी परिचित वस्तुओं को उनके सादृश्य-मूलक होने के आधार पर प्रतीकों जैसा व्यवहृत किया जा सकता है। प्रतीकों का प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यंजना के लिए होता है। मिथकों में समूहगत विशिष्टताएँ बनी रहती हैं और अन्योक्ति में अर्थ परम्परायुक्त और बाह्य होता है।

वैसे यह भी सही है कि एक ही रूपक अगर बार-बार प्रयुक्त होता रहे, चाहे किसी विशेष रचनाकार की कृति में अथवा भिन्न-भिन्न रचनाकारों की कृतियों में, तो वह प्रतीक है। किसी कृति में अगर किसी बिंब की आक्षरिक व्याख्या से कोई अर्थ न निकले तो उसे प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। प्रतीकवादी कवि और दार्शनिक एक जगह सहमत हैं कि प्रतीकों में असीम अभिव्यंजना की शक्ति निहित है और ये असीम व्यंजना जगा सकते हैं।

बिम्बवादी (Imagist) आन्दोलन के समान प्रतीकवाद का भी एक आन्दोलन फ्रांस में सन् ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ और उससे इंग्लैंड के कवि भी प्रभावित हुए जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में देखने को मिलता है। लेकिन इस 'प्रतीक' शब्द का अर्थ आज बहुत कुछ स्पष्ट नहीं है। दृष्टिभंगी की भिन्नता के कारण प्रतीकों की प्रकृति और उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में आज तरह-तरह की बातें कही जाती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कविता की समग्रता में उसके प्रभाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि कवि की रचना के भिन्न-भिन्न तत्त्व कवि के अन्तर के तनाव का संकेत करते हैं अर्थात् उन तनावों को उन तत्त्वों के प्रतीकीकरण में देखा जा सकता है। 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग कविता की विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी धारणाओं के लिए भी किया गया है। लेकिन जिस क्रिया से 'Symbol' (सिम्बल) शब्द बनता है उसका अर्थ तुलना के लिए एकसाथ रखना है। इसका मतलब यह है कि मूलतः चिह्न और जिसका वह संकेत करता है, दोनों की तुलना के लिए यह शब्द व्यवहृत होता था। इसके व्यवहार में इतने गड़बड़झाले का कारण यह है कि प्रतीक शब्द का व्यवहार तर्कशास्त्र, गणित, पदार्थ विज्ञान, ललित कला, कविता, धर्म आदि सभी में किया गया है। बीजगणित और तर्कशास्त्र में प्रतीक परम्पराभुक्त हैं और वे सर्वमान्य हैं। सब लोगों में जैसे उन्हें स्वीकार करने में एक सहमति है। लेकिन धार्मिक प्रतीकों में चिह्न (sign) और जिसे वह संकेतित करता है उनमें आभ्यन्तरिक सम्बन्ध होता है। वे रूपकात्मक (metaphorical) होते हैं जैसे क्रॉस (cross) lamb (लैम्ब), गुड शेफर्ड (good shepherd)

प्रतीक ऐसे भी होते हैं जो सर्वत्र समझे जा सकते हैं। एक प्रकार से वे सार्वभौम कहे जा सकते हैं, जैसे सूर्यास्त मृत्यु का प्रतीक है और सूर्योदय पुनर्जन्म का, अन्धकार मृत्यु का और प्रकाश जीवन का। कुछ परम्पराभुक्त प्रतीक होते हैं, जैसे लिली (lily) पवित्रता का और रोज (गुलाब) वासना का और टाइगर (बाघ) ईसा का। कुछ प्रतीक आन्तरिक सम्बन्धों के आधार पर होते हैं, जैसे 'वाल' (दीवार) आदिम और आधुनिक सभ्यता के बीच के अन्तर का प्रतीक है। जैसे रॉबर्ट फ्रास्ट ने 'वाल' के प्रतीक का व्यवहार प्राकृतिक अन्ध-व्यवस्था

और मानवीय व्यवस्था के अन्तर के लिये किया है। फास्ट ने बहुत सी प्रकृति में घटने वाली घटनाएं अथवा प्राकृतिक वस्तुओं का प्रतीकों के रूप में व्यवहार किया है। ये व्यक्तिनिष्ठ प्रतीक दुर्बोध हो सकते थे लेकिन वे प्रकृति से लिए गए हैं और हमारे लिए अत्यन्त सुपरिचित हैं इसलिए उन्हें समझने में कठिनाई नहीं होती और वे हृदयग्राही और आनन्ददायक हो गए हैं। वैलेस स्टीवेंस ने नीले (blue) रंग का सर्जनात्मक कल्पना के प्रतीक के रूप में व्यवहार किया है। डब्ल्यू० एच० आडेन ने sea (समुद्र) का साहस के लिए और island (द्वीप) का आत्मसंतुष्टि के लिए व्यवहार किया है। येट्स अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने व्यक्तिगत प्रतीकों के साथ परम्परामुक्त प्रतीकों का सुन्दर समन्वय किया है। येट्स की कविता Sailing to Byzantium में बाइजेंन्टियम प्रतीकात्मक है क्योंकि उसकी कोई भौगोलिक स्थिति नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतीकवादी आन्दोलन को काव्य के क्षेत्र में ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की धारावाहिकता को बनाए रखना कहा जा सकता है। लेकिन फ्रांसीसी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा से यह अधिक सूक्ष्म था। प्रतीकवादी कवियों ने आन्तरिक जगत् को अधिक प्रधानता दी। उन्होंने इस बात का प्रयास नहीं किया कि उनकी रचनाओं में किसी प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक प्रसंग आएँ। प्रतीकवादी कवियों की रचनाओं में रचना का नैपुण्य है। नैपुण्य के साथ-साथ अपनी रचनाओं में इन्होंने कल्पना और संवेदना का संयोग किया। गीतात्मकता की ओर भी इन्होंने दृष्टि रखी। इन रचनाओं में अभिव्यंजना और ध्वन्यात्मकता का प्राधान्य है। इन रचनाओं में भावों का सीधे चित्रण नहीं होता, भले ही प्रतीकों के रूप में वे व्यंजित हों। शब्दों के प्रयोग में ये प्रतीकवादी कवि अत्यन्त सावधान हैं। शब्दों की जादूगरी पर ये अधिक दृष्टि देते हैं। शब्दों की व्यंजना की शक्ति उन्हें अधिक आकृष्ट करती है और वैसे ही शब्दों का वे चयन करते हैं। वे वैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करना चाहते हैं जो चेतना से परे होती है। प्रतीकवादी के लिए वाच्यार्थ से परे शब्दों की व्यंजना शक्ति महत्त्व की है साथ ही उन शब्दों में लयात्मकता और गीतात्मकता भी रहनी चाहिए। इनको ध्वनिमूलक प्रतीक कहा जा सकता है।

सुप्रसिद्ध प्रतीकवादी फ्रांसीसी कवि बोदलेयर ने अपनी रचना 'लि फ्लर दु माल' (Les fleurs du Mal) में शब्दों के जादू और गीतात्मकता को पूर्ण रूप से मूर्तिमान कर दिया है। इन कविताओं में आधुनिक नगर और आधुनिक युग के मनुष्य का प्रतीकात्मक और मिथकीय स्वरूप और जीवन्त हो उठा है। बोदलेयर पर सुप्रसिद्ध अमेरिकन कवि एडगर एलेन पो (सन् १८०९–१८४९ ई०) का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। पो के कविता सम्बन्धी सिद्धान्तों

के फ्रेन्च अनुवाद से सन् १८४६ या १८४७ ई० के लगभग बोदलेयर का परिचय हुआ। पो ने कहा है कि कवि को न सत्य (truth) और न अच्छे (good) से कुछ लेना-देना है। उसे केवल सुन्दर (beauty) से मतलब है। पो ने यह भी कहा है कि कवि का मुख्य कर्तव्य ऊपर की ओर 'सुन्दर' तक पहुँचना है। उसका कहना है कि इस संसार का सौन्दर्य उसी 'सुन्दर' की प्रतिच्छाया है। सन् १८५९ ई० में थियोफिल गोतिये (Theophile Gotier) के सम्बन्ध में लिखते हुए बोदलेयर ने एक स्थल पर सौन्दर्य की चर्चा की है। बोदलेयर ने कहा है कि सौन्दर्य के लिए जो हमारी सहजानुभूति (instinct) है वही इस पृथ्वी और इसके दृश्यों की ओर देखने को हमें बाध्य करती है।

अपने एक सॉनेट Correspondances (कोरेसपोदांसे) में बोदलेयर ने कहा है कि सारी प्रकृति एक मंदिर है और वृक्ष उसके जीवन्त खंभे हैं। इन 'प्रतीकों के जंगल' से होकर जब हवा बहती है तो यदा कदा उसके निश्वास-प्रश्वास से अस्त व्यस्त शब्द निर्गत होते हैं। कवि को अपनी विशेष प्रतिभा के कारण इन शब्दों का बोध होता है और उन्हें पकड़ पाने में वह सक्षम होता है। उसका कहना है कि प्रकृति की सभी वस्तुओं में एक प्रतीकात्मक भाव है और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध एक आध्यात्मिक तथ्य के साथ है। उसके अनुसार हमारी आकांक्षाएँ, हमारे खेद, हमारे विचार जो मस्तिष्क की वस्तुएँ हैं, बिंबों के जगत् में अपने अनुरूप प्रतीकों को उदित करते हैं। और इसी प्रकार से ये प्रतीक भी हमारे मन में अपने अनुरूप आकांक्षा, खेद या विचार को उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियग्राह्य जगत् से कवि उपकरण जुटाता है और उसके सहारे स्वयं अपना और अपने सपनों का प्रतीक गढ़ता है। इन्द्रियग्राह्य जगत् से उसे अपेक्षा रहती है कि वह उसके लिए साधन प्रस्तुत करे जिसके सहारे वह अपने आपको अभिव्यक्त कर सके। जिन 'प्रतीकों के जंगल' का ऊपर उल्लेख है उस जंगल में आधुनिक मनुष्य को घूमता हुआ उसने चित्रित किया है। ऊब (ennui) को उसने सुकुमार पिशाच कहा है। उसका कहना है कि रूप, रस, शब्द और गन्ध में जो निहित 'अर्थ' है उसे कल्पना के द्वारा मनुष्य आयत्त कर पाता है। लेकिन केवल सहजानुभूति से परिचालित होने की बात बोदलेयर को मान्य नहीं। उसका कहना है कि सतत आयास के फलस्वरूप रचनाकार के भीतर प्रेरणा आ सकती है।

सन् १८७०—१८८० ई० में वीन प्रतीकवादी आन्दोलन में सर्वोच्च स्थान मालार्मे को प्राप्त था। उसकी कम ही रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। वह लोकप्रिय कवि नहीं था। मालार्मे का जन्म सन् १८४२ ई० में और मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुई। मालार्मे की मंगलवार की साहित्यिक गोष्ठी प्रसिद्ध है। इसमें सुप्रसिद्ध कवियों और आलोचकों का भाग लेना इसके महत्त्व का परिचायक

है। इस गोष्ठी मे भाग लेने वाले अँग्रेजी भाषा के कवियों मे आस्कर वाइल्ड, आर्थर सिमन्स, जार्ज मूर तथा येट्स के नाम उल्लेख-योग्य है।

सन् १८९१ ई० मे एक स्थल पर उसने लिखा है कि सीधे-सीधे वस्तुओ के नाम लेना (जिसे हम अभिधा-शक्ति पर निर्भर करना कह सकते हैं) कविता के पढ़ने के तीन-चौथाई आनन्द को समाप्त कर देना है। मालामें ने काव्य-भाषा को एक विशेष कोटि मे रखा है। उसके अनुसार काव्यात्मक भाषा मे किसी प्रकार का यथार्थ नही रहता। उसमे न प्रकृति है, न समाज, यहाँ तक कि कवि का व्यक्तित्व भी उसमे नही रहता। उसके अनुसार कवि को केवल संकेत करना चाहिए, उल्लेख या वर्णन नही। वह मानता है कि कवि जब कला सृष्टि मे लगा रहता है तब वह मात्र कवि ही रहता है। वह स्वयं, उसका मानव स्वभाव, उसका व्यक्तित्व उस समय सभी जैसे तिरोहित हो जाते हैं। उसके 'मैं' के माध्यम से आध्यात्मिक जगत् अपने-आपको उद्घाटित करने के लिए मार्ग ढूंढ निकालता है। उसके अनुसार कविता मूलतः ध्वन्यात्मक है। वह एक रहस्य है जिसके 'अर्थ' की कुंजी पाठक को खोजनी है। उसकी स्वयं की कविता बुद्धि के द्वारा नही समझी जा सकती बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से प्रतीकों की सहायता से काव्यात्मक सहजानुभूति (intuition) द्वारा समझी जा सकती है।

मालामें ने काव्य-भाषा के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उसका आधार उसका यह विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक आदिम भाषा है जो आधी-भूली, आधी-जीती-सी है। उसके अनुसार इसी से शब्दो में अभिव्यंजना की शक्ति आती है। यह भाषा मालामें के अनुसार संगीत और स्वप्न की सजातीय है। मालामें की भाषा सम्बन्धी इस तरह के विचार को आधुनिक मिथक-सम्बन्धी विचारो से अलग करके देखना होगा। आधुनिक काल मे बहुत लोगो ने यह विचार प्रकट किया है कि आदिम भाषा मिथकों के रूप मे थी। मालामें ने जो कुछ कहा है वह इससे भिन्न है। प्रतीकवादी परम्परावादी हैं और वे दर्शनशास्त्र के प्रति अधिक आकृष्ट हैं। मालामें की भाषा-सम्बन्धी दृष्टिभंगी इसी कारण आधुनिक विचारो से भिन्न हो जाती है। मिथकों को महत्त्व देने वाले आज के आलोचक मनोविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र पर अधिक निर्भर करते हैं।

मालामें के अलावा अन्य विशिष्ट प्रतीकवादी कवियो मे वरलेन (Verlaine), रांबो (Rimbaud) और पाल वालेरी के नाम उल्लेख-योग्य हैं। इन फ्रान्सीसी प्रतीकवादी कवियों का प्रतीकवादी आन्दोलन मे बहुत बड़ा हाथ रहा है। अंग्रेजी भाषा के कवियों मे टी० इ० ह्यूम, एजरा पाउन्ड, इलियट आदि पर इन फ्रान्सीसी प्रतीकवादियों का अत्यधिक प्रभाव रहा है। येट्स से यद्यपि उत्कृष्ट प्रतीकवादी कविताएँ लिखी हैं, फिर भी इन फ्रान्सीसी प्रतीकवादी कवियों से वह उतना प्रभावित नही हुआ। वरलेन के अनुसार कविता को पकड़

मे नही आने वाली अति सूक्ष्म वस्तु होना चाहिए। कविता और संगीत के बीच घनिष्ठसम्बन्धजोडने का उसनेअसाध्य साधन किया। रौंबो (सन् १८५४-९१) ने कवि को द्रष्टा, ऋषि कहा है जिसने आयासपूर्वक लम्बे काल के प्रयत्न द्वारा इन्द्रियानुभूतियो को अस्त व्यस्त और विक्षिप्त कर दिया है। सत्रह वर्ष की उम्र मे रॉबो की सन् १८७१ ई० मे लिखी कविता 'बातो इव्र (Bateau Ivre) ईसवी सन् की उन्नीसवी शताब्दी की चिरस्मरणीय कविताओं मे से एक समझी जाती है। धरती और समुद्र के वर्णनो मे उनके रंग, उनकी शान्ति और क्षुब्धता, जगत् के प्रारम्भ को चित्रित करने वाले प्रतीक कुछ इस प्रकार से आए है कि यह कविता अत्यन्त उत्कृष्ट समझी जाती है। पाल वालेरी ने सन् १९२० मे प्रतीक-वादी आन्दोलन के सम्बन्ध मे कहा था कि इसका उद्देश्य कविता को संगीत की अवस्था मे ला देना है। वरलैन (सन् १८४४-१८९६ ई०) की कविता मे यह बात पाई जाती है। उसकी कविता म लगता है कि जैसे भाषा वाष्प होकर उड रही है और फिर लय मे विलीन हो रही है। उसकी कविता मे लगता है कि जैसे शब्दो की प्रवृत्ति अपने बुद्धिमूलक तत्त्वो का निचोड डालने की है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो कभी किसी काल मे मनुष्य की प्रवृत्ति भौतिक जगत् को आध्यात्मिकता की दृष्टि से देखने की थी। उस समय उसने केवल सार्वभौम प्रतीको का ही प्रयोग नही किया बल्कि विशेष परम्पराओ को भी जन्म दिया। मिथक, दन्तकथा, अनुश्रुति, विद्या, शिल्प आदि का सहारा लेकर ये परम्पराएँ आविर्भूत हुई और पनपीं। विज्ञान आदि की उन्नति, नई-नई विचारधाराओ तथा समय के परिवर्तन ने इनम से बहुत सी परम्पराओ को व्यर्थ का कर दिया है। अतएव बहुत से परम्परायुक्त प्रतीक अथवा आध्या-त्मिकतापरक प्रतीक बहुत दूर तक अपना प्रभाव खो चुके है और कवियो के काम के नही रह गए है। इसी प्रकार कालक्रम से पाठक की दृष्टिभंगी भी परिवर्तित हो गई है। इसलिए इस बीसवी शताब्दी मे प्रतीकवाद को 'विस्मृत भाषा' कहा गया है। सुप्रसिद्ध प्रतीकवादी कवियों, जैसे बोदलेयर, वरलैन, रौंबो तथा मालार्मे के प्रभाव म आकर कुछ कवियो ने बीसवी शताब्दी मे परम्परायुक्त, धार्मिक और काल्पनिक कथामूलक प्रतीकवाद को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है। कुछ कवियो ने व्यक्तिनिष्ठ प्रतीकवाद की परम्परा का भी प्रारम्भ किया क्योंकि उन्होने अनुभव किया कि आध्यात्मिक प्रतीको ने अपना अर्थ खो दिया है। ऐसे कवियो मे येट्स एजरापाउन्ड और डायलन टामस के नाम उल्लेख-योग्य हैं। राबर्ट फ्रास्ट, इ० इ० कमिंग आदि ने जिन प्रतीको को अपनाया वे प्रकृति से लिए गए हैं और सार्वभौम हैं। आज के साहित्य पर प्रतीकवाद के संगीत, स्वप्न और काव्यात्मक प्रतीको का गहरा प्रभाव पडा है।

२. विशुद्ध कविता

विशुद्ध कविता शब्द का व्यवहार किसी कविता-विशेष के लिए नहीं किया जाता बल्कि इस बात का संकेत करने के लिए किया जाता है कि कविता को कैसा होना चाहिए। कविता के कुछ तत्त्वों को कविता के लिए आवश्यक माना जाय और उनके अलावा अन्य तत्त्वों को अनावश्यक मानकर छोड़ा जाय तो उसे विशुद्ध कविता का सिद्धान्त कहेंगे। विशुद्ध कविता अपने को विशुद्ध रखने के लिए कम या बेशी इस बात का प्रयत्न करती है कि उन तत्त्वों का वर्जन किया जाय जो उसके मौलिक आवेग या प्रेरणा को सीमित करते हैं या उसके परिपंथी हैं। कविता अपने-आप में स्वयं-संपूर्ण रहना चाहती है। लेकिन कविता में कौन-सा तत्त्व अतिरिक्त है या उसका परिपंथी है इसका ठीक-ठीक अन्दाज़ लगाना कठिन है, क्योंकि जिन कविताओं को 'विशुद्ध' समझकर ऐसे संग्रहों में स्थान दिया गया है जो विशुद्ध कविता-संग्रह के नाम से अपने को अभिहित करते हैं, उनमें जो तत्त्व वर्तमान हैं वे एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उससे यह समझना कठिन है कि किस कविता को विशुद्ध कहा जाय और किसको नहीं। विशुद्ध कविता की कोई एक परिभाषा नहीं है बल्कि बहुत-सी परिभाषाएँ हैं जिनमें यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि कविता में वे अतिरिक्त या 'विशुद्ध' तत्त्व क्या हैं? दूसरी ओर बहुत लोगों ने बतलाया है कि किस तत्त्व का कविता में रहना आवश्यक है जिसके आधार पर उसे विशुद्ध कविता कहा जा सकता है। कुछ लोगों ने लयात्मक अभिव्यंजना में कविता की अवस्थिति की बात कही है। उनके अनुसार यह मूलतत्त्व कुछ ऐसा होता है कि उसका अनुवाद नहीं हो सकता, वह अपने-आप में विलक्षण होता है। इसे ही वे लोग विशुद्ध कविता कहते हैं।

वास्तव में विशुद्ध कविता के सिद्धान्त का प्रयोग फ्रान्सीसी प्रतीकवादी कवियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के लिए किया जाता है। La Poesie Pure (विशुद्ध कविता) के सिद्धान्त की प्रेरणा प्रतीकवादियों को एडगर एलेन पो से मिली। पो के सम्बन्ध में सन् १८५७ ई० में बोदलेयर ने विशुद्ध कविता' शब्द का प्रयोग किया है। तब से इसकी नाना प्रकार से व्याख्या की गई है और तरह-तरह के इसके लक्षण बताए गए हैं। यह शब्द स्वच्छन्दतावाद (romanticism) की प्रतिक्रियास्वरूप प्रयोग में आया था। उस समय इसका यह अर्थ लगाया गया था कि इससे आलंकारिकता और शब्दाडम्बर के जाल से छुटकारा पाया जा सकता है। इसके द्वारा काव्य की गीतधर्मिता पर बल देना भी उन लोगों का उद्देश्य था। इसीलिए बहुत लोगों ने विशुद्ध कविता के सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में पो का नाम लिया है, लेकिन पो ने कविता का नहीं बल्कि उसके विशेष सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। पो के अलावा अन्य लोगों ने भी उसी की तरह

यह बतलाया है कि कविता में क्या रहना चाहिए और क्या नहीं रहना चाहिए।

इस सिद्धान्त की चर्चा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में काफी जोरों पर थी। संगीत के समान इसे भी स्वतन्त्र, निरपेक्ष मानने की बात कही जाती थी। प्रतीकवादी कवियों—जैसे बोदलेयर, मालार्मे, रौंबो, वरलैन आदि—ने संगीत के साथ जिस प्रकार से कविता के सम्बन्ध जोड़ने की बात कही है उसी से विशुद्ध कविता की गीतधर्मिता के सिद्धान्त को प्रेरणा मिलती है। अतएव आज जब विशुद्ध कविता की बात कही जाती है तो एडगर एलेन पो, प्रतीकवादी कवियों, आबे ब्रेमां (Abbe' Bremont), जार्ज मूर तथा बिम्बवादी कवियों को ही ध्यान में रखा जाता है।

पो ने कविता को एक प्रकार का गीत कहा है जो केवल तीव्रता की दृष्टि से ही उससे भिन्न हो जाती है लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वह प्रगीत जैसी ही होती है। तीव्रता को अधिक समय तक बनाए रखना तथा उसके प्रभाव को अक्षुण्ण रखना मनोविज्ञान की दृष्टि से सम्भव नहीं, इसलिए पो ने लम्बी कविता को कविता मानने से इन्कार कर दिया। कविता उनकी दृष्टि में कलात्मक व्यापार है, उसे नैतिकता अथवा बौद्धिकता से कुछ लेना-देना नहीं। पो के अनुसार कविता का उद्देश्य अस्पष्ट और अनिश्चित आनन्द है, स्पष्ट और निश्चित नहीं। कविता सरसरी निगाह की वस्तु है, ध्यानपूर्वक निरीक्षण की वस्तु नहीं है। पो की दृष्टि में कविता में विचारों का समावेश कविता के कवित्व गुण को खण्डित करता है। इस दृष्टि से पो का सिद्धान्त 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के बहुत निकट आ जाता है।

विशुद्ध कविता सबंधी आज के सिद्धान्त में भाषा की प्रतीकात्मकता और उसके सम्मूर्तन (iconic) की विशिष्टता पर अधिक बल दिया गया है। प्रतीकवादियों ने भाषा में निहित अर्थ-तत्त्व को जहां तक सम्भव हो सका, कविता में कम करने की चेष्टा की और शब्दों के स्वर-वैशिष्ट्य और उनके न्यूनतम अर्थ-तत्त्व और व्यन्जनात्मकता को अधिक-से-अधिक उपयोग में लाने का प्रयास किया। लेकिन यह समझना ठीक नहीं होगा कि प्रतीकवादी आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों का इस दृष्टि से ठीक एक ही उद्देश्य था। बोदलेयर एक चरम यथार्थ की बात कहता है, उसके अनुसार कविता में निहित अर्थ का उसके साथ सादृश्य है। बोदलेयर के इस मत को स्वीकार करने पर कविता अपने-आप में स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं मानी जा सकती। पो ने भी कविता की गीतधर्मिता की जो बात कही है उसमें उसने संकेत किया है कि उस गीतात्मकता में एक रहस्यात्मक आध्यात्मिक अर्थ छिपा है। मालार्मे ने कविता की निरपेक्षता और अपने-आप में स्वतन्त्र होने की जो व्याख्या की है उसका सारांश यह है कि एक बिन्दु पर पहुँचकर शब्द अपने-आप ही अर्थ की सृष्टि करने लगेंगे। उस अवस्था में पहुँचने पर शब्द एकदम

स्वतन्त्र हो जाएँगे, यहाँ तक कि कवि की सुनिश्चित प्रक्रिया के भी बाहर हो जाएँगे। परम्परा से जिसे कविता की विषयवस्तु कहा जाता है वह भी मालार्मे के लिए प्रायः अपना अर्थ खो बैठी है। कविता जिस माध्यम से अपने को प्रकाश करती है, वही उसके लिये अत्यधिक महत्त्व का हो जाता है। वालेरी तो कविता की रचना प्रक्रिया में कविता से भी अधिक रुचि रखता है। वालेरी के मत से कविता का जो सारतत्त्व है एकमात्र वही विशुद्ध कविता में रह जाता है और सभी तत्त्व तिरोहित हो जाते हैं। कविता को वह संगीत के समान स्नायुओं पर सिनग्ध प्रभाव डालने वाली मानता है। बाद में वालेरी ने यह स्वीकार किया है कि विशुद्ध कविता के संबंध में जो उसने बात कही है वह उसके आदर्शिक अर्थ को ध्यान में रखकर नहीं कही है। वैसे वह यह मानता है कि कविता की आदर्श अवस्था वही कही जायगी जिसमें लय और अर्थ तथा भाव और स्वर जिस प्रकार आत्मा और शरीर का संबंध है उसी प्रकार एक हो जायें। अँग्रेजी के प्रतीकवादी कवियों पर पो का उतना प्रभाव नहीं पड़ा। यीट्स ने तो पो की उन रचनाओं को घटिया ही कहा है जिन्हें पढ़कर बोदलेयर फड़क उठा था। अँग्रेजी के प्रतीकवादी कवि फ्रान्सीसी प्रतीकवादी कवियों से अधिक प्रभावित हैं।

सन् १९०१ ई० में ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'पोएट्री फॉर पोएट्रीज सेक' (Poetry for Poetry's sake) में विशुद्ध कविता का यह अर्थ लगाया है कि इसमें वक्तव्य-विषय और रूप-विधान में सादृश्य होता है। ब्रैडले का कहना है कि कविता जब भाव की अनुगामिनी होती है और विशुद्ध रूप से काव्यात्मक होती है तब हम वक्तव्य-विषय और रूप-विधान दोनों का तादात्म्य देख पाते हैं। उसकी विशुद्धता की परीक्षा उसके अनुसार यह है कि कविता अपना प्रभाव को जैसी वह है उसी रूप में व्यक्त या सम्प्रेषित करती है। अन्य प्रकार के प्रभाव को सम्प्रेषित या व्यक्त करने में यह जितना ही असमर्थ होगी उतना ही विशुद्ध कही जाएगी। सन् १९२४ ई० में जार्ज मूर ने 'Pure Poetry' (विशुद्ध कविता) के नाम से एक काव्य-संग्रह प्रकाशित किया। उसकी भूमिका में मूर ने उसमें संग्रह की हुई कविताओं के चयन का आधार स्पष्ट किया है। उसने बतलाया है कि वे कविताएँ किसी भी प्रकार के विचार या भाव से मुक्त हैं। शब्दों की गीत-धर्मिता को विशुद्ध कविता में स्वीकार करने पर भी उसे वह उतना महत्त्व नहीं देता। उसने विषयवस्तु पर बल दिया है। कविता में कवि के व्यक्तित्व को वह नहीं आने देना चाहता और न कविता में अमूर्त भावों के समावेश का ही वह पक्षपाती है। उसके अनुसार विशुद्ध कविता वही है जो मूर्त और निश्चित हो तथा वस्तुपरक हो। मूर ने विशुद्ध कविता में वस्तुगत पहलू को महत्त्व दिया है और उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि कवि जिस चीज की सृष्टि करता है वह

उसके व्यक्तित्व से बाहर की है। कविता के लिये भावों को वह अनावश्यक मानता है।

इस दृष्टि से बिंबवादी कविताओं को विशुद्ध कविता कहा जा सकता है क्योंकि कविता के लिये बिंबवादी कवि एकमात्र बिंब पर बल देते हैं और छंद तथा तुक का वर्जन करते हैं। हमने पहले देखा है कि विशुद्ध कविता में कुछ तत्त्वों को आवश्यक माना जाता है और अन्य तत्त्वों को अनावश्यक मानकर छोड़ दिया जाता है। बिंबवादी ऐसा करते हैं लेकिन अपनी रचना का कहीं भी उन्होंने विशुद्ध कविता कहकर परिचय नहीं दिया है। अस्पष्टता और अभिव्यंजना को प्रतीकवादियों ने विशुद्ध कविता में लिए सहायक माना लेकिन बिंबवादियों ने बिंब के पूरी तरह ठोस और स्पष्ट होने पर बल दिया। बिंबवादी विचारों, भावों को तो कविता में नहीं आने देना चाहते लेकिन बिंबों के प्रस्तुत करने में वे अस्पष्टता के पक्षपाती नहीं हैं। वे वस्तु (objects) और शब्द-चयन (diction), शैली को कविता में स्थान देते हैं, पो तथा उन्नीसवीं शताब्दी के कवि इन्हें 'अशुद्ध' मानते हैं। आबे ब्रेमों ने 'ला पोएज़ी पियोर' (१९२६ ई०) में कविता का संबंध प्रार्थना से जोड़ा है। उसने उसकी रहस्यात्मकता पर बल दिया है। उसके अनुसार मूर्त और अबोधगम्य कविता में भिन्न भिन्न तत्त्व, जैसे भाव, बिंब आदि होते हैं। अमूर्त विशुद्ध कविता की बात वह बेकार मानता है। वह कहता है कि वस्तुओं की प्रकृति में अमूर्तता नहीं है। राबर्ट पेन वारेन विशुद्ध कविता के सिद्धान्त को व्यवहार में ठीक नहीं मानता। इलियट ने इस सिद्धांत को उन्नीसवीं शताब्दी का कविता संबंधी मौलिक सिद्धान्त कहा है। उसने इसे इस अर्थ में आधुनिक माना है कि इसमें काव्य के माध्यम को महत्त्व दिया गया है और वक्तव्य-विषय के बारे में उदासीनता दिखाई गई है। लेकिन आज की कविता के लिये वह इसे उपयोगी नहीं मानता।

विशुद्ध कविता की आज जो चर्चा हो रही है उसमें विशुद्ध कविता के सिद्धान्त पहले से भिन्न हो गए हैं। जैसे मैक्स ईस्टमैन 'दी लिटररी माइन्ड' में विशुद्ध कविता को चेतना को दीप्त करने का विशुद्ध प्रयास मानता है। ईस्टमैन की दृष्टि में भाव, विचार (ideas) को कविता क्षति पहुँचाती है जबकि पो की दृष्टि में भाव कविता को क्षति पहुँचाते हैं। इसलिए दोनों ही कविता से भाव के बहिष्कार की बात कहते हैं यद्यपि दोनों के कारण भिन्न हैं। ईस्टमैन के मत से केवल वैज्ञानिक ही किसी विषय के संबंध में विचार रख पाते हैं, अन्य साधारण लोगों को इसके लिए दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। उसकी दृष्टि में साहित्य में कोई निश्चित सत्य नहीं होता और अपेक्षाकृत वह काव्य के लिए कम महत्त्व का है। लेकिन ईस्टमैन कवि का कर्तव्य यह मानता है कि वह चेतना को दीप्तिमान् करता है। इस प्रकार मैक्स ईस्टमैन की विशुद्ध कविता

की परिभाषा का यह रूप होगा कि विशुद्ध कविता चेतना को दीप्तिमान् करने की विशुद्ध प्रचेष्टा है और चेतना को उस दीप्ति का न भावों या विचारों से मतलब है और न उसमे भावों या विचारों के प्रति किसी प्रकार की विशेष दृष्टिभगी ही रहती है। वैसे ईस्टमैन ने सभी शब्दों को कविता के उपयुक्त नहीं माना है। जिन शब्दों को वह कविता के उपयुक्त मानता है उसका अर्थ यह हो जाएगा कि जो चेतना दीप्त होती है वह सुन्दर या वाछनीय वस्तु की चेतना है।

विशुद्ध कविता के सबध मे जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं उनसे हर्बर्ट रीड सहमत नहीं है। विशुद्ध कविता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों की मान्यता है कि कविता का छोटे आकार प्रकार का होना ही है क्योंकि लवे काल तक कवि अपनी अनुप्रेरणा को नहीं बनाए रख सकता। हर्बर्ट रीड ने इस तरह की मान्यता को एक प्रकार का ऐसा सिद्धान्त कहा है जिसमे मात्र शब्द को ही *सब कुछ माना जाता है। वस्तु और उसके धर्म तथा गुण को यह सिद्धान्त एक म* उलझा देता है। रीड का कहना है कि विश्व ने जिसे कविता माना है उसके बदले इस सिद्धान्त के मानने वाले कविता की प्रागनुभववादी (a priori) व्याख्या करते हैं अर्थात् ऐसी व्याख्या करते हैं जो अनुभवसिद्ध नहीं है। इस सिद्धान्त की वकालत करने वाले रीड के अनुसार कविता की परिभाषा नहीं करते बल्कि कविता की एक विशेष जाति (अर्थात् विशुद्ध कविता) की परिभाषा करते हैं। अगर शब्दों की गीतधर्मिता, बिंब और रूपक (मेटाफर) को कविता की रक्त-प्रवाही धमनियाँ स्वीकार कर भी लिया जाय और यह कि उनके बिना एक क्षण के लिये भी कविता के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इससे परे सरचना (गठन) और भाव भी हैं। सरचना (गठन) शब्दों को एक रूप या ढाँचे म निबद्ध करना तथा सजाना है और भाव कवि के विचारों को एक प्रक्रिया म विस्तार देना है, और जिस प्रक्रिया स या जिस प्रक्रिया के चलते-चलते शब्द रूप ग्रहण करते हैं। इसका मतलब यह है कि जब तक रूप-विधान की सहजानुभूति या अत प्रेरणा न होगी तब तक न शब्द होंगे और न उनमे निहित सगीतात्मकता, न तत्काल सम्मूर्तित होने वाले बिंब होंगे और न रूपक ही होंगे जो शब्दगत अर्थ से अधिक अर्थ अपने म समाहित किए हुए रहते हैं। इस रूप विधान की सहजानुभूति या अत प्रज्ञा (intuition) को रीड ने आकार प्रकार, यौक्तिकता, योग्यता, तनाव, कसाव आदि से सपर्कित सवेग (emotion) कहा है। अत प्रज्ञा के साथ-साथ कवि का सतत चलने वाला अन्वेषण भी क्रियाशील रहता है और यह एक शब्द से दूसरे शब्द, एक पक्ति से दूसरी पक्ति, एक छन्द से दूसरे छन्द (stanza) और एक अध्याय से दूसरे अध्याय तक तब तक चलता रहता है जब तक कि वह अन्वेषण सपूर्ण रूप से नि शेष न हो जाय।

इसी प्रसग मे हर्बर्ट रीड ने लबी और छोटे आकार-प्रकार की कविता की

सर्जनात्मक प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए यह बतलाया है कि क्यों वह इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं कि कविता को छोटे आकार-प्रकार का होना ही चाहिए। उसका कहना है कि प्रगीतों में रूप-विधान और भाव दोनों वर्तमान रहते हैं, लेकिन वे प्रच्छन्न या परोक्ष रूप में ही रहते हैं। (कवि के मन में) कविता की स्थिति या अवधि प्रगीतों में इतनी संक्षिप्त होती है और संवेग इतने तात्कालिक होते हैं कि उनमें काल-व्यवधान को हम देख नहीं पाते। भाव और रूप-विधान सर्जनात्मक प्रक्रिया में एक-दूसरे से घुल-मिल जाते हैं। जब रूप-विधान भाव पर हावी होता है तब कविता को वास्तविक रूप में छोटे आकार-प्रकार का कहा जायगा और अगर भावधारा इतनी उलझनदार और विस्तार वाली हुई कि चेतना (मन) उसे खंड-रूपों में ग्रहण करने को बाध्य होती है और अंत में उन्हें क्रमबद्ध कर एक व्यापक इकाई में सजाती है तब कविता 'लंबी कविता' कही जायेगी। रीड ने छोटे आकार-प्रकार वाली कविता की तुलना झील के शान्त सौन्दर्य से की है और लंबी कविता की तुलना एक स्रोतस्विनी के सौन्दर्य से की है जिसका पीछा हम उसके समुद्र में मिलने तक करते हैं। सम्पूर्ण धारा को हम एक नहीं देख पाते लेकिन उसकी निरंतरता का हमें सदा ज्ञान बना रहता है। यह धारा रूप बदलने पर भी एक ही है, वही है। आगे बढ़ते हुए हम उसके संगीत को बराबर सुनते जाते हैं। अतएव रीड प्रतीकवादियों की इस बात को स्वीकार नहीं करता कि कविता छोटे आकार-प्रकार की होने पर ही कविता बनी रह सकती है।

मिथक और आद्यरूप

(क) मिथक

आज की कविता और आलोचना का एक अत्यन्त प्रिय और महत्व का विषय 'मिथक' (myth) हो गया है। प्रतीकवाद की दृष्टि से साहित्य के अध्ययन का परिणाम यह हुआ है कि आदिम मानव के प्रतीकों के प्रति लोगों में श्रद्धा का भाव बढ़ा है और विशेष रूप से उसके मिथकों और दन्तकथाओं को बड़े ध्यान से समझने का प्रयत्न किया जाने लगा है, क्योंकि ऐसा विश्वास अब किया जाने लगा है कि उनके अध्ययन से आदिम मन के राग विराग, आशा-आकांक्षा को बहुत दूर तक जाना जा सकता है। ऐसा समझा जाता है कि उनके द्वारा आदिम मानव-समाज ने अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहा है। सन् ईसवी की अठारहवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में विको (Vico) ने इस बात पर पहली बार बल दिया कि आदिम मनोभाव अनिवार्य रूप से कवित्वमय होता है।

कान्ट का कहना है कि मन दृश्यमान जगत् को हू-ब-हू प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण नहीं है, बल्कि वह एक क्रियात्मक शक्ति है। मन अपनी इस क्रियाशीलता के कारण दीख पड़ने वाले जगत् की वास्तवता के चित्रण तथा उसके रूप-निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित करता है। अगर कान्ट के इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो आदिम समाज के प्रतीकों को व्यर्थ का नहीं समझा जा सकता जैसा कि मैक्समूलर ने कहा है। मैक्समूलर ने इन मिथकों और प्रतीकों को बर्बर, अर्थहीन और मूर्खतापूर्ण कहा है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि कान्ट के मत को अगर स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आदिम मनुष्य के प्रतीक उसके द्वारा देखे जाने वाले सत्य को रूप देते हैं।

'मिथक' शब्द में इतना व्यापक अर्थ निहित है कि इसका ठीक-ठीक परिचय या परिभाषा बतलाना कठिन है। फिर भी मोटे तौर पर साधारण भाव से मिथकों की परिभाषा कुछ इस प्रकार से की जा सकती है—मनुष्य अथवा मनुष्य के अस्तित्व से पहले उस पार के कुछ ऐसे पहलू जो अन्तरतम में लुके छिपे अव-स्थित हैं उनको अभिव्यक्ति देने वाली कहानी अथवा कहानी के तत्वों की समष्टि

को मिथक कहेंगे । उन पहलुओं को ये मिथक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' में मिथक (myth) शब्द का प्रयोग कथानक, आख्यान-मूलक रचना तथा मनगढ़त कथा के लिए किया है। मिथक, वृत्त अथवा कहानी है और यह तर्कमूलक वक्तव्य और विवेचन से उल्टा है। यह बुद्धिमूलक नहीं है और सहजात वृत्ति मजात है। सुव्यवस्थित दर्शनशास्त्र की बारीकियां इसमें नहीं है।

मिथक वास्तव में धर्म संबंधी शब्द है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मिथकों का संबंध धर्म-कार्य (कर्मकांड) से जुड़ जाता है। कर्मकांड के बाद की अवस्था में ही मिथकों के सर्जन का अवसर आता है। धर्म-कार्य ही मिथकों की प्रेरणा के स्रोत हैं। वैसे यह कहना भी गलत नहीं होगा कि उनके बीच अन्योन्याश्रय संबंध है। धार्मिक विधि-विधान का जैसे मिथक आख्यानमूलक रूप है। पिछले पचास वर्षों में नृतत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में जो अनुसन्धान हुए हैं उनसे अध्येताओं ने जो परिणाम निकाले हैं उनमें यह बात बहुत दूर तक स्वीकार कर ली गई है कि मिथकों की सृष्टि धार्मिक विधि-विधानों पर आधारित है। मनुष्य के जीवन में आने वाली आपदाओं विपदाओं, जैसे—मृत्यु, रोग, प्राकृतिक शक्तियों के विपर्यय से फसलों और पशुओं की हानि आदि से इन धार्मिक कृत्यों द्वारा रक्षा हो सकती है। प्राचीन काल से ही ऐसा विश्वास चला आ रहा है। इसी प्रकार कृषि की उन्नति, सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान आदि के साथ समाज के मंगल के लिए इन धार्मिक अनुष्ठानों का सहारा लिया जाता था। मिथक कुछ इस प्रकार के आख्यान हैं जिनके द्वारा समाज बच्चों के लिए इस जगत् और जीवन के रहस्यों की व्याख्या करता है।

आदिम-युग के ये धार्मिक कृत्य सामूहिक जीवन के अंग थे और सभी उसमें अंग ग्रहण किया करते थे। ये अनुष्ठान व्यक्तिनिष्ठ नहीं थे, इन धार्मिक उत्सवों और समारोहों में पूरा समाज निमग्न हो जाता था। विभिन्न ऋतुओं के उत्सव, कृषि संबंधी नाना प्रकार के कार्य जैसे बुआई, खेतों का काटना और अन्न इकट्ठा करना आदि समाज के लिए आनन्द मनाने तथा नृत्य-गीत में उल्लसित होने के अवसर प्रदान करते थे। इन अवसरों पर प्रकृति की शक्तियां—देवी-देवताओं—की प्रसन्न करना उनका मुख्य उद्देश्य होता। इन देवी-देवताओं, प्रकृति की शक्तियों की जो मानवीय कल्पना थी उसी के अनुरूप भाषा अपने ढंग से उन्हें अभिव्यक्ति देती थी। आदिम काल की उस भाषा का रूपकात्मक होना स्वाभाविक था और यह भी सही है कि उस समय संज्ञा, विशेषण आदि का अन्तर नहीं हुआ होगा। उस समय मनमानी कल्पना और वर्णनीय यथार्थ वस्तु में भेद करने का अवकाश प्रायः नहीं ही होगा। मिथकों का इसी प्रकार प्रारंभ में उदय हुआ होगा। इसे स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य अध्येताओं ने वेद में आए 'अग्नि' शब्द का उदाहरण

दिया है। 'अग्नि' शब्द देवतावाची है और अन्य देवताओं के बीच अग्नि का अपना एक अलग स्थान है। वह अंधकार को दूर करने वाला है, दुष्टों को जलाकर उनका विनाश करने वाला है, विपत्तियों को दूर कर मंगल करने वाला है। अतएव ये प्रतीकात्मक शब्द बहुत-से अर्थों के वाहक होते हैं और बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होने के कारण कविता के लिए उपयुक्त उपकरण होते हैं। दूसरी ओर इन प्रतीकों में बहुत-से अर्थों के साथ-साथ ऐसे भी अर्थ वर्तमान रहते हैं जिनका आपस में कोई सामंजस्य नहीं होता। कहानी के रूप में मिथकों की सृष्टि यहीं होती है। उन विभिन्न अर्थों को रूप देने और उनमें सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा मिथकों को जन्म देती है। कहानी के रूप में ये मिथक अर्थों को रूप देने और असम्बद्ध अर्थों में सामंजस्य स्थापित करने में अत्यधिक सफलता-लाभ करते हैं। प्रतीकात्मक शब्दों में निहित विभिन्न 'अर्थ' इन मिथक-कथाओं में जीवन्त रूप धारण कर लेते हैं।

कैसिरेर (Cassirer) का कहना है कि मनुष्य की आवश्यकताएं, उसके प्रयोजन और उद्देश्य प्रतीकों को जन्म देते हैं। हमने ऊपर देखा है कि आदिम-युग के मनुष्य किस प्रकार प्रकृति की शक्तियों और देवी-देवताओं को अपनी कल्पना के अनुरूप रूपायित करते थे। वे प्रतीक के रूप में ही अभिव्यक्त होते थे। उन लोगों के लिए देवी-देवता और उनके प्रतीक अभिन्न थे, अतएव प्रतीक ही वास्तव हैं। वे वास्तवता के पहलू नहीं हैं। प्रतीकों में नाम और पदार्थ, बिंब और वस्तु का पूर्ण एकीकरण, पूर्ण तादात्म्य होता है। प्रतीकों को वह नाम और पदार्थ का मिलन-स्थान नहीं मानता। आदिम-युग के मनुष्य के लिए यह कहा जा सकता है कि उनमें अहं बोध अथवा अहं-बोध के अभाव की बात कहना कोई अर्थ नहीं रखता। जिसे बोध हो रहा है और जिस 'वस्तु' का बोध हो रहा है इस द्वैत भाव के मूल में तर्क, मनन और विमर्श है। आदिम-युग के मनुष्य के लिए 'वस्तु' और उसका द्योतक शब्द भिन्न नहीं हैं। उसका मस्तिष्क इस भिन्नता-बोध को ग्रहण कर पाने में असमर्थ रहता है। उसका जो भिन्नपरक प्रत्यक्ष ज्ञान है जो देवी देवता हैं, वे शब्दों में सुस्थिर होकर सापेक्ष दृष्टि से स्थायित्व-लाभ करते हैं। इसीलिए देवता का नाम देवता से भी अधिक प्रभाव रखता है। कैसिरेर मानता है कि मनुष्य की अनुभूति को नाम के जैसा एक आश्रय चाहिए जिसके सहारे वह टिकी रह सकती है और भविष्य में अपना प्रभाव विस्तार कर सकती है तथा अपने ही जैसी भिन्न अर्थों वाली अनुभूतियों के आश्रय स्थलों के साथ मिलकर एक नया कुछ दे सकती है। ये आश्रय-स्थल नाम या शब्द हैं। शब्दों के सहारे ही अनुभूतियां स्थायित्व-लाभ करती हैं। ये शब्द ही प्रतीक हैं। मनुष्य इसलिए मनुष्य है कि ऐसे प्रतीकों के निर्माण की उसमें क्षमता है।

मिथक बहुत-से 'अर्थों' की ओर संकेत करता है और वे 'अर्थ' बहुत-से क्षेत्रों में

हैं। ये क्षेत्र हैं धर्म, लोकगीत, नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण तथा ललित कला। मिथ इतिहास, विज्ञान, दर्शनशास्त्र, अन्योक्ति आदि का परिपन्थी है। इसीलिए मिथक (myth) शब्द का प्रयोग बड़े हल्के भाव से बाद में होने लगा था जिसका अर्थ कपोल-कल्पित, सत्य से परे समझा जाने लगा। यही कारण है कि ईसवी सन् की सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में इस शब्द का व्यवहार बहुत नाक-भौं सिकोड़कर होता था। वह काल नये-नये विचारों का था। उस युग की दृष्टि में मिथकों का न कोई ऐतिहासिक और न कोई वैज्ञानिक मूल्य था। विको (Vico) ने मिथकों के संबंध में जो विचार प्रकट किए उनसे लोगों का ध्यान मिथकों की ओर आकृष्ट हुआ। और बाद में तो मिथकों को भी कविता के समान एक प्रकार का सत्य अथवा सत्य जैसा माना जाने लगा। यह भी समझा जाने लगा कि ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सत्य की बहुत-सी कमियों को मिथक पूरा कर देंगे। विको ने मिथक को एक प्रकार की काव्य-भाषा कहा है। उसने मिथकों की संरचना (गठन) और तर्कसंगति को अपनी निज की विशेषता कहा है। उसका यह भी कहना है कि आदिम समाज के लिए मिथक ही एकमात्र भाषा जैसे थे। मिथकों के माध्यम से वह अपने को अभिव्यक्त करता था। विको का अनुमान है कि भाषा पहले संकेतों में प्रारम्भ हुई। उसके बाद उसका विकास मिथकों और आलंकारिक भाषा में हुआ। आज की भाषा उसके बाद ही विकसित हुई। आदिम मानव को लेकर आज जो अध्ययन हो रहे हैं उनसे विको के बहुत-से मतों का समर्थन हो जाता है अतएव आज विको का जो महत्त्व हो गया है वह पहले कभी नहीं था।

मिथक के संबंध में हर्डर, कैसिरेर, वेब आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। उनकी मिथक-संबंधी मान्यताओं से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। जे०जी० हर्डर ने भाषा की उत्पत्ति के मूल में मिथकों की प्रक्रिया बतलाई है और बतलाया है कि कविता अपने में मिथकों की गत्यात्मकता बनाए हुए रहती है। हर्डर ने मिथकों से भाषा के उत्पन्न होने की बात जो कही है उससे अर्नस्ट कैसिरेर सहमत नहीं है। उसका मत है कि दोनों में से कोई किसी से नहीं निकला है। उसके अनुसार भाषा और मिथक एक ही डाल की दो शाखाएं हैं। यहां डाल से कैसिरेर का तात्पर्य प्रतीकीकरण का आवेग और अन्तः प्रेरणा है। सामान्य इन्द्रियानुभूति की तीव्रता और गाढ़पन ही वह आवेग और अन्तः प्रेरणा है। कैसिरेर ने कविता के संबंध में जो कुछ कहा है उसके अनुसार उसमें आदिम भाषा (Primordial Language) और संवेगात्मक अनुभूति का साहचर्य और संयोजन है। कैसिरेर का कहना है कि कला जिस 'विशुद्ध' संवेदना (feeling) को अभिव्यक्त करती है वह मात्र कवि का व्यक्तिगत संवेग (emotion) ही नहीं होती। कैसिरेर और मिसेज लैंगर दोनों ही कविता और मिथक को भिन्न मानते हैं।

हर्बर्ट रीड ने भी मिथक और कविता के अन्तर पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। हर्बर्ट रीड का कहना है कि मिथक अपने बिम्ब-विधान और रूपकात्मकता के कारण अपना स्थायित्व बनाए रखते हैं। इस बिम्ब-विधान और रूपक का शब्दों के माध्यम से किसी अन्य भाषा में रूपान्तरण सभव है। मिथक में सारतत्त्व (essence) की प्रकृति ही प्रसार और फैलाव की है। लेकिन कविता अपनी भाषा के कारण स्थायित्व-लाभ करती है। कविता का सारतत्त्व उसकी भाषा में निहित है। उसका दूसरी भाषा में रूपान्तर नहीं हो सकता। भले ही किसी भाषा की कविता के बिम्ब विधान और रूपकों को दूसरी भाषा में उतारा जा सके, लेकिन यह बहुत ही कम देखने को मिलता है कि एक भाषा की कविता दूसरी भाषा में रूपान्तरित होकर उसी प्रकार की काव्यमयता बनाए रखे। कविता की भाषा और विज्ञान तथा तर्कमूलक भाषा की प्रकृति भिन्न होती है। जब तर्क-संगत विचार और तार्किकता विकास को प्राप्त होते हैं तब भाषा में निहित सवेगात्मकता विनष्ट होने लगती है और वह विज्ञान की भाषा के निकट आने लगती है। उसकी सम्मूर्तन की विशेषता क्षीण हो जाती है। विज्ञान की भाषा अमूर्तता का गुण लिए हुए रहती है। इस प्रकार भाषा की समृद्धि खंडित हो जाती है। विज्ञान की भाषा बिना हाड़-मांस के कंकाल-जैसी होती है, लेकिन कलात्मक अभिव्यक्ति की भाषा न केवल अपने भीतर भाषा की मूलभूत सर्जनात्मक शक्ति को सुरक्षित रखती है बल्कि वह नवीनता को भी प्राप्त होने में समर्थ होती है।

कैसिरेर और मिसेज लैंगर दोनों ही मिथक को तात्त्विक विचारों की आदिम अवस्था मानते हैं। उनका कहना है कि कालक्रम से मिथकपरक धारणा और प्रत्यय का स्थान बुद्धिमूलक चिंतन ले लेता है। विलबुर अर्बन यह मानने को तैयार नहीं कि कला और धर्म आदिम भाषा व्यवहार करते हैं। वैसे बहुत-से लेखकों ने कविता और धर्म दोनों के लिए मिथकों की उपयोगिता पर बल दिया है, लेकिन धर्म और कविता दोनों एक नहीं हो सकते। इसके सबंध में विको (सन् १७२५) का मत ध्यान देने योग्य है। हमने पहले ही देखा है कि उसकी दृष्टि में आदिम मनोभाव मूलत कवित्वमय होता है। उसने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है जिस तरह कविता में जड़ पदार्थ को जीवधारियों की तरह चित्रित किया जाता है, और उसमें इच्छा और आवेग आदि का आरोप किया जाता है उसी प्रकार आदिम युग का मनुष्य स्वाभाविक रूप से बड़े सहज भाव से प्रकृति के जड़ पदार्थों में इच्छा आवेग दुर्धर्ष शक्ति का प्रत्यक्ष करता है। आदिम युग के मनुष्य की भाषा उस अवस्था में तर्कमूलक नहीं थी और वह धार्मिक विधि विधानों में ही रूप ग्रहण कर सकती थी। उसके अनुसार मिथक और कविता दोनों की सृष्टि में इन दोनों विशेषताओं का बहुत बड़ा हाथ है। विको का कहना है कि धार्मिक कृत्यों ने बाद में चलकर कविता में लय और छन्द

का रूप ले लिया है। यहा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आदिम युग के धार्मिक कृत्यों में नृत्य, गीत और अग-सचालन तथा भगिमा आदि का विशिष्ट स्थान था।

रिचार्ड चेज ने अपनी पुस्तक 'दि क्वेस्ट फॉर मिथ' में मिथक (मिथ) शब्द का प्रयोग जिस तरह से किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि उसने उसमें निहित 'मूल्यों' को अपनी आखो से ओझल नहीं होने दिया है। मिथक को वह कला ही मानता है। उसका कहना है कि कविता और मिथक की उत्पत्ति मनुष्य की एक ही प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होती है। दोनो ही एक प्रकार की प्रतीकात्मक सरचना (गठन) का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनो ही एक प्रकार की सभ्रम या श्रद्धा के भाव तथा विस्मय से हमारी अनुभूति को अनुप्राणित करते हैं और एक ही प्रकार से भावो के विरेचन (catharisis) में क्रियाशील होते हैं। चेज ने मिथको को जब कला कहा है और किसी काल मे मिथको ने मनुष्य के भीतर के भयकर पशु को वशीभूत किया था तो इसका अर्थ यह हो जाता है कि इसी प्रकार कला भी आज यह कार्य कर सकती है। वह मानता है कि कला का आधार धार्मिक विश्वास नही है। अतएव उसके विनष्ट होने पर भी कला जीवित रह सकती है। चेज इस मत का विरोधी है कि मिथको मे प्रारभ में धार्मिक विश्वास निहित था। इस दृष्टि से कैसिरेर और लैंगर से उसका मत नही मिलता। ये दोनो ही इस बात में विश्वास करते हैं कि सचमुच के वास्तविक मिथक मे निहित कल्पना मे धर्म-विश्वास की कोई न कोई क्रिया वर्तमान रहती है। चेज के ऐसा सोचने का कारण सभवत यही है कि अगर इस बात को स्वीकार कर लिया जाय कि मिथको मे धर्म-विश्वास निहित हैं तो वे आज के मनुष्य के लिए किसी काम के नही रह जाएगे।

आज के आलोचक और कवि अपनी रचनाओ में इन मिथको का उपयोग करने लगे हैं। इन मिथको मे वे अपने काम की बहुत सी चीजें पाते हैं, जैसे बिम्ब, आद्यरूप (archetype), आदिमकालीन विश्वास, सामाजिक और लोकोत्तर घटनाए तथा आख्यान आदि। कैसिरेर और मिसेज लैंगर कविता और मिथक को भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि दन्तकथा, मिथक और परियो की कहानी को कला नही कहा जा सकता। वैसे इन्हे व कला का स्वाभाविक उपकरण मानते हैं। लेकिन आज के बहुत-से आलोचक साहित्य और मिथको के सबध को आलोचना का एक नया मूल सिद्धान्त मानते हैं। मिथको के सबध मे ऐसी एक धारणा है कि किसी काल का मनुष्य केवल काल्पनिक और अमूर्त वस्तुओ को लेकर नही रह सकता, अतएव वह सब समय अपने लिए यथार्थ, लौकिक जगत् से सबधित मिथक तैयार करता रहता है। चाहे वह कृषि के बचाने, रोग और भय से मुक्ति पाने के लिए देवी-देवताओ का रूप ले अथवा आधुनिक काल

मे सार्वभौम उन्नति, प्राणीमात्र की समानता, शोषण से मुक्ति पाने के लिए विश्वव्यापी मजदूरों की हड़ताल (क्योंकि यह सब-कुछ सभव नही दीखता) आदि को लेकर मिथक की रचना करे।

मिथको को आलोचना का आधार मानने वाले आज के आलोचक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को अधिक प्राधान्य देने वाले हैं। इन आलोचको पर नृतत्त्व-शास्त्र के अनुसधानो का बहुत प्रभाव पडा है। नृतत्त्वशास्त्र के इन अनुसधानो के अनुसार धार्मिक विधि विधान (कर्मकाड), मिथक और कविता किसी भी संस्कृति के प्रारंभिक काल म वर्तमान रहते हैं। मानव समाज इन्ही मानवीय अभिव्यक्तियों के साथ प्रारभ होता है और इन्हीं के सहारे उसका विकास होता है। मिथको को प्रधानता देने वाले बीसवी शताब्दी के समालोचक इस बात से और भी अधिक प्रभावित हुए हैं कि आज भी हम म से प्रत्येक के भीतर वह आदिम मानव छिपा बैठा है। सभ्यता के इतने विकास के बाद, विज्ञान की इस कल्पनातीत अग्रगति के बाद तथा विज्ञान की आधुनिकतम देन (रेडियो, टेलिविजन, द्रुतगामी हवाई जहाज, टेलिप्रिंटर आदि) का उपभोग और व्यवहार करते रहने पर भी प्रत्येक रात को अति प्राचीन मिथको के आदि प्रतीको को वह सपने म पुनर्जीवित करता रहता है। सपनो का विश्लेषण करने वालो ने इस तरह की बहुत-सी जानकारी हम दी है।

बिंब, रूपक, मिथक प्रतीक आदि की उपयोगिता पहले के साहित्यकार रचना को अलकृत करने म मानते रहे हैं। रेने वेलेक ने रूपको और प्रतीको के सबध म कहा है कि साहित्य मे 'अर्थ' और साहित्य की क्रियाशीलता मिथक और मेटाफर (रूपक) म अधिकेन्द्रित है। उनका कहना है कि यह क्रियाशीलता रूपकात्मक चिन्तन और मिथको म आख्यान के रूप म वर्तमान है। आख्यान मूलक काव्य के पीछे मिथकपरक भावना काम करती रहती है। इसी तरह कविता का रूपको के रूप म चिंतन भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। ये सभी शब्द अर्थात् बिंब रूपक मिथक प्रतीक आदि वास्तव म रूप विधान और विषयवस्तु के बीच सेतु का काम करते है। पहले इन दोनो को अलग कर विवेचन करने की प्रवृत्ति रही है। पहले उपमा (simile) और रूपक (metaphor) को अजनरण की वस्तु माना जाता था। अब फ्रायड के अनुसधानो के बाद सभी बिंबो (images) को अचेतन को प्रकाश म लाने वाला समझा जाने लगा है। अतएव कविता के सदर्भ म कल्पना की क्रियाशीलता के नियमो के नए सिरे से अध्ययन की ओर जैसे मिथक सकेत कर रहे हैं। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि मिथको मे कलात्मक सर्जन के मूल तत्त्व को पाया जा सकता है वे यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि कविता की विशेषताओं का मिथको की कितनी विचित्रताओं (विशेषताओं) के साथ साम्य है। फ्रायड

ने दिखलाया है कि स्वप्न की प्रक्रिया के साथ कविता की प्रक्रिया का कितना अधिक मेल है, जैसे, दोनो मे ही कई बिंबो का एक बिंब मे घुल-मिल जाना, जो देखने मे अत्यन्त तुच्छ, नगण्य और साधारण तत्त्व लगता है, उसी को सम्पूर्ण के मर्म (वैशिष्ट्य) से सम्पन्न करना, एक ही तत्त्व को विभिन्न अभिप्रायो से मंडित कर उसे बहुत-से 'अर्थो' का वाहक बनाना आदि। बिंबो को केवल पास-पास रख तर्कमूलक संबधो से परे हो जाना अथवा उनसे बच निकलना कविता और मिथक दोनो मे ही सहज ही मे देखने को मिलता है। फ्रायड, युग और संस्कृति को अपना क्षेत्र बनाने वाले नृतत्त्वशास्त्र (anthropology) के अध्येताओ के अनुसंधानो और मतो का इन आलोचको पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

कैसिरेर मिथक को अनुभूति को प्रत्यक्ष करने का साधन मानता है। अगर इसे मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि कोई जरूरी नही कि मिथक कहानी हो अथवा उसमे कहानी के तत्त्वो की समष्टि वर्तमान हो। लेकिन इसके विपरीत मत रखने वाले मिथक को विशुद्ध कहानी मानते हैं। इसी मत के कारण मिथक को कहानी तथा कल्पना-प्रसूत मानने की लोक-प्रचलित धारणा बनी हुई है और यह समझा जाता है कि उसमे किसी प्रकार का तथ्य नही [illegible]।

चेज़ इसे मनुष्य की सर्जनात्मक कल्पना की कलात्मक सृष्टि मानता है। उसके अनुसार प्रारंभकालीन मिथको की सृष्टि करने वाले कवि थे। ये कवि-हृदय व्यक्ति कहानियो के रूप मे मनुष्य और प्रकृति की शक्तियो की समस्या को उपस्थित करते थे। इन कहानियो मे बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से उन शक्तियों मे निहित जटिलताओ का वर्णन किया जाता था और उनमे एक ऐसा प्रयास रहता था कि किस प्रकार इन शक्तियो मे तालमेल बैठाया जाय, किस प्रकार मनुष्य के प्रति उन शक्तियो के विरोध को मिटाया जाय। यह प्रयास समाज के अंतर की आकांक्षाओं के अनुरूप था।

बहुत लोगो का कहना है कि यद्यपि मिथक मे कहानी का तत्त्व वर्तमान रहता है, फिर भी कवि की कल्पना अथवा उसकी चेष्टा के द्वारा उसकी सृष्टि नही होती। इसके मूल को मनुष्य और सृष्टि के अन्तर की विशेष प्रकृति मे ढूंढा जा सकता है। यह मनुष्य के अचेतन मे वर्तमान 'अर्थ' का वाहक है। अतएव मिथको के दो प्रकार के उत्स को आसानी से समझा जा सकता है। एक तो वह अचेतन जहाँ अभी सत्य, मिथ्या का स्पष्ट रूप प्रकट नही हुआ है और दूसरा, जहाँ मन समझ-बूझकर विशेष प्रयोजन के लिए मिथको के रूप मे कथा की सृष्टि करता है। पहले को हम मौलिक मिथक कह सकते हैं और दूसरे को विशेष प्रयोजन को ध्यान मे रख कल्पना द्वारा जान-बूझकर की हुई मिथको की सृष्टि।

मौलिक मिथको की सृष्टि के संबंध मे युग का सिद्धान्त आज बहुत महत्त्व का हो गया है। युग ने 'समूहगत अचेतन' (Collective unconscious) की

बात कही है जिसमें आर्यबिंब अर्थात् आद्यरूप (archetype) बने रहते हैं। ये आद्यरूप ऐसे भाव हैं जिनमें तीव्र संवेदना का गाढ़ा रंग बना रहता है। यह संवेदना व्यक्ति से परे समूह की है। उसमें अपने आपको बिम्बात्मक रूपों में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति होती है। विश्व-वृक्ष, स्वर्गिक पिता (Divine father), नरकोन्मुख पतन, पापों का धोया जाना, उपलब्धि का दुर्ग (castle of achievement), छद्मवेश में देवता, जादू के वशीभूत राजकुमार —इस तरह के आद्यरूपात्मक भाव (archetypal ideas) बार-बार मानव-मन को आलोडित कर जाते हैं। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के साहित्य को ये भाव कथात्मक तत्त्व जुटाते हैं। दूर-दूर की मानव-जातियों में, भिन्न भिन्न जातियों के साहित्य में मिथक कथा-तत्त्व के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। युग का कहना है कि ये मानव मन के अन्तर में बहुत गहरे में पैठे हुए मनुष्य की विस्मृतियों के गर्भ में अवस्थित हैं और मन शक्ति (Libido) को उन तक पहुंच है।

सभ्यता के विकास के क्रम में जब समाज बुद्धिमूलक चिन्तन से अधिक परिचालित होने लगता है तब इन मिथकों का जैसे रूपान्तरण हो जाता है। महाकाव्य का प्रणेता कवि उन्हें अपने ढंग से सजाने-संवारने लगता है, उन्हें घटाता-बढ़ाता है। वर्जिल की इनिड, शेक्सपियर के टेम्पेस्ट तथा मिड्समर नाइट्स ड्रीम, मिल्टन के पैराडाइज लास्ट आदि में इन पुरातन कथाओं, मिथकों का सुन्दर ढंग से उपयोग किया गया है। इलियट के वेस्टलैण्ड, गेटे के फाउस्ट अथवा येट्स की कविताओं में मिथकों का उपयोग हुआ है, लेकिन इन रचनाओं में मिथकों का प्रयोग अत्यन्त जटिल हो गया है। उनमें वह अनगढ़पन नहीं है जो पहले की रचनाओं में था। अब ये अधिक परिष्कृत और परिनिष्ठित हो गए हैं। लेकिन अब इनमें योगसूत्र स्थापित करने वाली सुस्पष्ट चिन्ताधारा की खोज निकालना कठिन हो गया है। अतएव कवि के लिए यह समस्या हो गई है कि किसी विषय-वस्तु में निहित अर्थ को वह किस प्रकार अभिव्यक्ति दे। आज के परिवर्तित समाज में पुराने काल से चले आते हुए मिथक आधुनिक बुद्धिपरक दृष्टि के कारण अपनी ताजगी खो चुके हैं और नए मिथकों की सृष्टि करने में कवि को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। नए मिथक पुराने मिथकों के समान न मन को छूते हैं, न रूप ग्रहण कर जीवन्त हो उठते हैं और न व्यापक रूप से समाज को प्रभावित कर पाते हैं।

आज का रचनाकार जब मिथकों का सहारा लेने का प्रयास करता है तो उसके उस प्रयास के मूल में यह भावना काम करती रहती है कि वह समाज से निकट का संबंध स्थापित करना चाहता है। प्रतीकवादियों की तरह ये रचनाकार अपनी अलग-अलग दुनिया बनाकर नहीं रहना चाहते। येट्स (Yeats) ने जब आयरलैंड की पौराणिक कहानियों के साथ अपने स्वयं के निर्मित मिथकों

ने दिखलाया है कि स्वप्न की प्रक्रिया के साथ कविता की प्रक्रिया का कितना अधिक मेल है, जैसे, दोनो मे ही कई बिंबो का एक बिंब मे घुल-मिल जाना, जो देखने मे अत्यन्त तुच्छ, नगण्य और साधारण तत्त्व लगता है, उसी को सम्पूर्ण के मर्म (वैशिष्ट्य) से सम्पन्न करना, एक ही तत्त्व को विभिन्न अभिप्रायो से मडित कर उसे बहुत-से 'अर्थों' का वाहक बनाना आदि। बिंबो को केवल पास-पास रख तर्कमूलक सबधो से परे हो जाना अथवा उनसे बच निकलना कविता और मिथक दोनो मे ही सहज ही मे देखने को मिलता है। फ्रायड, युग और सस्कृति को अपना क्षेत्र बनाने वाले नृतत्त्वशास्त्र (anthropology) के अध्येताओ के अनुसधानो और मतो का इन आलोचको पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

कैसिरेर मिथक को अनुभूति को प्रत्यक्ष करने का साधन मानता है। अगर इसे मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि कोई जरूरी नही कि मिथक कहानी हो अथवा उसमे कहानी के तत्त्वो की समष्टि वर्तमान हो। लेकिन इसके विपरीत मत रखने वाले मिथक को विशुद्ध कहानी मानते हैं। इसी मत के कारण मिथक को कहानी तथा कल्पना-प्रसूत मानने की लोक-प्रचलित धारणा बनी हुई है और यह समझा जाता है कि उसमे किसी प्रकार का तथ्य नही है।

चेज इसे मनुष्य की सर्जनात्मक कल्पना की कलात्मक सृष्टि मानता है। उसके अनुसार प्रारभकालीन मिथको की सृष्टि करने वाले कवि थे। ये कवि-हृदय व्यक्ति कहानियो के रूप मे मनुष्य और प्रकृति की शक्तियों की भयकरता को उपस्थित करते थे। इन कहानियों मे बड़े चमत्कारपूर्ण ढग से उन शक्तियो मे निहित जटिलताओ का वर्णन किया जाता था और उनमे एक ऐसा प्रयास रहता था कि किस प्रकार इन शक्तियो मे तालमेल बैठाया जाय, किस प्रकार मनुष्य के प्रति उन शक्तियो के विरोध को मिटाया जाय। यह प्रयास समाज के अन्तर की आकाक्षाओ के अनुरूप था।

बहुत लोगो का कहना है कि यद्यपि मिथक मे कहानी का तत्त्व वर्तमान रहता है, फिर भी कवि की कल्पना अथवा उसकी चेष्टा के द्वारा उसकी सृष्टि नही होती। इसके मूल को मनुष्य और सृष्टि के अन्तर की विशेष प्रकृति मे ढूढा जा सकता है। यह मनुष्य के अन्तर मे चलमान अर्थ का वाहक है। अतएव मिथको के दो प्रकार के रूपो की आसानी से समझा जा सकता है। एक तो वह अचेतन जहाँ अभी सत्य, मिथ्या का स्पष्ट रूप प्रकट नही हुआ है और दूसरा, जहाँ का समझ-बूझकर विशेष प्रयोजन के लिए मिथको के रूप मे कथा की सृष्टि करना है। पहले को हम मौलिक मिथक कह सकते हैं और दूसरे को विशेष प्रयोजन को ध्यान मे रख कल्पना द्वारा जान-बूझकर की हुई मिथको की सृष्टि।

मौलिक मिथको की सृष्टि के सबध मे युग का सिद्धान्त आज बहुत महत्त्व का हो गया है। युग ने 'समूहगत अचेतन' (Collective unconscious) की

बात कही है जिसमें आर्चविब अर्थात् आद्यरूप (archetype) बने रहते हैं। ये आद्यरूप ऐसे भाव हैं जिनमें तीव्र संवेदना का गाढ़ा रंग चढ़ा रहता है। यह संवेदना व्यक्ति से परे समूह की है। उसमें अपने आपको बिम्बात्मक रूपों में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति होती है। विश्व-वृक्ष, स्वर्गिक पिता (Divine father), नरकोन्मुख पतन, पापों का धोया जाना, उपलब्धि का दुर्ग (castle of achievement), छद्मवेश में देवता, जादू से वशीभूत राजकुमार —इस तरह के आद्यरूपात्मक भाव (archetypal ideas) बार-बार मानव-मन को आलोड़ित कर जाते हैं। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के साहित्य को ये भाव कथात्मक तत्त्व जुटाते हैं। दूर-दूर की संस्कृतियों में, भिन्न-भिन्न जातियों के साहित्य में मिथक कथा-तत्त्व के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। युंग का कहना है कि ये मानव मन के अन्तर में बहुत गहरे में पैठे हुए मनुष्य की विस्मृतियों के गर्भ में अवस्थित हैं और मन-शक्ति (Libido) की उन तक पहुँच है।

सभ्यता के विकास के क्रम में जब समाज बुद्धिमूलक चिन्तन से अधिक परिचालित होने लगता है तब इन मिथकों का जैसे रूपान्तरण हो जाता है। महाकाव्य का प्रणेता कवि उन्हें अपने ढंग से सजाने-सवारने लगता है, उन्हें घटाना-बढ़ाना है। वर्जिल की इनिड, शेक्सपियर के टेम्पेस्ट तथा मिड्समर नाइट्स ड्रीम, मिल्टन के पैराडाइज लास्ट आदि में इन पुरातन कथाओं, मिथकों का सुन्दर ढंग से उपयोग किया गया है। इलियट के वेस्टलैण्ड, गेटे के फाउस्ट अथवा येट्स की कविताओं में मिथकों का उपयोग हुआ है, लेकिन इन रचनाओं में मिथकों का प्रयोग अत्यन्त जटिल हो गया है। उनमें वह अनगढ़पन नहीं है जो पहले की रचनाओं में था। अब वे अधिक परिष्कृत और परिनिष्ठित हो गए हैं। लेकिन अब इनमें योगसूत्र स्थापित करने वाली सुस्पष्ट चिन्ताधारा की खोज निकालना कठिन हो गया है। अतएव कवि के लिए यह समस्या हो गई है कि किसी विषय-वस्तु में निहित अर्थ को वह किस प्रकार अभिव्यक्ति दे। आज के परिवर्तित समाज में पुराने काल से चले आते हुए मिथक आधुनिक बुद्धिपरक दृष्टि के कारण अपनी ताजगी खो चुके हैं और नए मिथकों की सृष्टि करने में कवि को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। नए मिथक पुराने मिथकों के समान न मन को छूते हैं, न रूप ग्रहण कर जीवन्त हो उठते हैं और न व्यापक रूप से समाज को प्रभावित कर पाते हैं।

आज का रचनाकार जब मिथकों का सहारा लेने का प्रयास करता है तो उसके उस प्रयास के मूल में यह भावना काम करती रहती है कि वह समाज से निकट का संबंध स्थापित करना चाहता है। प्रतीकवादियों की तरह ये रचनाकार अपनी अलग-अलग दुनिया बनाकर नहीं रहना चाहते। येट्स (Yeats) ने जब आयरलैंड की पौराणिक कहानियों के साथ अपने स्वयं के निर्मित मिथकों

का मिश्रण कर अपनी रचनाओं को समृद्ध किया तो उसके इस प्रयास के पीछे यही भावना काम करती रही कि वह आयरलैंड के साथ अपनत्व को रूप देना चाहता है। हर्डर ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया था कि कविता में मिथकों का प्रयोग आयासपूर्वक नहीं होना चाहिए, बल्कि सहज-स्वाभाविक रूप से उन्हें कविता का अंग होना चाहिए। कविता के अवयव के रूप में ही मिथकों की सार्थकता है। मिथक कविता की संरचना (गठन) में केवल वृत्तमूलक होकर नहीं आते बल्कि उसकी साज-सज्जा के रूप में आते हैं। कवि अपने वक्तव्य-विषय को जिस दृष्टि से देखता है या रख देता है उस दृष्टिभंगी का अभिन्न अंग होकर मिथक वर्तमान रहता है। येट्स और इलियट ने अपनी रचनाओं में मिथक संबंधी जो प्रयास किए हैं वे आज की कविता में मिथकों के अभिनव प्रयोग हैं।

जो लोग मिथक और स्वप्नों के मनोविज्ञान का अध्ययन कर कविता को समझना चाहते हैं क्या सचमुच में उन्होंने अपने अध्ययन द्वारा ऐसा कुछ पाया है जिससे कविता की 'व्याख्या' की जा सके ? मिथकों के आधार पर अगर कविता का मूल्यांकन किया जाए तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से आ उपस्थित होगा कि क्या कोई कविता दूसरी से इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें मिथकों का सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है ? अथवा इसलिए कि एक कविता में दूसरों की अपेक्षा अच्छे मिथकों का प्रयोग है ? अगर यही मूल्यांकन का आधार हो तो यह परम्परायुक्त मूल्यांकन के क्षेत्र में आ पड़ेगा। जिस तरह शब्दों और अलंकारों आदि के समुचित प्रयोग को ध्यान में रखकर मूल्यांकन किया जाता है, यह भी काम उसी कोटि में आ जाएगा। फ्रायड के आलोचना के सिद्धान्त में भी यही कमी है कि अच्छी और बुरी दोनों तरह की कविताओं का उसमें एक ही धरातल पर रखा जाता है क्योंकि फ्रायड के अनुसार सभी कलाएँ आत्माभिव्यक्ति के लिए हैं और उनका स्वप्न और दिवा-स्वप्न से सादृश्य है। अगर मिथकों और आर्केटाइप (आद्यरूप) का कविता के अध्ययन में महत्त्व स्वीकार कर लिया जाए तो काम कुछ सुगम हो जाता है लेकिन उसी को एकमात्र आलोचना का आधार मानने में बहुत-सी कठिनाइयाँ आ जाती हैं।

नार्थोप फ्राइ मिथक और आद्यरूप संबंधी नए अनुसंधानों के फलस्वरूप कविता की आलोचना को एक वास्तविक विज्ञान के रूप में देखा जा सकता है। उनका कहना है कि यह ठीक है कि कवि कविता का मूल सृजन कारण है लेकिन कविता में रूप-विधान (form) भी है। इस रूप का अस्तित्व प्रदान करने वाला कारण कविता के मूल में वर्तमान है। फ्राइ इस कोटि विचार को आवश्यक मानता है। रूप-विधान के मूल में फ्राइ के अनुसार आर्केटाइप का अस्तित्व है। फ्राइ के सभी तर्कों को मान लें कि कविता की आलोचना विज्ञान की

तरह नि संग हो सकती है, फिर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि क्या आलोचक के लिए यह देखना जरूरी नही है कि कविता सचमुच कविता है या नही ?

(ख) आद्यरूप

आर्केटाइप (आद्यरूप) को साहित्य का आधार बनाने की ओर लोगो का झुकाव ईसवी सन् की बीसवी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो से ही परिलक्षित होने लगता है। इस झुकाव के मूल मे आदिम मानव-समाज के कर्मकाड और मिथको मे निहित मनोविज्ञान का अध्ययन तो था ही, साथ ही नृतत्वशास्त्र सम्बन्धी अनुसधानो और तथ्यो तथा फ्रायड और युग के समूहगत अचेतन, स्वप्न, कविता तथा मिथको का अध्ययन और मनोविश्लेषण की बारीकियाँ को प्रकाश मे लाना आदि ने इसमे और भी तीव्रता ला दी। इस काल मे लोगो का नृतत्वशास्त्र के विशेषज्ञ जे०जी० फ्रेजर की पुस्तक 'दि गोल्डेन बाउ' (The Golden Bough) से परिचय हुआ। इसी क्षेत्र मे काम करने वाले गिलबर्ट मर्रे, थियोडोर एच० गैस्टर आदि की रचनाएँ भी इसी काल मे प्रकाश मे आई। आदिम मानव-समाज के कर्मकाड तथा मिथक सम्बन्धी अध्ययन, और विशेष रूप से मनोविज्ञान को ध्यान मे रखकर उनका अध्ययन, थियोडोर रिक, एरिच फ्राम आदि की रचनाओ मे प्रकाशित हुआ। इन सभी अध्ययनो का सम्मिलित प्रभाव कुछ इस तरह पडा कि लोगों ने कविता की आलोचना के लिए आर्केटाइप को भी एक महत्व का स्थान दिया।

आर्केटाइप (आद्यरूप) को समझने के नाना प्रकार के प्रयत्न हुए हैं। युग ने अपनी पुस्तक 'कन्ट्रिब्यूशन्स टु एनेलिटिकल साइकोलोजी' (सन् १९२८ ई०) मे आर्केटाइप के सम्बन्ध मे कहा है कि आदिम बिंब अथवा आर्केटाइप (आद्यरूप) एक आकृति (figure) है—चाहे वह मनुष्य हो, दानव हो या कोई प्रक्रिया (process)। शताब्दियो के इतिहास मे यह देखने को मिलता है कि सर्जनात्मक कल्पना के सहज भाव से स्थापित होने पर अर्थात् बिना किसी आयास के स्वाभाविक ढग से जब यह सर्जनात्मक कल्पना रूप ग्रहण करती है तब यह आकृति या बिंब उसमे प्रकट होकर ही रहता है। युग ने बतलाया है कि बहुत-सी कविताओ मे एक विशेष सवेगात्मकता होती है। उसके अनुसार इस सवेगात्मकता का कारण पाठक के चेतन मन के भीतर अचेतन शक्तियों का स्पन्दन है। इन अचेतन शक्तियो को वह आदिम बिंब अर्थात् आर्केटाइप (आद्यरूप) कहते हैं। इन आद्यरूपो को युग ने मानस मे उसी प्रकार के असख्य अनुभवों का अवशेष कहा है। इन अनुभवो से उसका मतलब व्यक्ति-विशेष के अनुभवो से नही है बल्कि उसके पूर्वजों के अनुभव से है, जो मनुष्य के मस्तिष्क मे विरासत के रूप मे प्राप्त होते हैं और व्यक्ति-विशेष के अनुभव का वे ही निर्धारण करने वाले होते हैं। जो

कवि इन आद्यरूपों के माध्यम से बोल रहा है वह कहीं प्रभावशाली भाषा में बोल रहा है। अगर वह अपनी स्वयं की भाषा का प्रयोग करता तो यह उसके लिए सम्भव नहीं होता। आद्यरूपों के माध्यम से उसके बोलने पर लगता है जैसे वह यह अनुभव करा देता हो कि वह उस भाषा का प्रयोग कर रहा है जो क्षणस्थायी अथवा सामयिक नहीं है बल्कि सर्वकालीन और अमर है। वह व्यक्ति की आशा-आकांक्षाओं को मनुष्य-जाति की आशा-आकांक्षाओं में परिणत कर देता है। कला की प्रभावोत्पादकता का यही रहस्य है। अतएव हम देखते हैं कि कविता के संदर्भ में जब आद्य रूप (आर्केटाइप) की बात कही जाती है तब उसका मतलब मौलिक, सामान्य और सार्वभौम नमूनों (विशेषताओं) से होता है।

गिलबर्ट मरे ने ठीक इसी तरह से कहा है कि इस तरह की कहानियाँ तथा परिस्थितियाँ (उसने आरेस्टेस तथा हैमलेट का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है) जाति की स्मृति में अमिट रूप से अंकित हैं और उन्हीं की छाप जैसे हमारे मस्तिष्क में लगा दी गई है। हम कहते हैं कि इस तरह के प्रसंग हमारे जाने-पहचाने नहीं हैं, फिर भी उन्हें देखते ही तथा उनका अल्प-स्पर्श पाते ही हमारे अंतर का जैसे कुछ उछल पड़ता है। हमारा रक्त जैसे उद्घोष कर उठता है और बतला देता है कि जिसे हम अपरिचित कहते हैं वह हमारा सदा-सर्वदा का परिचित है। गिलबर्ट मरे हैमलेट, आगामेम्नन तथा इलेक्ट्रा जैसे नाटकों की चर्चा करते हुए कहता है कि इन नाटकों में चरित्र के अंकन में लचीलापन और सूक्ष्मता है तथा कथा का संयोजन बड़ी निपुणता से किया गया है। लेकिन उसका कहना है कि उसे लगता है कि ऊपरी सतह के नीचे एक स्पन्दन है जिसका विश्लेषण नहीं किया गया है। उस सतह के नीचे इच्छाओं, आशंकाओं और वासनाओं की एक अंत:सलिला है जो दीर्घ काल से सुप्त है, फिर भी वह बराबर की परिचित है। *सहस्रों वर्षों से उस स्पन्दन के समान वह हमारे अत्यन्त अंतरंग आवेगों के मूल में* पास ही पड़ी हुई है और उसी के समान हमारे ऐन्द्रजालिक सपनों के ताने-बाने में बुनी हुई है। उसका कहना है कि उस स्पन्दन के समान यह अंत:सलिला हमारे अतीत की किस सीमा तक पहुँची हुई है, इसकी कल्पना करने का भी वह साहस नहीं कर पाता। उसके अनुसार इसे स्पन्दित करना अथवा इसके साथ प्रवाहित होना प्रतिभा का चरम रहस्य है। गिलबर्ट मरे को इस तरह रूपकों की भाषा में अपनी बात कहना बहुत पसन्द नहीं, फिर भी इस विषय पर इतने सुन्दर ढंग से प्रकाश डालना कठिन है। उसका 'हैमलेट और आरेस्टेस' शीर्षक निबन्ध 'दि क्लासिकल ट्रैडिशन इन पोएट्री' (सन् १९२७ ई०) में प्रकाशित हुआ है।

कविता में प्राचीन प्रसंगों के प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुतीकरण के थोड़े-से स्पर्श से ही हमारे अंतर का कुछ जैसे आलोड़ित हो उठता है। इन प्रसंगों की रूपात्मकता (pattern) युग-युग से सभी परिवर्तनों के बावजूद चलती चली आ रही है और

उसका (अर्थात् उन प्रसंगों में अंतर्निहित रूप का) हमारे मन की संवेगात्मक प्रवृत्तियों की रूपात्मकता के साथ साम्य है। उन प्रसंगों के आते ही हम अभिभूत हो उठते हैं। हमारी संवेगात्मक प्रवृत्तियों में जो रूप छिपे हुए हैं वे युग के अनुसार हमारे सपनों एवं दिवा-स्वप्नों में अपने-आप उदय होते हैं। कलात्मक कृतियों में ये आदिम युग के प्रसंग अथवा कहानियाँ इसलिए बनी हुई हैं कि उनमें अभिव्यक्त करने की तथा प्रतीकीकरण की बड़ी प्रबल शक्ति है और इस प्रकार से अभिव्यक्त होकर और प्रतीकों में रूपायित होकर वे मनुष्य के विलक्षण और विशेष संवेगों को उन्मुक्त कर उनके भार को हलका करती हैं।

फ्राइ का कहना है कि आर्केटाइप (आद्यरूप) से उसका मतलब साहित्यिक कृति के किसी भी तत्त्व से है चाहे वह तत्त्व पात्र हो, बिंब हो अथवा कोई भाव हो, लेकिन वह तत्त्व ऐसा हो जिसे व्यापक ऐक्य अथवा एकसूत्रता में बाँधने वाली श्रेणी या कोटि में मिलाया जा सके। योडकिन का कहना है कि आद्यरूपात्मक आकृति हम उसे कहेंगे जो हमारे अंतर में है। जब एक महान् कवि उन कहानियों का उपयोग करता है जो जाति के सपनों में रूप ग्रहण किए हुए हैं तब वह केवल अपनी ही संवेदना को रूप नहीं देता बल्कि एक साथ ही अपनी और जातिगत अनुभूतियों को रूप देता है। कवि की विशेषता यह है कि अपनी असाधारण संवेदना के कारण जातिगत उन संवेगात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति देने वाले शब्दों तथा बिंबों से वह अत्यधिक प्रभावित होता है और उन शब्दों और बिंबों का इस प्रकार उपयोग करता है कि उनकी संवेगात्मकता की अभिव्यक्ति चरम तक पहुँच जाती है।

अतएव हम देखते हैं कि आर्केटाइप (आद्यरूप) वास्तव में प्राथमिक रूप-रचना है जिसमें वस्तुओं के किसी समूह के मौलिक तत्त्व वर्तमान रहते हैं। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। कुर्सी के विभिन्न ब्योरों, रंग, अलंकरण आदि को अगर छोड़ दें तो कुर्सी बनाने वाले जहाँ भी होंगे उनके मन में कुर्सी के चार पैर तथा उसकी आकृति वर्तमान रहेगी। कुर्सी का इसे आद्यरूप कह सकते हैं। रंग, अलंकरण आदि विशेष हैं लेकिन उसकी आकृति, उसके चार पैर ऐसे तत्त्व हैं जो सामान्य और सार्वभौम हैं। कविता में भी इसी प्रकार से आद्यरूप की कल्पना की जा सकती है जैसे कोई भाव, चरित्र, क्रियाकलाप, वस्तु, संस्था, परिवेश, घटना जो उन मूलभूत विशिष्टताओं को लिए हुए है जो विशेष नहीं है, परिनिष्ठित नहीं हैं और न वितथात्म हैं बल्कि जो आदिम हैं, सामान्य हैं और सार्वभौम हैं। यह सामान्यता और सार्वभौमता विभिन्न साहित्यिक कृतियों की समानधर्मिता और सादृश्य में देखने को मिलती है। अध्येता इन समानधर्मिताओं और सादृश्यों को विभिन्न दंतकथाओं तथा नीति और पौराणिक कथाओं में खोज निकालता है। मिथकों, धार्मिक कृत्यों, स्वप्नों में भी इन सामान्यताओं को

पाया जा सकता है। इन विशेषताओं को बार-बार साहित्यिक रचनाओं मे दीख पडने का कारण कविता के आविर्भाव के मूल मे खोजा जा सकता है। कविता के आविर्भाव को जाति के समूहगत अचेतन मे अथवा धार्मिक कृत्यो मे ढूँढा जा सकता है। अतएव आद्यरूप के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि यह वह प्राथमिक रूप-रचना या आकृति है जिसकी नकल कर बाद मे प्रतिकृतियाँ बनती हैं। प्रेम, जन्म, मृत्यु, भाइयो की प्रतिद्वन्द्विता, व्यक्ति और समाज, पिता की खोज, किसी नौजवान का गाँव से पहली बार शहर मे आना, विशेष प्रकार के पशु-पक्षी, जादूगरनी, जादू-टोना करने वाली आदि कुछ ऐसे विषय और प्रसंग है जिनका समावेश कविता मे आद्यरूपात्मक प्रतिकृति का उदाहरण हो सकता है।

फ्राइ का कहना है कि मानव-जीवन और बाह्य जगत् की समानताओ के आधार पर आद्यरूपात्मक प्रतीको की सृष्टि हो सकती है। रात-दिन, सूर्य का उदय और अस्त होना, विभिन्न ऋतुओं का सम्पूर्ण वर्ष म परिवर्तन आदि के साथ मानव-जीवन मे होने वाले परिवर्तनो का साम्य है। इस साम्य के आधार पर मिथकीय कथा की सृष्टि हो सकती है। किसी व्यक्ति को केन्द्र कर कहानी बुनी जा सकती है जिसमे वह अशत सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है, अशत उद्भिज जगत् की उर्वरशक्ति का तथा अशत किसी देवता अथवा आद्यरूपात्मक मनुष्य का। लेकिन बहुत-से आलोचक इस आद्यरूपात्मकता वाली दृष्टिभगी का समर्थन नही करते। उनका कहना है कि कविता मे बहुत-से प्रतीक पूर्ण रूप से व्यक्तिनिष्ठ हैं, उन्हे आद्यरूपात्मक समझना गलत होगा।

आद्यरूपो को ध्यान मे रखकर कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है और कभी-कभी उससे अत्यन्त ही चमत्कारपूर्ण तथ्यो का उद्घाटन तथा परिणामो तक पहुँचा जा सकता है, लेकिन इतना सब समय ध्यान मे रखना होगा कि ये सभी परिणाम अनुमान पर आधारित हैं, अतएव निश्चित रूप से वे सही या गलत होंगे ऐसा नही कहा जा सकता।

बिंब और रूपक

(क) बिंब

'इमेज' शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। इसका अर्थ प्रतिकृति, बिंब आदि होता है। 'इमेजरी' शब्द का प्रयोग अलकार-विधान क अर्थ म प्राय. ही होता है। यहाँ इमेज अथवा इमेजरी शब्दो स हम वही अथ ले रहे हैं जो बिंबवाद (इमेजिज्म) तक सीमित है। वास्तव म 'इमेज' शब्द का जब साहित्य म व्यवहार होता है तब इसका मतलब या तो किसी कथन के अर्थ म निहित बिंब होना है या अन्य सब कुछ को छोडकर सपूर्ण रूप से बिंब का ही सकेत करना होता है अथवा अर्थ और बिंब दोना का युक्त होकर वर्तमान होना होता है। 'इमज' का अर्थ वस्तुपरक केवल नही है बल्कि किसी भाव के मर्म से है जिसम हमारा ध्यान इन्द्रियग्राह्य जैसी किसी चीज म निबद्ध रहता है। सी० डी० लीविस ने इसका अर्थ शब्दो से बुना चित्र कहा है जबकि फागल (Fogle) का कहना है कि बिंब कविता म निहित इन्द्रियग्राह्य तत्त्व का निर्देश करता है।

हमने देखा है कि भिन्न-भिन्न प्रकार से इस शब्द का प्रयोग किया गया है, अतएव इसक अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने क लिए यह आवश्यक है कि सदर्भ पर सब समय ध्यान रखा जाए। बिंब का अध्ययन मनोविज्ञान और साहित्य दोनो के क्षेत्र म पडता है। सवेदनात्मक या बोधात्मक अनुभूतियाँ जो इन्द्रिय-गोचर या चाक्षुष प्रत्यक्ष हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं, उन्ही की मानसिक प्रतिकृति को मनोविज्ञान म 'इमेज' कहा गया है। य 'इमेज' स्वादग्राही, घ्राणेन्द्रिय विषयक, तापविषयक तथा चाप (दबाव) विषयक भी हो सकते हैं। गतिशील और गतिहीन 'इमेज' भी हैं।

'इमेज' (प्रतिच्छवि, मूर्त-विधान, सम्मूर्तन) कवि की प्राथमिक ऐन्द्रिक अनुभूति है। कवि की मौलिकता इस बात म निहित है कि अन्य वस्तुओ अथवा अपनी भावनाओ के परिप्रेक्ष्य म वह वस्तुओ का प्रथम-प्रथम 'मेटाफर' (रूपक) के रूप मे प्रत्यक्ष करता है। आँखो से प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु के रूप मे 'इमेज' को अलग करके देखना कठिन है। बिंबो को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है अतएव उनके दृग्गोचर होने की बात सन्देहास्पद है। चाक्षुष

प्रत्यक्ष बिंब या तो एक बोध है या एक संवेदनात्मक उत्तेजना। इमेज वर्णनात्मक भी हो सकता है और रूपक भी। चाक्षुष प्रत्यक्ष बिंब केवल वर्णनात्मक कविताओं में ही नहीं मिलते। जिन लोगों ने वर्णनात्मक कविताएं लिखी हैं उन्होंने बाह्य जगत् को चित्रित करने तक ही अपने को सीमित रखा है लेकिन साधारणतः कवियों ने इस तरह के प्रयास कम ही किए हैं।

बिंबों की प्रभावोत्पादकता उसी समय सबसे अधिक होती है जब उनके लिए कम से कम शब्दों का उपयोग किया जाए। लेकिन इस प्रकार कम से कम शब्दों का उपयोग छन्द-विधान की दृष्टि से कठिनाई उपस्थित करता है। छन्दों की योजना और उनका गठन मूलतः ध्वनि पर आधारित है। अलंकार और बिंब-विधान से यह अलग की वस्तु है। आधुनिक कवि व्यक्तिगत स्मृति-चित्रों (personal memory-images) का प्रयोग करने लगे हैं। यह मूर्त-विधान या बिंब-विधान कवि की रचना में काव्यात्मकता तो ला देता है लेकिन उन स्मृति-चित्रों का परिचय पाने का प्रयास या उनकी व्याख्या के पीछे अगर पड़ा जाय तो वे अपनी प्रभावोत्पादकता खो देंगे और उनमें काव्यात्मकता नहीं रह जाएगी। आज की अँग्रेज़ी कविता में स्वतःस्फूर्त स्मृति-चित्रों को रूपायित करना उसकी मुख्य विशेषता हो गया है। ऐसा नहीं कि पहले के अँग्रेज़ कवियों ने बिंबों का प्रयोग नहीं किया है। वर्ड्सवर्थ जैसे स्वच्छन्दतावादी कवियों ने मूर्त-विधान के लिए इन्द्रियगोचर प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग किया है लेकिन उनका उद्देश्य इन प्राकृतिक वस्तुओं को स्वर्गीय आभा से मंडित करना था। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। वे पार्थिव वस्तुओं को रहस्यवादी दृष्टि से रंजित कर देखने में संतोष-लाभ करते थे जबकि आज का कवि प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखता है। उसे 'इमेज' (बिंब) के उत्तेजनापूर्ण संवेदनात्मक प्रभावों से ही संतोष हो जाता है, भले ही उसका उपयोग वर्णनात्मक या भावुकतापूर्वक कविता में किया गया हो। वास्तव में आज के कवि के लिए 'इमेज' (बिंब) का स्थान 'मेटाफर' (रूपक) से अधिक महत्त्व का हो गया है। फ्रांसीसी कवि पाल रेवर्डी का कहना है कि 'इमेज' (बिंब) विशुद्ध रूप से मस्तिष्क की सृष्टि है। 'मेटाफर' में दो वस्तुओं के चमत्कारपूर्ण सादृश्य की खोज रहती है लेकिन काव्य-रचना की प्रक्रिया में जो सूक्ष्मता रहती है उसके लिए वह अपर्याप्त है। 'इमेज' दूरवर्ती दो वास्तवताओं को निकट लाने की प्रक्रिया में प्रादुर्भूत होता है, केवल सादृश्य स्थापित करने से यह संभव नहीं होता। उन दूरवर्ती वास्तवताओं में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं रहने पर भी उनके सम्बन्धों को केवल मस्तिष्क ही स्पष्ट रूप से अनुभव कर पाता है। उन वास्तवताओं का सम्बन्ध तर्कसंगत सादृश्य पर आधारित नहीं होता।

बिंबवाद (imagism) एक साहित्यिक आन्दोलन का नाम हो गया है,

लेकिन इस आन्दोलन का प्रभाव बहुत कम समय तक वर्तमान रहा। सन् १६१२ ई० से सन् १६१७ ई० तक बिंबवाद की पूरी चर्चा होती रही, इसके घोषणापत्र प्रकाशित होते रहे, लेकिन उपलब्धि की दृष्टि से इसका कुछ विशेष महत्त्व नहीं रहा है। सन् १६१२ ई० में एज़रा पाउन्ड ने बिंबवाद के आन्दोलन का प्रवर्तन किया। पाउन्ड ने टी० ई० ह्यूल्म (T E Hulme) की पाँच कविताएँ लोगों के सामने रखीं और उन्हें बिंबवादी कविताएँ कहकर उनका परिचय दिया। अँग्रेज़ी साहित्य में बिंबवाद का आन्दोलन फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन का ऋणी है। रेमी द गुर्मो (Remy De Gurmont) ने स्वयं इसका संकेत किया है।

बिंबवादी सटीक तथा अवितथ भाषा, वेलौस भावग्राही दृष्टि तथा घन, गाढ भावों को एक सबल प्रभावशाली बिंब (image) में घुला-मिला देना चाहते हैं। छोटे आकार-प्रकार की कविता में ही बिंबवादियों की विशेष रुचि है। लघुकाय कविता ही उन्हें मान्य है। एक ही बिंब या रूपक से कविता की सरचना या गठन के वे पक्षपाती हैं। लयात्मकता को उन्होंने प्रधान्य दिया है। बाह्य जगत् की किसी वस्तु या दृश्य को पाठक के समक्ष उसके सीधे प्रत्यक्ष बोध के लिए उपस्थित करने की बात पर बिंबवादी बल देते हैं। उन्हें यह पसन्द नहीं कि कविता की प्रभावोत्पादकता को किसी गूढार्थ में उलझा दिया जाए। यथार्थ, वस्तुनिष्ठ जगत् में ही उनका संपूर्ण ध्यान लगा रहा। भाषा में मितव्ययिता-भारी और विषय प्रतिपादन में सक्षिप्तता उन्हें काम्य है। स्पष्ट, प्रत्यक्ष और निश्चित ब्योरे का होना वे उचित मानते हैं।

एज़रा पाउन्ड ने 'इमेज' (बिंब) की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह मात्र बाह्य का चित्रात्मक प्रतिरूप (pictorial representation) नहीं है। पाउन्ड का कहना है कि बिंब क्षणमात्र में बौद्धिक और सवेगात्मक जटिलताओं और भावग्रन्थियों को हमारे सामने उपस्थित कर देता है। भिन्न-भिन्न भावों को जो एक-दूसरे से पृथक् हैं तथा जिनमें किसी प्रकार की सगति और समता नहीं है, पाउन्ड के अनुसार बिंब उनका सयोग साधित करता है अर्थात् असगत और विषम भावों का एकीकरण और उनमें एकसूत्रता का स्थापित होना बिंब द्वारा संभव हो पाता है।

बिंबवादियों का कहना है कि कविता का सारतत्त्व बिंब और उससे उत्पन्न अनुगुंजन है। उनके अनुसार कल्पना से जिस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि होती है वह बुद्धिपरक विश्लेषण से कहीं श्रेष्ठ होता है। विज्ञान के प्रयोगाश्रित अन्वेषण से उसकी दृष्टि में वह बढ़कर है। कविता में बिंब (मूर्त्तन) पाठक को बोध के क्षण की दीप्ति से उद्भासित कर देता है। यह सहज स्वाभाविक बोध ही परे होता है। उससे पाठक के भीतर एक नयी संवेदना (sensibility)

जाग्रत होती है जिसकी उपलब्धि नित्यप्रति के जीवन में नहीं हो पाती। टी० ई० ह्यूल्म ने कविता को प्रकटन, बोध या ज्ञान का क्षण कहा है। उसका कहना है कि प्रभावोत्पादक रूपक (मेटाफर) अत्यन्त तीव्र अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

बिंबवादियों के आन्दोलन का यह प्रभाव हुआ कि इसने कविता की संरचना (*structure*), ढाँचे की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और इस बात की ओर संकेत किया कि उस संरचना का आधार रूपकात्मक (metaphorical) अथवा औपम्यमूलक (analogical) है। इसने एक ऐसे रूप-विधान की धारणा का निर्देश किया जो कालांतर में प्रतीकवाद का आधार बनी। इलियट, रिचार्ड्स, रैनसम आदि ने काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं उनका आधार भी यही रूप-विधान की धारणा है। बिंबवादी रूप विधान के आधार पर शैली और तकनीक का भी विकास हुआ। बिंबवाद का ध्यान रंग, प्रकाश और धरातल की ओर अधिक है, अतएव रूप विधान को ही कविता का सब-कुछ मानने को वह तैयार नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस आन्दोलन ने बिंब और रूपक को कविता के ढाँचे (संरचना) के संयोजन में महत्त्व का स्थान दिया है।

बिंबवादी आन्दोलन को कविता की भाषा में नवीन प्राण संचार करने की दिशा में एक प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी की दुर्बोध और शिथिल भाषा तथा लचर संरचना (गठन) के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप भी इस आन्दोलन का उदय हुआ। अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक कविता का प्रारंभ बिंबवाद से ही हुआ। वैसे कवित्व के उत्कर्ष की दृष्टि से बिंबवाद का स्थान बहुत महत्त्व का नहीं है।

बिंबवादी इस बात पर बल देते हैं कि कविता में बिंबों के भिन्न-भिन्न प्रकारों को ध्यान में रखना चाहिए और इस प्रकार से पूरी कविता में बिंबों के पारस्परिक संबंधों पर विचार करना चाहिए। बिंबवादियों ने कविता के बहुत-से विवेचनों से तुक, शैली की परंपराओं अथवा वाक्य विन्यास पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया है। उनकी दृष्टि बिंब-विधान की उलझनों पर ही लगी रही। इससे उनका उद्देश्य इस बात की ओर संकेत करना है कि कविता का अपना निज का गठन है और उसका आधार बिंब है। उनके अनुसार व्याकरण-सम्मत गठन *का उनके सामने कैसा कुछ महत्त्व नहीं है।* वैसे रचना कौशल के नैपुण्य की ओर भी कविता ने ध्यान दिया है। इस ओर पाउन्ड ने ध्यान आकृष्ट किया है। पाउन्ड ने शब्दों को जीवन्त बनाने पर बल दिया है। शब्द और विषयवस्तु (object) के घनिष्ठ संबंध, उनके साहचर्य और अनुरूपता से उत्पन्न तात्कालिक प्रभाव की ओर उसने संकेत किया है। बिंबवादी कविता में किसी प्रकार के संदेश के अंगीभूत होने की बात कतई स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि रचना-कला

का अपना एक अलग, विशिष्ट माध्यम है और उसकी सार्थकता की परीक्षा उसी को ध्यान मे रखकर की जा सकती है।

बिंबो पर इस तरह बल देने के मूल मे इलियट के 'objective correlative' (आवेग के साथ सम्पर्कित वस्तु) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी सवेग के प्रकाशन का एकमात्र माध्यम उस सवेग से सम्पर्कित वस्तुओ को ढूंढ निकालना है, अर्थात् किसी सवेग का प्रत्यक्षीकरण वस्तुओ के एक समूह, एक परिस्थिति, घटनाओ के एक क्रम मे किया जा सकता है। इन बाह्य वस्तुओ का पर्यवसान जब इन्द्रियानुभूति मे होता है उसी क्षण वह सवेग उत्पन्न होता है। इलियट का कहना है कि तर्कसगत भाषा के लिए अनुभूति को समुचित रूप से प्रस्तुत करना सभव नही, लेकिन जब उसकी उपलब्धि बिंबो मे होती है तभी वह पूर्ण रूप से अभिव्यजित होती है। इलियट का कहना है कि ज्ञान (बोध) का अस्तित्व व्यक्ति की चेतना मे होता है। उसके अनुसार व्याकरण-सम्मत रूपो मे शब्दो के तर्कसगत सयोजन का मतलब वास्तवता (reality) से एक कदम दूर जाना है। स्वस्थ अवस्था मे भाषा 'वस्तु' को प्रस्तुत करती है और वह वस्तु के इतना निकट होती है कि दोनो एक सदृश हो जाते हैं। अगर ऐसा होता है तब शब्दो को जीवन्त मन के समान ही काल मे सचरित होना ही होगा।

बिंबवादियो तथा इलियट पाउन्ड आदि के भाषा और बिंब सबधी सिद्धान्तो का खडन डोनाल्ड डेवी ने अपनी पुस्तक 'आर्टिक्युलेट एनर्जी (१९५५ ई०) मे तथा फ्रैंक करमोड ने अपनी पुस्तक 'रोमांटिक इमेज' (१९५७ ई०) मे जमकर किया है। इन दोनो का अंग्रेज़ी के आधुनिक आलोचको और काव्य पर पूरा प्रभाव पडा है। इन दोनो का उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। यहाँ कुछ विस्तार से उनके मतो का जिक्र हम करने जा रहे हैं। डेवी (Davie) ने काव्य-भाषा के सबध मे दो प्रकार के विचारो का उल्लेख किया है— (१) १९२० के लगभग के अंग्रेज़ी के कवियो मे भाषा-सबधी जो दृष्टिभगी देखने को मिलती है उसके मूल मे व्याकरण-सम्मत वाक्य विन्यास के प्रति आस्था का अभाव है। बिंबवादियो तथा उनके अनुयायियो के लिए भाषा तभी विश्वसनीय है जब वह पृथक्-पृथक् शब्दो की इकाइयो मे टुकडे-टुकडे कर दी जाती है तथा बडे पैमाने पर कुछ तर्कसगत कहने के प्रयास का त्याग कर देती है। कवि अलग थलग पडा हुआ एक व्यक्ति है और दूसरो के प्रति उसकी सहानुभूति क्षणिक दीप्ति के समान कौंध उठती है। (२) रचनाकार वाक्य-रचना के माध्यम से अपने विचारो को व्यवस्थित करता है। वाक्य विन्यास द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि असगत प्रतीत होने वाली अनुभूतियो मे चेतन मन किस प्रकार सामजस्य ढूंढ पाता है।

पहली विचारधारा वालो का कहना है कि कविता का अपना एक जैव

(organic) रूप-विधान है और उसका आधार बिंबों की सरचना (गठन) है। उनका कहना है कि तर्कसगत वाक्य-रचना इस दृष्टि से किसी काम की नहीं। डेवी का कहना है कि वाक्य-विन्यास के त्याग का अर्थ यह है कि कवि का अपने स्नायुओं पर बिलकुल नियंत्रण नहीं है। डेवी का कहना है कि इसका अर्थ यह भी है कि कवि को चेतन मन की बोधगम्य सरचना (गठन) तथा उसके तर्कसंगत क्रियाकलाप पर विश्वास नहीं है। इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए डेवी कहता है कि उससे पता चलता है कि उस सिद्धान्त के मानने वालों को प्रत्ययात्मक विचारों (conceptual thought) मे आस्था नहीं है। डेवी का यह भी कहना है कि परवर्ती कविता की आलोचनाओं म एक प्रकार का भ्रम देखने को मिलता है कि बिंब के बिना कोई धारणा सभव नहीं। डेवी बल देकर कहता है कि वास्तविक स्थिति यह है कि बिंब-विधान (इमेजरी) की अपेक्षा अमूर्त भाषा (abstract language) अनुभूति को कहीं अधिक निश्चित और ठोस तथा उपयुक्त वाणी प्रदान कर सकती है। इसी तरह डेवी के समान वरमोड का भी कहना है कि महान् कविता अनुगुंजित बिंबों की एक शृंखला मात्र नहीं। कविता म पाठकों के लिए बोधगम्य भाषा का व्यवहार होता है। उसका कहना है कि काल और स्थान की सीमा से बँधे मनुष्य के लिए कला की सृष्टि होती है जिसकी भाषा क्रियाओं की सहायता से अग्रसर होती है।

चाहे जो हो, जैसा कि हमने प्रारभ मे ही सकेत किया है कि सन् १९१७ ई० तक यह आन्दोलन सक्रिय रहा। सन् १९१४ ई० तक पाउन्ड, एफ एस फ्लिन्ट आदि पत्र-पत्रिकाओं मे इसके सम्बन्ध म कुछ न कुछ लिखते रहे। इसके बाद से उन लोगों का उत्साह कम पड गया। पाउन्ड के बाद एमी लावेल ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। सन् १९१५-१७ ई० के बीच बिंबवादियों के कविता-सग्रह प्रकाशित होते रहे। लेकिन १९१७ ई० तक उन्हे भी विश्वास हो गया कि अब इस आन्दोलन में सार्थकता नहीं रही।

(ख) रूपक

'मेटाफर' शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ म किया जाने लगा है वह उसके परम्परामुक्त अर्थ से भिन्न हो गया है। एरिस्टाटल के समय से ही इससे एक अलकार का बोध होता चला आया है। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' म मेटाफर की जो परिभाषा बतलाई है उसके अनुसार यह वह अलकार है जिसम किसी वस्तु के नाम को, जो उसका यथोचित सकेत करने वाला है, दूसरी वस्तु पर आरोपित किया जाय। इसका 'रूपक' अलकार से साम्य है लेकिन इसम लाक्षणिकता के भी लक्षण देखने को मिलते हैं। वैसे इसकी ठीक ठीक परिभाषा करना कठिन है। तरह-तरह से इस पर विचार किया गया है और भिन्न-भिन्न लक्षणों

को इसमे अतर्भूत किया गया है। 'मेटाफर' के कुछ उदाहरण देखने से ही इसकी परिभाषा की कठिनाइयो को समझा जा सकता है। (क) Love is a singing bird, (ख) He has the wild stag's foot, (ग) That throws some light on the question, (घ) the winter of my discontent, (ङ) Hatred is an infection in the mind, (च) the leg of the chair, (छ) ruby lips आदि उदाहरणो मे जिसे हम 'रूपक' कहते हैं उसे सब समय पाना कठिन है। और इन उदाहरणो को लेकर जिस तरह से विवेचन किया गया है उससे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि मेटाफर' का पर्याय पूरा का पूरा 'रूपक' नहीं है। पहले उदाहरण का विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्रेम एक गाती हुई चिड़िया जैसा है अथवा प्रेम के कारण तुम्हे अनुभव होता है कि तुम एक गाती हुई चिड़िया हो। उदाहरण (ग) मे throwing light को मेटाफर कहा गया है। हमारा उद्देश्य यहा 'मेटाफर' को ठीक-ठीक अलकार के रूप में समझना नही है अतएव आलकारिको के मेटाफर सबधी विचारो के ब्योरो मे हम नहीं जाएगे। आज की कविता के परिप्रेक्ष्य मे 'मेटाफर' को समझने का हम प्रयास करेगे।

आज 'मेटाफर' से उसके अलकृत करने की प्रक्रिया का तात्पर्य नही लिया जाता। उसका अर्थ बिलकुल ही भिन्न हो गया है। आधुनिक काल के आलोचको की दृष्टि मे इसका अत्यन्त महत्त्व हो गया है। पिछले कुछ वर्षों मे यह धारणा अधिक से अधिक मान्य होती गई है कि मेटाफर एक मौलिक प्रक्रिया है जिससे कविता मे निहित आभ्यन्तरीन सबधो की एकसूत्रता और सगति निष्पन्न होती है। कवि की 'दृष्टि' और उसकी वाणी की अपनी एक अलग विशेषता होती है। तर्कसगत, बुद्धिमूलक कथनो का ढग इससे भिन्न होता है। दोनो के इस अतर का कारण कुछ समालोचक 'मेटाफर' को बतलाते हैं। वैसे कुछ लोग भाषा मात्र को मेटाफर मानते हैं और अपने मत का पोषण वे नृतत्त्वशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त परिणामो से करते हैं।

मिडलटन मरी (Middleton Murry) ने मेटाफर के सबध मे सन १९२७ ई० मे जो कुछ कहा है उससे लोगो का ध्यान मेटाफर की आभ्यतरिक प्रक्रिया से भिन्न एक अन्य पहलू की ओर गया और वही पहलू आज के आलोचको के लिए महत्त्व का हो गया है। मिडलटन मरी का कहना है कि मेटाफर के तत्वो का अन्वेषण चेतना के किसी मौलिक तत्त्व के परीक्षण जैसा है। उनका कहना है कि मेटाफर, वाणी जैसा मूलभूत है और वाणी, विचार के जैसी मूलभूत और तत्त्वात्मक है। उसके अनुसार एक सीमा तक उसके भीतर प्रवेश करने का प्रयास किया जा सकता है। शेली के कथन मे आज की मेटाफर सबधी विचार-धारा का सकेत मिलता है। शेली ने कहा है कि भाषा अनिवार्य रूप से

(organic) रूप-विधान है और उसका आधार बिंबों की संरचना (गठन) है। उनका कहना है कि तर्कसंगत वाक्य-रचना इस दृष्टि से किसी काम की नहीं। हेबी का कहना है कि वाक्य-विन्यास के त्याग का अर्थ यह है कि कवि का अपने स्नायुओं पर बिलकुल नियंत्रण नहीं है। हेबी का कहना है कि इसका अर्थ यह भी है कि कवि को चेतन मन की बोधगम्य संरचना (गठन) तथा उसके तर्कसंगत क्रियाकलाप पर विश्वास नहीं है। इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हेबी कहता है कि उससे पता चलता है कि उस सिद्धान्त के मानने वालों को प्रत्ययात्मक विचारों (conceptual thought) में आस्था नहीं है। हेबी का यह भी कहना है कि परवर्ती कविता की आलोचनाओं में एक प्रकार का भ्रम देखने को मिलता है कि बिंब के बिना कोई धारणा संभव नहीं। हेबी बल देकर कहता है कि वास्तविक स्थिति यह है कि बिंब-विधान (इमेजरी) की अपेक्षा अमूर्त भाषा (abstract language) अनुभूति को कहीं अधिक निश्चित और ठोस तथा उपयुक्त वाणी प्रदान कर सकती है। इसी तरह हेबी के समान करमोड का भी कहना है कि महान् कविता अनुगुंजित बिंबों की एक शृंखला मात्र नहीं। कविता में पाठकों के लिए बोधगम्य भाषा का व्यवहार होता है। उसका कहना है कि काल और स्थान की सीमा में बंधे मनुष्य के लिए कला की सृष्टि होती है जिसकी भाषा क्रियाओं की सहायता से अग्रसर होती है।

चाहे जो हो, जैसा कि हमने प्रारंभ में ही संकेत किया है कि सन् १९१७ ई० तक यह आन्दोलन सक्रिय रहा। सन् १९१४ ई० तक पाउन्ड, एफ एस फ्लिन्ट आदि पत्र-पत्रिकाओं में इसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखते रहे। इसके बाद से उन लोगों का उत्साह कम पड़ गया। पाउन्ड के बाद एमी लावेल ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। सन् १९१५-१७ ई० के बीच बिंबवादियों के कविता संग्रह प्रकाशित होते रहे। लेकिन १९१७ ई० तक उन्हें भी विश्वास हो गया कि अब इस आन्दोलन में सार्थकता नहीं रही।

(ख) रूपक

'मेटाफर' शब्द का प्रयोग आज जिस अर्थ में किया जाने लगा है वह उसके परम्पराभुक्त अर्थ से भिन्न हो गया है। एरिस्टाटल के समय से ही इससे एक अलंकार का बोध होता चला आया है। एरिस्टाटल ने 'पोएटिक्स' में मेटाफर की जो परिभाषा बतलाई है उसके अनुसार यह वह अलंकार है जिसमें किसी वस्तु के नाम को, जो उसका यथोचित संकेत करने वाला है, दूसरी वस्तु पर आरोपित किया जाय। इसका 'रूपक' अलंकार से साम्य है लेकिन इसमें लाक्षणिकता के भी लक्षण देखने को मिलते हैं। वैसे इसकी ठीक ठीक परिभाषा करना कठिन है। तरह-तरह से इस पर विचार किया गया है और भिन्न-भिन्न लक्षणों

का निश्चित अर्थ होने पर ही उनका प्रयोग अलंकारों के लिए हो सकता है। दूसरी ओर मूलभूत मेटाफर का प्रतीकात्मक होना अनिवार्य है। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में अनुभूति के अनगढ़ तत्त्वों को घुला-मिलाकर संकेत करने वाली एक इकाई का रूप दिया जाता होगा और उस इकाई को द्योतित करने के लिए प्रतीक का सहारा लिया जाता होगा।

हर्बर्ट रीड ने मेटाफर को कवि के लिए स्वाभाविक अभिव्यक्ति या सबसे अधिक महत्त्व का प्रकार माना है। उसका कहना है कि कवि के लिए भाषा और भाव की अवितथता नितान्त आवश्यक है। इस यथातथ्यता और सुस्पष्टता के लिए कवि अभिव्यक्ति की जो सामान्य रीति है उसका भी त्याग कर देता है। इसके लिए वह नये शब्द गढ़ता है अथवा शब्दों के नये नये ढंग से व्यवहार की रीति खोज निकालता है। शब्दों को जीवन्त बनाने के लिए हर्बर्ट रीड के अनुसार मेटाफर से अधिक उपयोगी अन्य अलंकार या साधन नहीं हैं। हर्बर्ट रीड ने मेटाफर की चर्चा करते हुए बिंब (इमेज) के साथ उसके अंतर पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि आज के कवि मेटाफर को भी अपने लिए बहुत काम का नहीं मानते और उससे भी आगे बढ़कर बिंब को अपनाने लगे हैं। उपमा (simile) और रूपक (metaphor) के संबंध में उसका कहना है कि ये अपने आप बिना किसी प्रयास के कवि के अन्तर में उदय होते हैं लेकिन 'बिंब' अचेतन मन में उदित होने वाले प्रतीक हैं। रीड की दृष्टि में बिंबवादी कवि उन कवियों से जो रूपकों और लाक्षणिकता का सहारा लेते हैं, कहीं अधिक काव्यात्मक हृदय वाले होते हैं।

जाक मारितै (Jaques Maritain) ने भी बिंब और मेटाफर के अन्तर को स्पष्ट किया है और बिंब के द्वारा काव्य के उत्कर्ष-साधन की बात कही है। उसका कहना है कि मेटाफर में एक जानी पहचानी परिचित वस्तु के साथ उसी तरह की दूसरी वस्तु से सादृश्य दिखलाया जाता है कि जिसमें पहली को और भी अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया जा सके। लेकिन बिंब का सादृश्य-साधन बिलकुल ही तर्कमूलक नहीं होता। बिंब एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अँधे ढूंढ निकालता है और सादृश्य द्वारा एक अज्ञात वस्तु से परिचय कराता है।

ह्यूम और फेनोलोसा ने नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाली भाषा के संबंध में कहा है कि वह घिसी पिटी होती है और उसमें अवितथता और यथातथ्यता नहीं होती इसलिए उनका कहना है कि कवियों को अपनी समकालीन भाषा को फिर से प्राणवान बनाना चाहिए। उनके मत में भाषा को जीवन्त बनाने के लिए उन्हें अलंकारों और विशेष रूप से मेटाफर की सहायता लेनी चाहिए। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में मेटाफर के संबंध में नए सिर से विचार होने लगा है और अलंकार के रूप में उससे जो समझा जाता था अब वैसा कुछ नहीं रह गया है। इलियट, पाउन्ड, जेम्स ज्वायस आदि की रचनाओं ने इसे और

रूपकात्मक है।

सुमान के० लैंगर ने अपनी पुस्तक 'फिलासफी इन ए न्यू की' (सन् १९५३ ई०) में मेटाफर के संबंध में कहा है कि भाषा अथवा संभवतः सभी प्रकार के प्रतीकों के मूलतत्व को मेटाफर में ढूंढा जा सकता है। नृतत्त्वशास्त्र, भाषाशास्त्र तथा मनोविज्ञान के पंडितों ने भाषा संबंधी जो परिणाम निकाले हैं उनसे 'मेटाफर' संबंधी आज के सिद्धान्त का बहुत दूर तक समर्थन हो जाता है।

आई० ए० रिचार्ड्स ने मेटाफर को भाषा का सर्वव्यापी मूल तत्त्व कहा है। उसे वह सहज स्वाभाविक भाषा की व्यावहारिकता से अलग नहीं मानता। उसका कहना है अत्यधिक व्यवहार के कारण भाषा घिस-पिटकर हमारे लिए इतनी परिचित हो जाती है कि उसकी रूपकात्मकता अथवा लाक्षणिकता हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। जब हम कहते हैं neck of the bottle तो उस समय हमें इस बात का ध्यान ही नहीं रह जाता कि जीवधारी की गर्दन का आरोप निर्जीव पदार्थ पर किया गया है। रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ रेटरिक' (१९३६ ई०) में बतलाया है कि विचारों की क्रियाशीलता का माध्यम 'मेटाफर' है। इसका विश्लेषण करते हुए वह कहता है कि भाव (tenor) तथा बिंब (vehicle) दोनों मिलकर मूर्त रूप धारण करते हैं और उनकी पारस्परिक क्रिया (interaction) के फलस्वरूप 'अर्थ' का उदय होता है। वैसे इन दोनों के पारस्परिक संबंधों के नाना रूप हैं। कहीं बिंब भाव को अलंकृत करने के लिए व्यवहृत होता है और कहीं बिंब के व्यवहार के लिए भाव बहाना मात्र होता है। मेटाफर से जो भाव उदित होते हैं उनका कारण मेटाफर में निहित समानता भी हो सकती है और असमानता भी। मेटाफर को रिचार्ड्स भाषा का अलंकार, श्रीवृद्धि करने वाला अथवा उसकी शक्ति में थोड़ा और योग करने वाला नहीं मानता। वह मेटाफर को भाषा के रूप-विधान में अंगभूत मानता है। उसका कहना है कि भाव रूपकात्मक (mataphoric) होते हैं और तुलना के सहारे अग्रसर होते हैं। भाषा में जो मेटाफर हम देखते हैं वे वहीं से उत्पन्न होते हैं। दो भिन्न संदर्भों में योगसूत्र स्थापित कर ये मेटाफर एक नया अर्थ प्रदान करते हैं।

इस और स्पष्ट रूप से समझने के लिए मेटाफर के संबंध में दो तथ्यों की ओर ध्यान देना काम का साबित होगा—(१) मेटाफर का मूलभूत स्वरूप तथा (२) अलंकार के रूप में उसका स्वरूप। अलंकार के रूप में मेटाफर का उपयोग उसी समय होना संभव है जब समाज का विकास हो जाता है और शब्दों के रूप और अर्थ बहुत दूर तक निश्चित हो जाते हैं। अगर यह न हो तो मेटाफर का अलंकार के रूप में उपयोग नहीं हो सकता। समाज जब अधिक जटिल हो जाता है और बुद्धि से परिचालित होने लगता है तभी भाषा में स्थिरता आती है। शब्दों

आज की कविता

आज की कविता को समझने के लिए आधुनिक मन को समझना आवश्यक है। कुछ साहित्येतर कारणों से आज की कविता अथवा उसमें रस लेने वालों का मन तथा उनकी दृष्टिभंगी में इतना बड़ा परिवर्तन देखने को मिलता है। प्रथम विश्व-महायुद्ध के बाद से राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में इतने बड़े परिवर्तन हुए और आज भी हो रहे हैं कि उनका प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ना अवश्यभावी है। सन् १९१४ से सन् १९५० तक के काल को अगर देखें तो लगता है कि पाश्चात्य देशों ने अपनी सभी पुरानी मान्यताओं और मूल्यों को या तो सम्पूर्ण रूप से चूरमार कर फेंक दिया है अथवा उनके प्रति उनमें गहरी अनास्था है। दोनों विश्व महायुद्धों के फलस्वरूप लोगों के मन में अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में गहरी निराशा का भाव भर गया है। जिन परम्पराओं को उन्होंने इतना अधिक महत्व दे रखा था वे जैसे उनके लिए निरर्थक हो गई हैं, अतएव सभी प्रकार की सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति आज उनके मन में विद्रोह की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई है। यह विद्रोह राजनीति के क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, नैतिकता तथा इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में अत्यन्त प्रबल और उग्र हो उठा है। पहले जो आत्मविश्वास और सन्तुष्टि का भाव उनमें देखने को मिलता है उनके स्थान पर अनास्था, सन्देह और एक प्रकार का असहाय-बोध उनके भीतर तीव्र हो उठे हैं। अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में उनका चित्त आशंका से भर गया है और वे मनुष्य की स्वतन्त्रता और गरिमा के प्रति शंकालु हो उठे हैं। उनके भीतर यह संदेह घर कर गया है कि जिस वे मनुष्य की स्वतन्त्रता और गरिमा समझते रहे हैं मूलतः क्या वे ठीक है या उन पर पुनर्विचार आवश्यक है।

इस काल की दो विचारधाराओं ने बहुत सी समस्याओं पर नए सिरे से विचार करने को बाध्य किया है। ये दोनों विचारधाराएँ मार्क्सवाद और फ्रायडवाद की हैं। इन दोनों धाराओं के साथ जैसे एक नियतिवाद लगा हुआ है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में तो नियतिवाद (determinism) का स्थान रहा है लेकिन मार्क्सवाद ने मानव-समाज के गठन और एतिहासिक विकास में एक आर्थिक नियतिवाद का सुझाव रखा है। मार्क्सवाद के अनुसार आर्थिक शक्तियाँ

भी महत्त्व का स्थान दिला दिया है। इनकी रचनाओं को देखकर यह परिणाम निकाला गया है कि असंगत वस्तुओं के सान्निध्य तथा विषम स्वरों के द्रुत असामंजस्य स थन से किसी रचना में व्यापक रूप से लयात्मकता लाई जा सकती है। इस प्रकार से असगत वस्तुओं की किसी भी सन्निधि को एम्पसन ने मेटाफर कहा है। यह बात इस सीमा तक पहुच गई है कि कोई भी शब्दों का समूह ऐसा नहीं है जिसे रूपकात्मक (मेटाफरिकल) न कहा जाय। स्पष्ट ही इस सीमा तक जाना ठीक है या नही, कहा नही जा सकता।

कवि मन मनुष्य की समस्याओ के मूल मे जिस विरोध, जिस वैषम्य का अनुभव करता है वह दो प्रकार के अनुभवो के परस्पर-विरोध का परिणाम है। एक तो जीवन और प्राकृतिक जगत् के ऐसे अनुभव हैं जो विज्ञान को दृष्टि मे रखकर समझे जा सकते हैं। वैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर उनका मूल्य आँका जा सकता है। दूसरा उन अनुभवो मे निहित 'अर्थ' है जिसे जीवन के मूल्यो के रूप मे हम प्रत्यक्ष करते हैं। उसके आँकने का कोई उपाय नही। इसे एक उदाहरण से समझने का हम प्रयास करें। विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि मनुष्य नर-सहार के बहुत-से साधन तैयार कर लेने म समर्थ हो गया है। अणु बम जैसी वस्तु बना लेने मे मनुष्य सक्षम हो गया है। लेकिन अणु बम के साथ दो प्रश्न लगे हुए है। एक तो उसके तकनीकी ज्ञान से जुडा हुआ है और उसका समाधान विज्ञान के सहारे किया जा सकता है और उसकी तकनीक का वर्णन किया जा सकता है। अणु बम के साथ जो दूसरा प्रश्न लगा हुआ है उसका हल विज्ञान से परे है। प्रश्न यह है कि इस अणु बम को लेकर क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर सहज नही है। इस प्रश्न के साथ राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक और दार्शनिक समस्या जुडी हुई है। ये दोनो प्रश्न इसी जगत् के है जिस जगत् का प्राणी कवि है। कवि सवेदनशील होने के कारण बडी तीव्रता से इन प्रश्नो के अन्तर्विरोध का अनुभव कर रहा है।

विज्ञान के क्षेत्र मे मनुष्य ने जैसी उन्नति कर ली है उससे विज्ञान पर लोगो की आस्था बढ गई है। किसी बात की सत्यता की परख विज्ञान को दृष्टि मे रखकर की जाने लगी है। साधारणत लोग वैज्ञानिक सत्य को ही सत्य मानने को प्रस्तुत रहते है क्योकि उस सत्य को लैबोरेटरी मे प्रत्यक्ष किया जा सकता है। वैसी बातें, जिनसे किसी मान्यता की स्थापना की चेष्टा की जाती हो अथवा मूल्याकन किया जाता हो उन्हे लोग सहज ही स्वीकार करने को तैयार नही होते। उनके पक्ष या विपक्ष मे नाना प्रकार के तर्क उपस्थित किए जाते हैं। मान्यता या मूल्याकन सम्बन्धी उक्तियो की अपेक्षा वैज्ञानिक तथ्यो को लोग बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लेते हैं। वैज्ञानिक तथ्यो को छोडकर अन्य बातो को लोग इसलिए स्वीकार करना नही चाहते कि उनके मानने के लिए कोई ठोस प्रमाण नही है। विज्ञान के प्रति ऐसी आस्था रहने पर भी मनुष्य को बराबर ऐसी समस्याओ के सम्मुखीन होना पडता है जिनका समाधान विज्ञान के सहारे नही हो सकता। उनके समाधान के लिए किसी न किसी मूल्य को दृष्टि मे रखना ही पडेगा।

विज्ञान पर निर्भर करने के साथ साथ उन्नीसवी शताब्दी ने मनुष्य को अत्यधिक व्यक्तिवादी बना दिया है। फलस्वरूप आज का मनुष्य अनुभव करने लगा है कि पुराने को छोडकर उसे नये सिरे से सोचना है यद्यपि वह नहीं जानता

और तकनीकी परिवर्तन समाज में भविष्य में होनेवाले बिगाड़ और गठन की रूपरेखा निश्चित करते हैं। इसी प्रकार फ्रायड ने बतलाया है कि शिशुकाल में व्यक्ति के मन का गठन या उसकी विकृति उसके भविष्य के जीवन को रूप देते हैं। अतएव आज का हृदय आत्मनिरीक्षण से प्राप्त मानसिक स्तर पर घटने वाली घटनाओं तथा तथ्यों की जानकारी में अत्यधिक दिलचस्पी लेने लगा है।

इसके साथ ही नृतत्त्वशास्त्र के अन्वेषणों ने समाज की बहुत-सी बद्धमूल धारणाओं को दूर कर दिया है। नृतत्त्वशास्त्र ने दिखलाया है कि बहुत-से ऐसे विश्वास तथा रीति-रस्म, जिन्हें इतना महत्त्व दिया जाता है उनका महत्त्व जितना व्यापक और सार्वभौम समझा जाता है वह वास्तव में एक सीमित क्षेत्र और विशेष समुदाय के लिए ही वैसा है। उस क्षेत्र तथा समुदाय के बाहर वे कोई अर्थ नहीं रखते। उनका औचित्य भी बाहर वालों के लिए नहीं के बराबर है। इस प्रकार से विज्ञान और समाज की परिस्थितियों ने कवि और पाठक दोनों को ही झकझोर डाला है। कवि को इन सब-कुछ में एक व्यापक और गहरी संकट की स्थिति की अनुभूति होती है।

पिछले दो विश्वव्यापी महायुद्धों में जैसा नर-संहार हुआ और जिस प्रकार से समाज के हृदय में संजोए हुए नैतिकता के मूल्यों की अवहेलना हुई उनसे कवियों के स्वप्न टूट गए। इस काल में परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों की जैसी दुर्दशा हुई उससे कवियों के भीतर उनके प्रति कोई आस्था और सम्मान का भाव नहीं रह गया। धार्मिक विश्वासों के प्रति अवज्ञा के भाव ने जैसे सम्पूर्ण समाज को घेर लिया है। कवि उन विश्वासों में प्रेरणा देनेवाली कोई जीवनी-शक्ति नहीं देख पा रहा है। सामूहिक-बोध उग्र हो उठा है। विचार-विनिमय के साधनों का अभूतपूर्व प्रसार हो गया है। इन सबके चलते व्यक्ति अपना महत्त्व खो बैठा है। इस काल की इन प्रवृत्तियों तथा परिवर्तनों ने जैसे आज के कवि को अपने ही भीतर आश्रय लेने के लिए बाध्य कर दिया है। वह अपने को अत्यन्त अकेला अनुभव करने लगा है।

आज की कविता दुर्बोध और दुरूह हो गई है। उसे आयत्त में लाना कठिन हो गया है। आज के कवि ने अपने-आपको अभिव्यक्ति देने के लिए समाज में प्रचलित अभिव्यक्ति के प्रकारों और शब्दावली का बहिष्कार कर दिया है। उन्हें वह घिसा पिटा मानता है और समझता है कि वे भीड़ के समूहगत संवेगों को रूप देने के उपयुक्त हैं तथा उसके काम के नहीं। केवल कविता में प्रयुक्त प्रचलित शब्दावली का ही कवियों ने बहिष्कार नहीं किया है बल्कि पहले से आते हुए अलंकार और पद-योजना तथा रीति को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया है। लेकिन इतना होने पर भी आज की उत्कृष्ट कविताओं में मनुष्य की समस्याएँ सब समय वर्तमान हैं और उन्हें समझ लेना बहुत-कुछ कठिन नहीं है।

नवीन की स्थापना करती है। पाश्चात्य देशों में शताब्दियों तक जिस सभ्यता का प्राधान्य रहा वह कृषि-प्रधान सभ्यता थी और स्वभावतः प्राकृतिक परिवेश के प्रति इस सभ्यता की रुचि रही, अतएव इस लंबे काल में समाज का दृष्टिकोण रूढ़िवादी होने को बाध्य था। कृषि-प्रधान सभ्यता में परिवर्तन की प्रक्रिया स्वभावतः धीमी होती है। औद्योगिक क्रान्ति ने इस समाज को, इसके संस्कार को, जीवन के दृष्टिकोण को पूरी तरह से बदल दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने इस बात को संभव कर दिया कि समाज को प्रकृति की देन पर निर्भर नहीं करना है बल्कि उसके लिए अब यह कठिन नहीं रह गया है, वह अपने जीवन को जैसा चाहे विज्ञान के बल पर मोड़ दे सकता है। इसका फल यह हुआ कि अब समाज के भीतर यह आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ कि वह जीवन की कठोर परिस्थितियों से निपट सकता है तथा पहले के समान अपने को असहाय समझकर उसे अब सपनों और खयाली दुनिया की शरण नहीं लेनी पड़ेगी। एक नई आशा और महत्त्वाकांक्षा के लिए समाज का पथ प्रशस्त हो गया।

औद्योगिक क्रांति ने जहां यह संभव कर दिया कि उत्पादन में कल्पनातीत वृद्धि हुई वहां दूसरी ओर उसने एक विशाल मजदूर वर्ग की सृष्टि कर दी जिसका अपने श्रम के सिवा किसी चीज पर अधिकार नहीं था। मजदूरों की दयनीय अवस्था ने एक नई समस्या उपस्थित कर दी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पाश्चात्य देशों के सामने औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप दो प्रश्न अत्यन्त महत्त्व के हो गए—एक तो भौतिक क्षेत्र में अधिक से अधिक उन्नति करना और दूसरी ओर मजदूरों की दशा में उचित सुधार करना। इसी समय मानवतावाद की भी आवाज बुलन्द हुई। विज्ञान और उद्योगों की उन्नति ने कला और साहित्य के क्षेत्र में बहुत-से परिवर्तन ला दिए। इस उन्नति ने क्लासिकल दृष्टिभंगी पर बहुत बड़ा आघात किया और दूसरी ओर मजदूरों की समस्याओं ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिभंगी पर। उनके स्थान पर यथार्थवाद और प्रकृतवाद ने अपना स्थान बना लिया। वैसे इस प्रक्रिया में पचास वर्ष लगे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में विकास और उन्नति, भविष्य की रंगीन संभावनाएँ तथा मानवतावाद—इन तीनों का नारा प्रमुख हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की एक और बड़ी उपलब्धि यह रही है कि गति रफ्तार (speed) के क्षेत्र में अत्यधिक अग्रसर होने में वह समय हुई। हजारों वर्षों में धीमी गति वाले साधनों के स्थान पर ऐसे साधनों का आविष्कार हुआ जिसने मनुष्य के स्थान और काल की सीमाओं को छिन्न भिन्न कर दिया। समाज के बौद्धिक और संवेगात्मक क्षेत्र में इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। भविष्य की संभावनाओं और उपलब्धियों के संबंध में एक तीव्र उत्कण्ठा और आकांक्षा ने समाज में रूप ग्रहण किया। इसे पहला व्यापक प्रभाव कहा जा सकता है। दूसरा

कि भविष्य का रूप क्या होगा। बीसवी शताब्दी ने शताब्दियों से आती हुई ग्रीक रोमन परंपरा को धूलिसात् करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। ग्रीक-रोमन परंपरा का आधिपत्य कला-साहित्य के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों पर अविच्छिन्न रूप से इसके पहले बना हुआ था। इस परंपरा के अनुसार कला और साहित्य के क्षेत्र में दो सिद्धान्तों की क्रियाशीलता अपना प्राधान्य बनाए हुए थी। पहला सिद्धान्त तो प्रकृति तथा दृश्यमान जगत् की वास्तविकता की परख के लिए इन्द्रियगोचर ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति आस्थावान होना था। इसके अनुसार प्रकृति और जगत् के सम्पर्क में आकर मनुष्य जो अनुभव प्राप्त करता है उसी अनुभव में, उसी प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रकृति और जगत् की सच्चाई को ढूंढा जा सकता है। यथार्थवाद का यही आधार है। दूसरा सिद्धान्त बुद्धि, तर्क और तर्क सम्बन्धी नियमों के प्रति आस्था रखने पर आधारित था। इसके अनुसार बुद्धि और तर्क के द्वारा ही इस जगत् के रहस्यों का भेदन किया जा सकता है और सभ्य जगत् की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए बुद्धि के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है जो इसे परिचालित कर रही है। आदर्श सौन्दर्य के अन्वेषण का यही आधार है। इन सिद्धान्तों के फलस्वरूप कला और साहित्य का ध्येय इन्द्रियगोचर सत्य को प्रतिबिम्बित करना था और बुद्धि तथा तर्क द्वारा उसमें व्यवस्था और सामंजस्य प्रतिष्ठित करना था। इस प्रकार से यथार्थवादिता और बुद्धिवादिता इस परंपरा के दो ठोस स्तम्भ थे।

कला और साहित्य शताब्दियों तक समाज की प्रकृति को ध्यान में रख अपना अस्तित्व बनाए रहे। समाज की मान्यताओं को प्राय: ही दृष्टि में रखकर कला और साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया अविराम गति से चलती रही। लेकिन यह बात अब बदल गई है। आज का समाज अपनी अनियन्त्रित गतिविधियों से प्रकृति से विच्छिन्न हो गया है। स्पष्ट रूप से इसे समझने के लिए संक्षेप में पाश्चात्य देशों में होने वाले परिवर्तनों से परिचित होना आवश्यक है। प्रत्येक सभ्यता अपने विकास-क्रम में एक व्यवस्थित समाज की प्रतिष्ठा करती है और यह व्यवस्था कुछ परम्पराओं द्वारा प्रतिष्ठित होती है। इन परम्पराओं को देखकर समाज की दृष्टिभंगी तथा उसकी मूल-प्रकृति को समझा जा सकता है। समय के बीतने के साथ जब समाज अन्य दिशा में मोड़ लेता है तब ये परंपराएँ घिसी-पिटी-सी हो जाती है। उस समय दो परस्पर-विरोधी प्रक्रियाएँ दो विरोधी शक्तियों के रूप में उभड आती है। एक तो दकियानूसी मनोवृत्ति होती है जो उन जीर्ण और समय के लिए अनुपयुक्त परपराओं को किसी भी तरह बचा रखने का प्रयत्न करती है और दूसरी मुक्त करने वाली तथा नया जीवन ला देने वाली विनाशकारी शक्ति है जो उन परपराओं को चूर्ण विचूर्ण कर उनके स्थान पर

नवीन की स्थापना करती है। पाश्चात्य देशों में शताब्दियों तक जिस सभ्यता का प्राधान्य रहा वह कृषि-प्रधान सभ्यता थी और स्वभावतः प्राकृतिक परिवेश के प्रति इस सभ्यता की रुचि रही, अतएव इस लंबे काल में समाज का दृष्टिकोण रूढ़िवादी होने को बाध्य था। कृषि-प्रधान सभ्यता में परिवर्तन की प्रक्रिया स्वभावतः धीमी होती है। औद्योगिक क्रान्ति ने इस समाज को, इसके संस्कार को, जीवन के दृष्टिकोण को पूरी तरह से बदल दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने इस बात को संभव कर दिया कि समाज को प्रकृति की देन पर निर्भर नहीं करना है बल्कि उसके लिए अब यह कठिन नहीं रह गया है, वह अपने जीवन को जैसे चाहे विज्ञान के बल पर मोड़ दे सकता है। इसका फल यह हुआ कि अब समाज के भीतर यह आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ कि वह जीवन की कठोर परिस्थितियों से निपट सकता है तथा पहले के समान अपने को असहाय समझकर उसे अब सपनों और खयाली दुनिया की शरण नहीं लेनी पड़ेगी। एक नई आशा और महत्वाकांक्षा के लिए समाज का पथ प्रशस्त हो गया।

औद्योगिक क्रांति ने जहाँ यह संभव कर दिया कि उत्पादन में कल्पनातीत वृद्धि हुई वहाँ दूसरी ओर उसने एक विशाल मजदूर वर्ग की सृष्टि कर दी जिसका अपने श्रम के सिवा किसी चीज पर अधिकार नहीं था। मजदूरों की दयनीय अवस्था ने एक नई समस्या उपस्थित कर दी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पाश्चात्य देशों के सामने औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप दो प्रश्न अत्यंत महत्त्व के हो गए—एक तो भौतिक क्षेत्र में अधिक से अधिक उन्नति करना और दूसरी ओर मजदूरों की दशा में उचित सुधार करना। इसी समय मानवतावाद की भी आवाज बुलन्द हुई। विज्ञान और उद्योगों की उन्नति ने कला और साहित्य के क्षेत्र में बहुत-से परिवर्तन ला दिए। इस उन्नति ने रूमानिकल दृष्टिभंगी पर बहुत बड़ा आघात किया और दूसरी ओर मजदूरों की समस्याओं ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिभंगी पर। उनके स्थान पर यथार्थवाद और प्रकृतवाद ने अपना स्थान बना लिया। वैसे इस प्रक्रिया में पचास वर्ष लगे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में विकास और उन्नति, भविष्य की रंगीन संभावनाएँ तथा मानवतावाद—इन तीनों का नारा प्रमुख हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की एक और बड़ी उपलब्धि यह रही है कि गति, रफ्तार (speed) के क्षेत्र में अत्यधिक अग्रसर होने से यह संभव हुई। हजारों वर्षों से धीमी गति वाले साधनों के स्थान पर ऐसे साधनों का आविष्कार हुआ जिन्होंने मनुष्य के स्थान और काल की सीमाओं का छिन्न भिन्न कर दिया। समाज के बौद्धिक और संवेदनात्मक क्षेत्र में इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। भविष्य की संभावनाओं और उपलब्धियों के संबंध में एक तीव्र उत्कण्ठा और आशा ने समाज में रूप ग्रहण किया। इसे पहला व्यापक प्रभाव कहा जा सकता है। दूसरा

महत्त्व या प्रभाव यह था कि उत्कर्ष-साधन (quality) की अपेक्षा प्रगाढ़ता, तीव्रता (intensity) को अधिक मान दिया जाने लगा। इन प्रभावों का बाहरी रूप उन्नीसवीं शताब्दी की हलचलों, भागदौड़, तनावों आदि में प्रकट हुआ। सब-कुछ का परिणाम यह हुआ कि इससे यथार्थवादिता का ही विघटन प्रारम्भ हो गया। आधुनिक युग ने यथार्थ, वास्तव (real) के भीतर छिपी शक्ति, ऊर्जा (energy) का मनुष्य के प्रयत्नों से उपयोग में आना देखा। प्रकृति अपने-आप जो करने में समर्थ नहीं हो सकती थी उसे मनुष्य ने कर दिखाया। विज्ञान के क्षेत्र में भी मनुष्य ने कुछ वैसा ही परिवर्तन ला दिया। प्रयोगशाला में पाए जाने वाले आँकड़ों के आधार पर परिणाम निकालना जहाँ पहले विज्ञान का काम था वहाँ गणित के क्षेत्र में अब पहले धारणाओं और प्रत्ययों (concepts) की सृष्टि हो रही है और बाद में प्रयोगों द्वारा उनकी सत्यता सिद्ध की जा रही है।

आधुनिक मनोविज्ञान का कहना है कि तर्कणा (reason) और तर्कसंगत विचार मन की संरचना (गठन) के अंग हैं। मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व धीमी गति वाली परिपक्वता की प्रक्रिया का फल है। मनुष्य के भीतर अपने-आप स्वाभाविक रूप से इनके बने रहने की बात गलत है। मनुष्य के भीतर के सत्य को तर्कणा द्वारा नहीं पाया जा सकता। उसे जानने के लिए अन्तरतम की गहराई को थाहना होगा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बर्गसाँ (Bergson) ने इसी अचेतन मन की बात कही थी। अचेतन मन के महत्त्व की ओर उसने इंगित कर कहा था कि भविष्य में मानव-मन के बहुत-से रहस्यों का उद्घाटन इसके द्वारा सम्भव हो सकेगा। बर्गसाँ ने यह भी बतलाया है कि तर्क-सम्पन्न विचारों की अपनी सीमाएँ हैं। तार्किकता सभी क्षेत्रों में कारगर नहीं हो सकती यद्यपि यह सही है कि कुछ विशेष क्षेत्रों में आश्चर्यजनक रूप से वह फलप्रसू हो सकती है। सत्य के प्रतीयमान, दीख पड़ने वाले रूप को समझने में वह भले ही सहायक हो लेकिन सत्य के अस्तित्वात्मक (existential) रूप को समग्र भाव से ग्रहण करा देने में वह अक्षम है।

इस प्रकार से इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं की वास्तवता तथा बुद्धिवादिता और तर्कणा को अस्वीकार कर ग्रीस और रोम की शताब्दियों से आने वाली परम्परा को जैसे पाश्चात्य मन ने पूर्ण रूप से सर्वदा के लिए त्याग दिया। रोम और ग्रीस की परम्परा ने मनुष्य को एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया था। उसके अनुसार मनुष्य निःसंग होकर जगत् की अस्त-व्यस्तताओं को देख सकता था और उनका परीक्षण-विश्लेषण कर सकता था और उसी के अनुरूप क्रियाशील हो सकता था, अपने लिए आगे का मार्ग बना सकता था। बीसवीं शताब्दी ने जैसे झाड़-बुहारकर इसे साफ कर दिया है। बीसवीं शताब्दी ने इच्छा-शक्ति पर चेतन मन के नियन्त्रण को भी अस्वीकार कर दिया है। अतएव आज के कला-

कार और कवियों ने दृश्यमान जगत् की वास्तवता पर ही आघात करना शुरू कर दिया है। सब-कुछ मिलाकर आज का युग भी अपने को उन्हीं भयकर और विकराल शक्तियों से घिरा हुआ अनुभव कर रहा है जैसा कि आदिम युग ने अनुभव किया था। आदिम युग जिस प्रकार उन भयकर प्राकृतिक शक्तियों से भयाक्रांत था और अपने को असहाय समझ रहा था आज का युग भी उसी प्रकार भयकर समस्याओं के सम्मुखीन अपने को पा रहा है। उन समस्याओं का समाधान ढूँढ निकालने में वह अपने को असमर्थ पा रहा है।

वर्तमान जगत् की समस्याओं के दो पहलू हैं। वे समस्याएँ, जिनको विज्ञान के सहारे समझा जा सकता है और उसकी सहायता से उनका हल निकाला जा सकता है। उन्हीं समस्याओं का दूसरा पहलू है जो नैतिकता, कलात्मकता, धार्मिकता आदि से सम्बद्ध है और जिसका मूल्य आँकना दुष्कर हो गया है। आज का कवि अनुभूतियों के मापे जाने वाले और अमापनीय पहलुओं के विरोध को अपनी रचना में नाटकीयता प्रदान कर उपस्थित करता है। वह विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग दृष्टिभंगी से देखने की समस्या को समझना चाहता है। आज का कवि समस्याओं को समझना चाहता है, उनका निदान करना चाहता है और उन्हें नाटकीय भंगी में प्रस्तुत कर संतोष कर लेना चाहता है। वह उनके समाधान का उपाय बताने की ओर अग्रसर नहीं होता। स्वच्छन्दतावादी कवियों से आज के कवियों में यही अन्तर है। स्वच्छन्दतावादी कवि समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते थे। व्यक्तिगत दृष्टि से वे उस समस्या का हल प्रस्तुत करने में नहीं हिचकते थे लेकिन आज के कवि में इस दृष्टि से अलग-थलग रहने की ही प्रवृत्ति प्रधान है और अगर उनकी रचनाओं में सुझाव के रूप में कुछ बोध भी पड़े तो उसमें वह निश्चयता और स्पष्टता नहीं रहती जो स्वच्छन्दतावादी कवियों में पाई जाती है।

क्षयग्रस्त होना, सड़ाँध अथवा अस्थायित्व की जीवन में अनुभूति केवल आज की ही कविता की विशेषता नहीं है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की रचनाओं में भी उन्हें स्थान मिला है लेकिन आज का कवि कम से कम प्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रतिबद्ध नहीं दीखता। देखने में वह तटस्थ-सा बना रहता है। अगर यह तटस्थता उसमें न रहे तो उसके लिए अपनी रचना में समस्याओं को नाटकीय भंगी में प्रस्तुत करना संभव नहीं हो सकेगा। स्वच्छन्दतावादी कवि जब उन्हें अपनी रचना का विषय बनाता है तो उसमें एक समृद्ध अवसाद का भाव होता है। लगता है जैसे उस वर्णन से उसे आत्मतुष्टि हो रही है। अतएव यह स्वाभाविक है कि स्वच्छन्दतावादी कविता में व्यक्ति की संवेदना की तीव्र दीप्ति बनी रहेगी। आज का कवि इसके विपरीत स्वयं पर्दे की ओट में रहेगा और कभी भी मुख्यपात्र की भूमिका में सामने नहीं आएगा। आज का कवि एक प्रश्नचिह्न लगाकर

अलग हो जाएगा, एक विरोधाभास ला उपस्थित करेगा, लेकिन समस्याओं के प्रति उसकी निज की संवेगात्मक प्रतिक्रिया प्रच्छन्न ही रहेगी या अत्यन्त ही अस्पष्ट और धुंधली रहेगी।

आज की कविता प्राकृतिक जीवन के निरंतर प्रवाह से ही अपने विषय का चयन करती है लेकिन उसकी होकर नहीं रहती। चिर-परिवर्तन वाले जीवन की सीमाबद्धता को अपना विषय बनाने पर भी उसकी कलात्मकता से उसकी कमी पूरी हो जाती है। आज की कविता ह्रासोन्मुख स्वच्छन्दतावादी कविता में भावों के तर्कसंगत विकास के चित्रण को अत्यन्त अवहेलना की दृष्टि से देखती है। इसके बदले आज की कविता 'मेटाफर' (रूपक और लक्षण दोनों ही इसमें वर्तमान हैं) की तर्कसंगति अर्थात् रूपक के पीछे कौन-सी तार्किक प्रक्रिया क्रियाशील रहती है इसकी बुद्धिवादी छानबीन में अधिक रुचि दिखलाती है। इसी प्रकार शब्दों के बहुविध संयोजन का प्रतीकों के रूप में किस प्रकार विकास हो पाता है इसकी भी बुद्धिपरक छानबीन करने में आज की कविता की दिलचस्पी है। विज्ञान की सूचना देने वाली भाषा जैसी भाषा का कविता में प्रयोग करने के विरुद्ध आज के कवि अपनी रचनाओं में भाषा की अनिर्दिष्टता को ही अपनाने लगे हैं। एक ही कविता में ये दोनों प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं अर्थात् भाषा सीधे-सादे ढंग से निर्देशात्मक नहीं होती, उसमें अनिर्दिष्टता का ही स्वर प्रधान होता है, इसके साथ ही शब्दों के विविध संयोजनों का प्रतीक के रूप में प्रयोग होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसमें जटिलता, अनेकार्थता, व्यंग्य—सभी एक में गूंथ जाते हैं। कविता में इनके द्वारा परस्पर-विरोधी तनावों का समाहार सम्भव हो पाता है। इसमें नाटकीय भंगी होती है। हम क्या हैं और हमें क्या होना चाहिए आदि की चिन्ता से यह बोझिल नहीं होती। यह स्वतः-स्फूर्त होती है। इसकी गतिविधि आत्मपरक नहीं होती। अस्तित्व के सभी पहलुओं का सुसंगत संयोजन इसमें बड़े सहज भाव से हो जाता है। आज की कविता में कवि को ढूंढ निकालना आसान नहीं। इन कविताओं में तर्क के सहारे किसी मत की प्रतिष्ठा का आभास नहीं होता। अनुभूतियों का सर्जन ही कवि का उद्देश्य होता है। स्पष्ट ही यहां सर्जन से तात्पर्य न सम्प्रेषण है और न अभिव्यक्ति।

आज के कवि के सामने कई मत और सिद्धान्त हैं जो विचार के क्षेत्र में अपना प्रभाव-विस्तार किए हुए हैं। इन मतों और सिद्धान्तों की मूलभूत विचारधारा से आज का कवि प्रभावित है। आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में मार्क्सवाद का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अचेतन मन को लेकर एक मनोविश्लेषण का शास्त्र ही बन गया है। कला और साहित्य के क्षेत्र में इसकी भी गहरी छाप देखने को मिलती है। आज का कवि मनोविश्लेषण के सिद्धान्त से अत्यधिक प्रभावित है।

नृतत्त्वशास्त्र की नई-नई खोजों तथा उन खोजो के तुलनात्मक अध्ययन ने नये-नये रहस्यों को उद्घाटित किया है। आज की कविता पर इसका भी गहरा प्रभाव पड़ा है। इन सबका अलग-अलग और सम्मिलित प्रभाव आज की कविता पर परिलक्षित होता है। सब-कुछ मिलाकर इन प्रभावों ने जैसे कवि को जीवन के सभी मूल्यों के प्रति चाहे वे आर्थिक हो, राजनैतिक हो, धार्मिक या नैतिकता सम्बन्धी हों, देश-प्रेम या व्यक्ति केप्रेम सेसम्बन्धितहो, अनास्थावान बना दिया है। इसका फल यह हुआ है कि कविता मे 'अर्थ' का विघटन हो गया है। अब उसमें 'अर्थ' खोजने की बात निरर्थक-सी हो गई है। कविता के लिए 'मिथकों' का अत्यधिक महत्त्व हो गया है। मिथक ही आज के काव्य का सत्य हो गया है। विज्ञान के वैकल्पिक और अभावात्मक सत्य से मिथकों का सत्य अलग-थलग अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए है।

आज की कविता मे प्रकृति को स्थान तो मिलता है लेकिन वह स्वच्छन्दता-वादी कविताओं से भिन्न है। आज की कविता म प्रकृति या तो मानव-संवेदना के प्रतीक जुटा रही है अथवा अन्योक्तियो के रूप मे व्यवहृत हो रही है। आज का कवि प्रकृति मे स्वच्छन्दतावादियो की तरह न कोई संदेश ही पाता है और न उसमे परमार्थ सत्ता के ही उसे दर्शन होते हैं। स्वच्छन्दतावादी कवि प्रकृति से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करता था तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करता था। वह उसमे अनन्त सौन्दर्य की झाँकी पाता था। लेकिन आज का कवि प्रकृति को अनासक्त भाव से देखता है। उसके प्रति वह उदासीन भाव ही लिए हुए रहता है। आज की कविता के लिए प्रकृति अपना कोई 'अर्थ' नहीं रखती।

आज की कविता के लिए इतिहास भी अपना 'अर्थ' खो बैठा है। उन्नीसवी शताब्दी म डार्विन ने जब यह कहा था कि जीवन धारण के संग्राम म जो योग्यतम था वही आज तक विद्यमान है (*survival of the fittest*) तो मानो अपने इस कथन द्वारा इतिहास को 'अर्थ' प्रदान करने की उत्कट चेष्टा की है। आज का बुद्धिवादी संदेह प्रकट करता है कि इसका प्रमाण क्या है ? उसका कहना है कि डार्विन कैसे जान सका कि जीवधारियो की कौन-सी जाति अथवा वर्ग योग्यतम था। अतएव डार्विन-प्रवर्तित सिद्धान्त को अगर इन शब्दो म दोहराया जाय कि 'जीवधारियो म जो आज बच हुए हैं उन्ही का जीवन-धारण के संग्राम म बचाव' (survival of the survivor) तो उसम क्या भूल होगी ? वास्तव म जो बचे हुए प्राणी आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं उन्हीं को ध्यान म रखकर डार्विन न अपन सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। यह सिद्धान्त कल्पना और अनुमान पर आधारित है। अतएव जो लोग इतिहास के क्रमिक विकास वाली बात को संदेह की दृष्टि से देखत हैं उनके लिए इस सिद्धान्त की अथवा इतिहास म 'अर्थ' खोजने के प्रयास की कोई सार्थकता नहीं रह गई है। उनका कहना है कि इति-

ह्रास को अगर बेतरतीब भयंकर विध्वंस की निरर्थक कड़ी कहा जाय तो इसमें क्या गलती होगी ? यह सही है कि साधारणतः वे लोग जो गहराई में जाकर डार्विन के सिद्धान्त का विश्लेषण नहीं करते वे इन सिद्धान्तों को सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं। समाज में उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा यह है कि वे सत्य हैं। चाहे जो हो, आज का कवि इतिहास में न कोई *'अर्थ'* खोज पाता है और न उससे कोई प्रेरणा ग्रहण कर पाता है।

कुछ लोगों को कहना है कि ऐसी धारणा सामान्य रूप से लोगों के मन में बनी हुई है कि *समाज की प्रगति हो रही है और समाज सर्वतोमुखी उन्नति कर रहा है।* वे कहते हैं ऊपर-ऊपर से देखने पर यह बात ठीक मालूम होती है लेकिन सब बातों पर अगर विचार किया जाय तो यह समझने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि यह अत्यन्त उलझनदार प्रश्न है। उनके अनुसार कभी-कभी राजनीति तथा आर्थिक मामलों की पेचीदगियों को देखकर इसमें सन्देह उत्पन्न होता है। वे और आगे कहते हैं कि *आज की यान्त्रिकता और भौतिकवादी दृष्टिकोण* को देखकर भले ही यह लगे कि समाज अग्रसर हो रहा है, लेकिन बहुत-से विचारशील लोगों के मन में इससे भविष्य के बारे में एक सन्त्रास की सृष्टि होती है। उनका यह मत कहाँ तक युक्तिसंगत है कहना कठिन है, लेकिन यह तथ्य अपनी जगह पर वर्तमान है। इतिहास का महत्त्व समाज और व्यक्ति दोनों के जीवन में अपना प्रभाव-विस्तार करता है। समाज के ऊपर पड़ने वाले इतिहास के प्रभाव से कोई व्यक्ति सब-कुछ से अलग रहकर अपने को अछूता रख सकता है। समाचारपत्र, रेडियो आदि से जिस व्यक्ति का दूर का भी संबंध नहीं है वह इतिहास के मन पर पड़ने वाले प्रभाव के सामाजिक पहलू का अपने को मुक्त रख सकता है। लेकिन व्यक्तिगत जीवन पर जो ऐतिहासिक शक्तियों का प्रभाव पड़ता है उससे व्यक्ति अपने को मुक्त नहीं कर सकता। आज के कवि के लिए बीते हुए दिनों का इतिहास अपना अर्थ खो बैठा है। कवि या तो उनकी ओर दृक्षेप नहीं करना चाहता *अथवा उनकी जानकारी रखने पर भी इतिहास का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं* रह गया है। जिस भी तरह से हो आज का कवि इतिहास को बड़ी अच्छी दृष्टि से देखने लगा है। इस प्रकार इतिहास से विच्छिन्न होकर वह अपने को दुःस्वप्नों से घिरा पाता है।

इस प्रकार अनुभूतियों का 'अर्थ' संदेहास्पद हो गया है या वह अत्यन्त क्षीण हो गया है। 'अर्थ' का यह अभाव मन में दुःस्वप्नों की सृष्टि करता है। आज की कविता में दुःस्वप्नों (nightmare) का यह भाव प्रधान हो उठा है। आज के कवियों का कारबार कुरूपता, नृशंसता और कुत्सित को लेकर है। भद्दापन, विकृति, बेतुका और दयनीय को आज के कवि अपनी रचनाओं में प्रमुखता दे रहे हैं। इलियट का कहना है कि आज के कवि का ध्यान विभीषिका, ऊब तथा जीवन के

गौरव तथा महिमा (glory of life) की ओर जाता है। लेकिन आज की कविताओं को देखें तो उसमें विभीषिका, ऊब का तो प्राचुर्य है, लेकिन जीवन का गौरव तथा महिमा नहीं के बराबर है। जहाँ तक आज की कविता में अनुकृति का प्रश्न है उसमें नित्य के जीवन के घृण्य, फूहड़ तथा अस्त-व्यस्त पहलुओं का ही चित्रण मिलता है। केवल इतना ही नहीं, कवि की रचना में उन चित्रों के प्रति एक अद्भुत उदासीनता का भाव है। उन चित्रों से यह पता नहीं चलता कि कवि उनसे विचलित है या अविचलित। आज के कवि को देवी देवताओं, आदर्श पुरुषों में कोई अभिरुचि नहीं है। जिसे आदर्श गुण समझा जाता था आज के कवि के लिए बेमानी हो गया है। आदर्श गुणों का अन्योक्ति के रूप में चित्रण भी आज की कविता में देखने को नहीं मिलेगा। पूँजीवादी सभ्यता की विशिष्टताओं के प्रति भी आज के कवियों में उदासीनता का भाव है। वैसे इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि आज के कवि वास्तवता के प्रति जागरूक हैं और सामाजिक समस्याओं के प्रति उनमें एक सहानुभूति का भाव है।

काव्य के क्षेत्र में एक नई परिपाटी के चल निकलने की ओर ही आज के कवियों का ध्यान केन्द्रित है। इस नई परिपाटी में एक सीधी-सादी अनलङ्कृत शैली को अपनाया गया है। काव्य की यह शैली गद्य के अधिक निकट है। इन कवियों में जीवन की आलोचना की प्रवृत्ति देखने को मिलती है लेकिन जीवन की यह आलोचना मिनारों को थोपने जैसी लगती है और उसमें गद्यात्मकता का ही प्राधान्य है। परंपरा से आती हुई शैलियाँ भी इन कविताओं में देखने को मिलती हैं लेकिन उनमें आमूल परिवर्तन हो गया है। नाटकीय प्रगीत आज की कविता का वैशिष्ट्य हो गया है। लंबी-लंबी विवरणात्मक तथा आख्यानमूलक कविताएं प्राय ही लोप हो गई हैं। इसी प्रकार पहले के जैसी चिन्तन-प्रधान कविताओं का लिखा जाना समाप्त हो गया है। बाहर के क्रियाकलापों में कवि किसी प्रकार महत्व नहीं देखता इसलिए लगता है कि वर्णनात्मक या विवरणात्मक कविताएं सम्भवत अब नहीं लिखी जाएंगी। वैसे चिन्तन प्रधान कविताओं का परिवर्तित रूप इलियट, आडेन आदि के प्रयासों में देखा जा सकता है।

आज के काव्य-संग्रहों में जो कविताएं देखने को मिलती हैं उनमें अत्यन्त स्पष्टवादी आत्म-चरितात्मक कविताएं हैं अथवा ऐसी कविताएं हैं जो सीधे अनुभूति को हमारे समक्ष रखने का प्रयास करती हैं जिनमें नाटकीय स्वगतोक्ति का सहारा लिया गया है। इन कविताओं में न निबिड गीतात्मकता है, न वाक्यों का घनत्व और न भावों का औदार्य। किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा आदर्श के प्रति आसक्ति भी इन कविताओं में देखने को नहीं मिलती। इन कविताओं में कभी-कभी ब्योरों में जाने की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है उससे बाधा की ही सृष्टि होती है। ब्योरों में जाने की यह प्रवृत्ति साधारणत उन्हीं कविताओं में देखने को

मिलती है जो सामाजिक समस्याओं से जुड़ी हुई हैं, लेकिन विचित्रता यह है कि भावावेगों की तीव्रता उनमें नहीं के बराबर है।

आज के काव्य में जो मनोभाव पाया जाता है उसे 'रुग्ण मनोभाव' कहा जा सकता है। शायद ही आज का ऐसा कोई नौजवान कवि होगा जिसकी कविता में प्रधान रूप से सौन्दर्य के प्रति उसके आकृष्ट होने के चिह्न देखने को मिलें। लेकिन यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आज की कविता में जो कुछ भी अनाकर्षक दीखता है वह इस युग की कुरूपता का प्रतिबिंब है, कवि का नहीं। आज की जो भी कविताएं हम देखते हैं उनमें न कवि का व्यक्तित्व ही उभर पाता है जो हमें आकृष्ट कर ले और न उसमें वह गीतात्मकता ही है जिसका स्वर हमें तुरन्त अपनी ओर खींच ले। पहले के कवियों की रचनाओं में ऐसी पंक्तियां, ऐसे पद, ऐसे वाक्यांश मिल जाते हैं जो हमारी स्मृति में गुंजित होते रहते हैं। आज की कविता में यह एकदम देखने को नहीं मिलता।

कभी-कभी मन में होता है कि ये कवि ऊटपटांग, उद्धत तथा आक्रामक हैं। लगता है जैसे ये कवि सामाजिक जीवन से अलग-थलग होकर असामाजिक हो गए हैं अथवा उसके प्रति उनके मन में एक विद्वेष का भाव है। आज के प्रायः सभी गम्भीर कवि जैसे और भी गम्भीर हो गए हैं मानो उस तरह गम्भीर होने को वे बाध्य हो गए हैं कि जिससे वे हमें ज्ञान दे सकें अथवा जहां भी सुविधा पाएं हमें उपदेश दे सकें। इसका फल यह हुआ है कि अपनी किसी अनुभूति को या किसी वस्तु को अधिक महत्त्व देने के कारण वे उसे प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें बहुत कुछ कहना पड़ जाता है। इससे शब्दों की संख्या में तो अवश्य वृद्धि होती है लेकिन उससे कविता अपना महत्त्व खो देती है।

क्रिस्टोफर काडवेल ने अपनी पुस्तक 'इल्यूजन एण्ड रिएलिटी' (Illusion and Reality) में आधुनिक कविता के कुछ वैशिष्ट्यों की चर्चा की है जो ध्यान देने योग्य हैं। काडवेल की स्थापनाओं और विश्लेषण से भले ही सब समय सहमत होना संभव न हो, लेकिन कविता के लिए अध्ययन की दिशा में उनके संकेत अत्यन्त महत्त्व के हैं। कविता की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए काडवेल ने बतलाया है कि कविता लयबद्ध होती है। काडवेल ने बतलाया है कि कविता की लयबद्धता के मूल में समूह का सवेग है। उत्सवों के अवसर पर यह लयबद्धता समूह के लोगों में संवेगात्मक नैकट्य तथा एकतानता ला देती है। कविता की लयात्मकता के संबंध में पाश्चात्य देशों के विचारकों ने नाना भाव से चिन्ता की है। लयात्मकता कविता का अभिन्न अंग है। कविता की दूसरी विशेषता का निर्देश करते हुए काडवेल ने बताया है कि कविता का अनुवाद अत्यन्त कठिन है। कविता के भाव का रूपान्तर दूसरी भाषा में हो सकता है। छन्दों को भी उतारा जा सकता है लेकिन कविता के संवेगों (*emotions*) का अनुवाद

के द्वारा दूसरी भाषा मे नही लाया जा सकता है । किसी कविता का अन्य भाषा मे अनुवाद अपने-आप मे उस भाषा की एक सुन्दर कविता का प्रतिनिधित्व कर सकता है, लेकिन वह मूल कविता का प्रतिनिधित्व कभी नही कर सकता। अन्य भाषा मे किसी कविता का कुछ स्वाद पाया जा सकता है अगर उसका गद्य म रूपान्तर किया जाय। कविता की तीसरी विशेषता काडवेल के अनुसार उसक युक्तिमूलक होने मे नही है । उसका आधार तर्क या युक्ति नही है । इसका मतलब यह नही है कि काडवेल कविता को असगत या अनाप शनाप मानता है। उसका कहना है कि उसमे व्याकरण के नियमो को दृष्टि मे रखा जाता है और उसकी एक व्याख्या भी हो सकती है, लेकिन उसमे विज्ञान के समान तर्क और युक्ति का स्थान नही है। उसके मूल मे सवेग है। इसे ही शैली ने कहा है कि कविता मस्तिष्क से परिचालित नही होती (Poetry is something not subject to the powers of the mind)।

कविता की चौथी विशेषता उसने बताई है कि शब्दो द्वारा कविता की रचना होती है। सुनने मे यह एक सामान्य-सी उक्ति लगती है। हम अन्यत्र शब्द, अर्थ और कविता के सम्बन्ध मे विस्तार से प्रकाश डाल चुके है। यहा सक्षेप में कविता के साथ शब्दो के सम्बन्ध के बारे मे काडवेल के मत से परिचय प्राप्त कर लें। काडवेल का कहना है कि कविता अगर केवल भावो (ideas) के सहारे लिखी जाती तो दूसरी भाषा मे उसका अनुवाद कठिन नही होता। उन शब्दो का, जो भावो के द्योतक हैं उनके स्थान पर दूसरी भाषा के प्रतिशब्द रखे जा सकते थे, लेकिन ऐसा होता नहीं है। वास्तव मे शब्दो मे, उनके रूप मे, उनकी ध्वनि म, लिखे जाने पर उनके आकार-प्रकार मे, एक जादू के जैसी शक्ति होती है जो सवेगो को उद्दीपित करती है। दूसरी भाषा को छोड दें। एक ही भाषा के एक शब्द का पर्यायवाची शब्द समान प्रभाव उत्पन्न नही कर पाता। मालार्मे ने कहा है कि कविता भावो से नही बल्कि शब्दो से लिखी जाती है (Poetry is written with words, not ideas)। आज के बिंबवादी (imagist) कवि मालार्मे से सहमत हैं, लेकिन काडवेल का उससे थोडा मतभेद है। उसका कहना है कि कविता भावो अर्थात् स्मृतिचित्रो (memory images) को उत्पन्न करती है और अगर ऐसा नही होता तो कविता एक निरर्थक ध्वनि मात्र रह जाती।

कविता की पाचवी विशेषता उसके अनुसार उसका अप्रतीकात्मक होना है। वैसे साधारणत लोग समझते हैं कि कविता प्रतीकात्मक होती है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए काडवेल कहता है कि जब यह कहा जाता है कि शब्द प्रतीकात्मक होते है तो इसका मतलब यह होता है कि शब्द अपने आप म व्यर्थ हैं और असल वस्तु वह है जिसकी ओर वे सकेत करते हैं। काडवेल का कहना है कि कविता म शब्द बाहरी वस्तुओ की ओर भी सकेत करते हैं और सवेगात्मक भी होते हैं,

अतएव वे प्रतीकात्मक नहीं हो सकते जैसा कि गणितशास्त्र में होता है। गणित में १ + २ = ३ होता है। समस्त जगत् के गणितज्ञ इन संख्याओं को अपनी भाषा में रूपान्तर कर एक ही फल पाएंगे। संख्याएं प्रतीक हैं। अब १, २ और ३ के मान के लिए सभी गणितज्ञ अन्य तीन संख्याओं को प्रतीक मान लें तो भी फल में अन्तर नहीं आएगा। लेकिन कविता में अगर सभी शब्द इसी प्रकार दूसरे प्रतीकों में बदल दिए जाएं तो फल दूसरा हो जाएगा अर्थात् कविता वही नहीं रह जाएगी जो मूल थी।

कविता की यह भी विशेषता है कि वह प्रत्यक्ष और निश्चित (concrete) होती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जो प्रत्यक्ष और निश्चित है वह प्रतीकात्मकता के ठीक उलटा उसका विलोम है। प्रतीकात्मक भाषा जब सामान्य को छोड़ विशेष की ओर झुकती है तब वह निश्चित और प्रत्यक्ष के निकट पहुंचती है। बीजगणित से अंकगणित अधिक निश्चित है, क्योंकि वह बीजगणित की तुलना में कम सामान्य है। कविता का क्षेत्र आत्मपरक प्रतिक्रिया में निबद्ध है। चेतन मन के क्षेत्र में वास्तविक वस्तु और व्यक्तिनिष्ठ प्रतिक्रिया दोनों ही रहती हैं। वास्तविक वस्तु को अत्यन्त व्यापक रूप से सामान्य धरातल पर व्यवस्थित कर गणितशास्त्र असीमता के चिह्न (infinity) तक पहुंचता है और यह असीमता का एक ही प्रतीक समस्त बाह्य वास्तवता (external reality) को अपने में समेट लेता है अर्थात् गणित में असीमता (*infinity*) का चिह्न समस्त बाह्य वास्तवता का संकेत करता है। लेकिन कविता सभी व्यक्तिनिष्ठ प्रतिक्रियाओं को सामान्य धरातल पर व्यवस्थित करे तो वह 'अहं' (ego) तक पहुंचती है और प्रतीक रूप में यह 'अहं' सभी आत्मपरक वास्तवता को अपने में समो लेता है। वास्तव में इतने सामान्य धरातल पर आकर कविता अमूर्त होकर संगीत का रूप ले लेती है। कविता की संवेगात्मकता को वास्तविक वस्तुओं की अपेक्षा रहती है। अतएव कविता मूर्त और प्रत्यक्ष तथा निश्चित होती है। कविता में अनुभूतियां सब समय एक ही 'अहं' में केन्द्रित रहती हैं, अर्थात् व्यक्ति की अहंता में केन्द्रित रहती हैं, चाहे वे अनुभूतियां किस भी कल्पना-जगत् की क्यों न हों। उपन्यासों में लेकिन सभी घटनाएं, सभी दृश्य मानव-समाज के एक ही यथार्थ जगत् में घटित होते हैं और सारी अनुभूतियों का केन्द्र वही एक ही वास्तविक जगत् होता है, लेकिन उनका द्रष्टा 'अहं' भिन्न-भिन्न होता है। कविता के समान यह व्यक्तिनिष्ठ अहंता में केन्द्रित नहीं होता। इसमें द्रष्टा की दृष्टि आत्मपरक न होकर व्यापक सार्वभौम होती है।

कविता की एक और विशेषता होती है कि कविता संबंधी सौन्दर्यपरक कलात्मक संवेग व्यक्तिनिष्ठ न होकर सामूहिक होता है। कलाकृति केवल विशेष व्यक्ति में संवेगों को उद्दीपित नहीं करती बल्कि समूह के विभिन्न व्यक्तियों में

करती है।

कलाकृति के संदर्भ में नैतिकता का प्रश्न पाश्चात्य देशों में प्राचीन काल से ही उठाया जाता रहा है। यह विश्वास कि कविता का प्राथमिक कार्य शिक्षा देना है शताब्दियों से चला आ रहा है। प्लेटो ने कला और साहित्य में नैतिकता पर बल दिया है। कला और साहित्य में उसकी रुचि उतनी ही दूर तक है कि वे नागरिकों को अच्छा और नैतिक बनाने में सहायक होते हैं। प्लेटो का नागरिक, सत्य और नैतिकता का पुजारी है। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' से होमर के काव्य को इसलिए बहिष्कृत कर दिया कि उसने देवताओं को अनैतिक और भ्रष्ट के रूप में चित्रित किया है। एरिस्टाटल ने कहा है कि काव्य में एक ऐसी विशिष्टता है कि वह सत्य को अभिव्यक्ति दे सकता है। कला का रहस्यवादी विवेचक यह माने बैठा रहता है कि कवि दिव्य-दृष्टि वाला मनुष्य है और अपने उपकरणों को जिस रूप (form) में बाँधता है वह उच्चतर सत्य की प्रतिच्छवि है। फ्रान्सिस बेकन के काल तक साहित्यस्रष्टा अपने को सत्य को प्रकाशित करने वाला समझता था। कवि एक द्रष्टा और परमज्ञानी उपदेष्टा समझा जाता था।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'काव्य में सत्य' का सिद्धान्त प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो ने इस 'सत्य' के आधार पर ही कलात्मक कृतियों को समाज के लिए अनिष्टकर बताया था क्योंकि उसकी दृष्टि में वे अनैतिक थीं और भ्रम में डालने वाली थीं। उसके समय में यह समझा जाता था कि कला और साहित्य का उद्देश्य पथ-प्रदर्शन है, मनोरंजन करना नहीं। प्लेटो का कहना है कि नैतिकता के विचार से साहित्य में केवल उच्च आदर्श तथा उदात्त विचार वाले चरित्रों का निर्माण होना चाहिए और तभी वह सात्त्विक आनन्द का देने वाला होगा। काव्य के संबंध में प्लेटो के इस प्रकार के विचारों का प्रभाव शताब्दियों तक यूरोप पर बना रहा, लेकिन धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। सर फिलिप सिडनी (सन् १५५४-८६ ई०) ने कविता की जिस प्रकार से वकालत की है उससे लगता है कि इंग्लैंड में प्लेटो का प्रभाव उस काल तक कितना अधिक था। उस समय तक इस विचार के प्रबल समर्थक इंग्लैंड में थे कि कविता पथभ्रष्ट करनेवाली, अनैतिक और मिथ्या है। सिडनी बहुत दूर तक कविता के संबंध में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में सफल हुआ। उसने रोम और यूनान के विचारकों के कथनों के आधार पर कविता के संबंध में फैले भ्रम को दूर करने का प्रयास किया। उसने बतलाया कि रोम और यूनान के विचारक कवि को स्वप्नद्रष्टा, दिव्य शक्ति से सम्पन्न और सर्जन करनेवाला मानते थे। उसने रोम और यूनान के कवियों की रचनाओं को सीख देने वाली कहा है। उसने इस बात की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि प्लेटो ने केवल अनैतिक साहित्य का विरोध किया था तथा साहित्य का पूर्ण रूप से विरोधी नहीं था। जान

ड्राइडन (सन् १६३१-१७०० ई०) कविता का मुख्य प्रयोजन आनन्द प्रदान करना मानता है लेकिन शिक्षा को भी वह अस्वीकार नहीं करता। कविता के मूल में अगर सत्य न हो तो वह उसे सन्तोषप्रद नहीं मानता। उसका कहना है कि वर्जिल के काव्य में सत्य है जो आनन्द देने वाला है।

गेटे ने उपदेशात्मक कविता को हृदयग्राही कहा है। उसका कहना है कि वह लोक-हृदय का स्पर्श करती है, अतएव वह कविता को उपदेशात्मक मान लेने को तैयार है, लेकिन उसका अप्रत्यक्ष रूप से रहना ही वह उचित मानता है। जीवन के अनुभवों से कवि जिन मूल्यवान विचारों को ग्रहण करता है उन्हें कविता के माध्यम से उसे पाठक तक पहुँचाना चाहिए। मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है कि नैतिक विचारों से विद्रोह करने वाली कविता, जीवन से विद्रोह करनेवाली कविता कही जा सकती है। इसी प्रकार नैतिक विचारों के प्रति उदासीन कविता वास्तव में आर्नल्ड के अनुसार जीवन के प्रति उदासीन कविता कही जा सकती है। हेनरी जेम्स ने भी कला के सम्बन्ध में नैतिकता की चर्चा करते हुए कहा है कि सभी कलाओं के मूल में नैतिकता है। हमने देखा है कि प्लेटो ने नैतिकता पर बल दिया है और वह कला और साहित्य को उसी अवस्था में स्वीकार करने को तैयार है अगर वे आदर्श नागरिक बनाने में सहायक हों। उसने साहित्यिक कृति को अनैतिक कहा है क्योंकि उसमें बुरे चरित्रों का चित्रण होता है। रस्किन ने भी नैतिकता पर बल दिया है, लेकिन कलाकृतियों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण प्लेटो से बिलकुल विपरीत है। रस्किन ने कलाओं को और जो सचमुच में कलाएँ हैं उन्हें भगवान् की देन माना है। उसकी दृष्टि में कला परमात्मा की विभूति की साक्षी है। उसने सौन्दर्य को अत्यन्त पवित्र और आध्यात्मिक माना। उसके अनुसार जिनका हृदय पवित्र है वे ही सौन्दर्य को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसलिए रस्किन की दृष्टि में कलात्मक कृतियों का स्वाभाविक रूप से नैतिकता से सम्बन्ध है। अतएव उसका कहना है कि कलात्मक कृतियों को उपदेशात्मक होना चाहिए। और यही उनका मुख्य लक्ष्य है। रस्किन ने बतलाया है कि अगर जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर कलाओं पर विचार किया जाए तो हमारे लिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। उपयोगितावाद की दृष्टि से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन रस्किन के अनुसार जीवन के उच्चतम क्षेत्रों में कलाओं का प्रयोजन है क्योंकि मनुष्य को उसके वास्तविक कर्तव्य के योग्य बनने में वे सहायक होती हैं। रस्किन के अनुसार मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य भगवान् की विभूति की साक्षी (witness of the glory of God) होना है। वह सौन्दर्य को हृदय की वस्तु मानता है, मस्तिष्क की नहीं। उसका कहना है कि 'सुन्दर' की संवेदना न इन्द्रियों पर निर्भर करती है और न बुद्धि पर। उसे हृदय की अपेक्षा है। प्रकृति की वस्तुओं में वह परमात्मा का हाथ देखता है और कहता है कि इसका

मन में नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ संचित रहती हैं, अतएव किसी विशेष क्षण में उसका मन किस प्रवृत्ति से प्रभावित हुआ है यह कहना कठिन है। वैसे यह भी कहना कठिन है कि उसकी दृष्टिभंगी उससे कहाँ तक प्रभावित हुई है। मन के भीतर की अभिरुचियों का एक उलझनों से भरा हुआ समूह कविता को रूप देने में क्रियाशील रहता है और स्वयं वह (समूह) भी कविता से प्रभावित होता है और इसका (कविता का) मूल्य इस बात में है कि कितनी मात्रा में वह मानव-मन को एक व्यापक सन्तुलन की ओर खींच ले जाती है। अतएव आई० ए० रिचार्ड्स का कहना है कि वास्तविक स्थिति यह है कि मानव-मन में सन्तुलन और व्यवस्था तभी सम्भव है जबकि वह किसी चीज में आस्था रखता है। और रस्किन के अनुसार कवि या कलाकार के लिए वह वस्तु नैतिकता है।

रस्किन मानता है कि कलाओं का उद्देश्य शिक्षा देना है। (their (arts) proper character is to be teaching agencies—to instruct is their function.) कलाएँ इस प्रकार से उपदेश देने के लिए पाठक की तर्क-शक्ति को जैसे समाप्त कर देती हैं। वह उनके रसास्वादन में इस प्रकार से तल्लीन हो जाता है कि और सब-कुछ को सुध-बुध खो बैठता है। इस प्रकार से यद्यपि कलाएँ एक भ्रम उत्पन्न करती हैं, फिर भी वह भ्रम एक उच्च कोटि का भ्रम है क्योंकि ऐसा भ्रम उत्पन्न कर कलाएँ पाठक या दर्शक को एक उपदेश देती हैं। रस्किन की इस मान्यता को लोग स्वीकार नहीं करते। कहा जाता है कि वैज्ञानिक का काम अध्ययन करना, जानना और परीक्षण करना है। वक्ता का काम अनुकूल बनाना है और नैतिकता का प्रचार करनेवाले का काम उपदेश देना है। लेकिन कलाकार का काम प्रत्यक्ष करना है। नैतिक कहता है कि जीवन को वैसा होना चाहिए (life ought to be like that) और कलाकार कहता है कि जीवन वैसा दीखता है (*life looks like that*), लेकिन रस्किन के अनुसार कलाकार स्वभाव से ही अत्यन्त अधिक नैतिकता का अवलम्बन किए हुए रहता है और उसका काम लोगों को ऊँचा उठाना है।

जान रस्किन ने कला के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह उसके युग के मध्यवित्त समाज की मानवीयता की परम्पराओं के अनुकूल था। अपनी पुस्तक 'मॉडर्न पेन्टर्स' के तृतीय खण्ड में रस्किन ने कहा है कि कला मनोरंजन का साधन नहीं है। अवकाश के क्षणों में इसे सीखा जाना चाहिए इसे मानने को वह तैयार नहीं। और कुछ करने को न हो तब कलात्मक क्रियाकलाप में संलग्न होना चाहिए इसे उसने अस्वीकार किया है। ड्राइंग-रूम में या स्त्रियों के प्रकोष्ठ में जब समय काटे नहीं कटता हो तब कला का सहारा लिया जा सकता है, रस्किन ऐसी बात सोचना भी नहीं चाहता। उसका कहना है कि मनोयोगपूर्वक इसे ग्रहण करना चाहिए या समझने का प्रयास करना चाहिए और अगर ऐसा न हो तो इस

और अग्रसर होना व्यर्थ है।

काव्य और कलाओं के संबंध में नैतिकता पर जैसा बल दिया जाता रहा है वह क्रमशः क्षीण हो गया है और आज नैतिकता और सत्य का अर्थ वह नहीं रह गया है जो पहले था। स्विनबर्न की पुस्तक 'पोएम्स एण्ड बैलेड्स' (सन् १८६६ ई०) के प्रकाशित होने के साथ एक नई प्रवृत्ति का जन्म होता है। लगता है जैसे मध्यवित्त समाज की 'दुनिया' और नैतिकता संबंधी उसकी दृष्टिभंगी से कवि और कलाकार का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। धीरे-धीरे कलाकृतियों में नैतिकता आदि को लेकर अन्य दृष्टि से विवेचना होने लगी। अब यह धारणा क्रियाशील हुई कि कोई आवश्यक नहीं कि प्रतिभा और नैतिक गुणों में कोई संबंध हो ही। शब्दों के द्वारा सद्गुणों को अभिव्यक्ति देना वास्तव में भाषागत या कलात्मक शक्ति है। इसका मतलब यह है कि कवि को सद्गुणों का ज्ञान है, लेकिन उससे व्यावहारिक जीवन में अच्छा काम करने की कवि की इच्छा का बोध नहीं होता। साहित्य की सृष्टि करने वालों में एक विशेष प्रकार की शक्ति है कि वह शब्दों में अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। लेकिन अब यह प्रश्न भी किया जाने लगा है कि क्या कलात्मक कृति मात्र अभिव्यंजना है और केवल भावों को प्रकाशित करने के लिए है ? काव्य के 'सत्य' को लेकर पहले कोई भी प्रश्न नहीं उठता था और शताब्दियों तक उसमें नैतिकता आदि को लेकर कोई सन्देह प्रकट नहीं किया जाता था, किन्तु अब यह प्रश्न महत्त्व का हो गया है और उस पर नाना प्रकार से विचार किया जाने लगा है। क्या कलाकृति में 'सत्य' निहित नहीं रहता अथवा उसके द्वारा सत्य को प्रकाशित नहीं किया जा सकता ? इस सम्बन्ध में आलोचकों ने कई प्रश्न उठाए हैं। क्या सभी कलाओं में अथवा कुछ में ही सत्य निहित रहता है ? कलाओं में सत्य का रहना क्या उचित माना जा सकता है ? सत्य के रहने से क्या कलाएँ अधिक उपभोग्य हो सकती हैं ? सत्य के रहने से कलाओं को अधिक उपभोग्य मानना ठीक है ?

अधिकांश लोग इस बात को मानते हैं कि काव्य में सत्य रहता है लेकिन बिना किसी सत्य के भी काव्य का अस्तित्व सम्भव है और इसके बिना भी काव्य में सौन्दर्य होना सम्भव है। काव्य में सत्य वाले सिद्धान्त में यह माना जाता रहा है कि काव्य में जो बातें कही गई हैं और काव्य से जिन बातों का हमें परिचय प्राप्त होता है उनका वास्तविक जगत् या जीवन की बातों से साम्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य की परीक्षा 'सत्य' के आधार पर होनी चाहिए। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि काव्य के सत्य के साथ अगर जीवन की वास्तविकताओं का साम्य है तो इसका मतलब यह है कि सम्पूर्ण मानव-जाति के परिचित सत्य के साथ वह मेल खाता है और काव्य तथा कलाकृति के लिए ऐसा होना उचित है। साहित्यिक कृति के द्वारा किसी नये विचार को मनोरंजक बना-

कर उपस्थित करना साहित्य की चरम सिद्धि है। लेकिन इसमे एक बात ध्यान देने योग्य है कि वह नया विचार अगर मानव-जाति की आधारभूत मान्यताओ से मेल नही खाता तो चाहे जितने भी सुन्दर ढग से वह क्यो न कहा गया हो, कितना भी मनोरजन वह क्यो न बनाया गया हो, व्यर्थ समझा जायगा।

यहाँ काव्य मे जिस सत्य की बात कही जाती है वह इतिहास, विज्ञान या दर्शन के सत्य से भिन्न है। इतिहास, विज्ञान अथवा दर्शन का सत्य तथ्यात्मक है। किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण देते समय इतिहासकार घटना सबधी बातो का तथ्यात्मक रूप उपस्थित करता है। वह उसके कारण, समय, परिणाम आदि का यथातथ्य वर्णन करता है। यात्रा-विवरण अथवा निबन्ध मे तथ्यो का वर्णन तो होता रहता है, लेकिन लेखक उसमे थोडी स्वतन्त्रता लेता है। उसकी दृष्टि-भगी, उसकी अपनी प्रतिक्रिया आदि का भी योग उस वर्णन मे रहता है। लेखक का ध्यान इस बात की ओर अधिक नही रहता कि उसने क्या देखा, बल्कि वह उन बातो का वर्णन अधिक करना चाहता है कि उसके मन मे क्या प्रतिक्रिया हुई है, उसके मन म कैसे भाव आए हैं। वह ब्योरे मे न जाकर उन्ही बातो को सजा-कर रखता है जिन्हे रखने से वह पाठक के मन मे अनुकूल प्रभाव उत्पन्न कर सके।

कविता या कथा-साहित्य मे जिन बातो का वर्णन होता है अथवा जिन चरित्रो की अवतारणा की जाती है वे वास्तव मे 'टाइप' हैं, लेकिन उनका साम्य वास्तविक जगत् के तथ्यो से होता है। वे तथ्य जातिगत या समाजगत हैं अर्थात् जिन्हे समाज ने सत्य मान लिया है। जैसे प्रेमचन्द का होरी, प्रेमचन्द की कल्पना की सृष्टि है। समाज के किसी एक विशेष 'होरी' नामक व्यक्ति को लेकर प्रेमचन्द ने वह उपन्यास नही लिखा है। वह टाइप है लेकिन वह समाज का परिचित है। उसका जीवन, उसकी आकाक्षाएँ, उसकी सफलताएँ और विफलताएँ समाजगत तथ्य हैं।

वास्तव मे काव्य का सत्य, भावात्मक सत्य है और विशेष दृष्टिकोण से उस पर विचार किया जाए तो हम देखेंगे कि वह सत्य, इतिहास या जीवन-चरित के सत्य से बढ़कर है। उसे बढ़कर मानने का कारण यह है कि उसमे युग-युग मे अनुभूत सत्य का समावेश है तथा वह किसी देश-विशेष का नही है। इसका अर्थ यह है कि काव्य का सत्य उस 'सत्य' पर आधारित है जिसकी उपलब्धि मानव-जाति ने अपने विकास-क्रम म की है और इस प्रकार से वह सत्य, काल और देश की सीमा को अतिक्रम कर समस्त मानवजाति का सत्य हो जाता है। इसीलिए एरिस्टाटल ने कहा है कि इतिहास की अपेक्षा काव्य का सत्य व्यापक होता है और उसका उद्देश्य ऊँचा होता है क्योंकि कविता का व्यापार सार्वभौम है और इतिहास का एक विशेष सीमा मे निबद्ध है।

जिस भाव-सत्य को साहित्यकार या कलाकार अपनी कृति में रूप देता है वह कुछ इस प्रकार का होता है जहाँ साहित्यकार या कलाकार की भावना और मान्यता मानव-जाति की साधारण तथा सार्वभौम मान्यता से मेल खाती है। मानव-जाति की ये साधारण मान्यताएँ ही सामाजिक नियम-कानूनों का रूप ले लेती हैं और इन्हें ही हम 'नैतिकता' कहते हैं। इस प्रकार से साहित्यकार या कलाकार के भाव-सत्य तथा दृष्टिकोण का नैतिकता के साथ संबंध जुड़ जाता है, वैसे नैतिकता का मापदण्ड एक देश से दूसरे देश या एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह में थोड़ा भिन्न होता है, फिर भी कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन्हें समस्त सभ्य मानुष-समाज स्वीकार करता है; जैसे हत्यारे को प्रायः सभी बुरी निगाह से देखते हैं। अगर कोई साहित्यकार हत्यारे को ही आदर्श नायक के रूप में उपस्थित करे तो लोग उसे पसन्द नहीं करते। इस प्रकार से उस साहित्यकार के मूल्यांकन में सामाजिक 'सत्य' विशेष स्थान पर अधिकार जमा लेता है।

साहित्य और विचार (idea) के संबंध में बहुत-कुछ कहा गया है। साधारणतः साहित्य को एक प्रकार का दर्शन समझा गया है, अर्थात् यह समझा जाता है कि विचारों को रूप-विधान में बुन दिया गया है और उसका विश्लेषण करने पर उसमें अंतर्भूत प्रमुख विचार से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत जार्ज बोआस (George Boas) ने कहा है कि कविता में विचार साधारणतः बासी होते हैं और बहुधा मिथ्या होते हैं और ऐसा व्यक्ति जिसकी उम्र सोलह वर्ष से अधिक हो गई है शायद ही कविता केवल इसलिए पढ़े कि उसमें कुछ कहा गया है। पौट्ल (Pottle) का कहना है कि सुखवादी (hedonist) इस तथ्य को अपनी आँखों से ओझल कर देने की भूल करता है कि साहित्य एक प्रकार की भाषा है और वह भाषा संपूर्णता लिए हुए रहती है। वह अखण्ड है। मनुष्य की प्रकृति को संपूर्णता में अभिव्यक्ति देने और संप्रेषित करने के लिए भाषा का विकास हुआ है और इस संपूर्णता में उसकी नैतिकता भी शामिल है। अतएव यह बिलकुल असंभव-सी बात है कि भाषा का प्रयोग इस प्रकार हो कि उसमें व्यावहारिक जीवन का अर्थ तो बना रहे लेकिन उसमें न नैतिक धारणाओं का समवेत हो और न उनका उल्लेख हो। उसका कहना है कि विशुद्ध कविता की बात सिद्धान्त की दृष्टि से आवश्यक भी है और उपयोगी भी लेकिन वास्तव में ऐसी विशुद्ध कविता का अस्तित्व नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी विशुद्ध कविता संभव भी नहीं है। किसी बात के कहने का कविता का एक ढंग है और उसका यह विशेष ढंग ही उसे अद्भुत रूप से रोचक बनाता है लेकिन उसके वक्तव्य को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें नैतिक अभिप्राय एकदम नहीं है। कविता यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं करती कि अमुक वस्तु सत्य है बल्कि वह सत्य को हमारे लिए अधिक वास्तव बना देती है।

जब कोई मतवाद, सिद्धान्त, आस्था अथवा जीवन-दर्शन किसी कविता में लाया गया हो और वह कुछ ऐसा हो कि पाठक का मन उसे सुसंगत, सुचिन्तित और जीवन की अनुभूतियों पर आधारित मानने को तैयार हो तो वह पाठक के लिए उस कविता के रसास्वादन में बाधा उपस्थित नहीं करता; भले ही पाठक उन्हें स्वीकार करे या न करे, उनका अनुमोदन करे या उनकी भर्त्सना करे। लेकिन अगर वह सिद्धान्त ऐसा हो कि उसे अशक्त और बचकाना समझा जाय तो एक विचक्षण पाठक के लिए वह पूर्ण रूप से बाधा बन जाता है। इसलिए इलियट का कहना है कि कविता के उपयोग के लिए पाठक को अपने विश्वासों या किसी विचारधारा से असहमति को कुछ देर के लिए अपने मन से दूर कर देना पड़ता है और काव्य-जगत् के लिए एक नये मन को तैयार करना पड़ता है जिसमें सहज स्वीकृति होती है, अतर्कित विश्वास होता है तथा संशयहीनता होती है। यह स्वीकृति कविता में निहित विचारों तक ही सीमित नहीं है बल्कि संवेदनाओं के संबंध में भी उसी प्रकार लागू होती है। इलियट का कहना है कि कविता का रसास्वादन एक अमूर्त, पकड़ाई में नहीं आने वाली वस्तु है और विशुद्ध कविता एक मृग-मरीचिका। उसके सर्जन और रसास्वादन दोनों में ही सब समय बहुत-कुछ ऐसा आ जाता है जो कला की दृष्टि से अर्थहीन, बेमतलब का है।

आई० ए० रिचार्ड्स और इलियट दोनों ही इस बात में एकमत हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं कि कवि के विचारों और जीवन-दर्शन में हम पूर्ण रूप से विश्वास करें। वैसे रिचार्ड्स यह भी मानने को तैयार नहीं कि कविता में एक तर्कसंगत अर्थ होता ही है, लेकिन इलियट यह स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि लगता है रिचार्ड्स को कवियों से अपेक्षा है कि वे शून्य में सृजन करें। रिचार्ड्स का कहना है कि कविता में जो कुछ कहा गया है वह मुख्य वस्तु नहीं है बल्कि मुख्य यह है कि वह है, उसका एक अस्तित्व है।

आज की दुनिया में विज्ञान के आलोक में ही किसी चीज की परख पर हम आस्था रखने लगे हैं, लेकिन विज्ञान के आविष्कार अभी यहाँ तक नहीं पहुँचे हैं कि उनके सहारे हमारे मन का सुचारु रूप से गठन हो सके। वैज्ञानिक ज्ञान पर हम इस बात के लिए निर्भर नहीं कर सकते कि वह हमारे जीवन को भरोसा दे सकता है। अब हम अनुभव करने लगे हैं कि यह भरोसा, यह सहारा बहुत अधिक मात्रा में संवेगात्मक है। अतएव पाठक भले ही उपन्यास या कलात्मक कृति का अध्ययन करते समय अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासों को अछूता बनाए रखे और मनोविनोद के लिए अथवा कलात्मक आनन्द के लिए पढ़े, लेकिन लेखक के लिए यह एकदम संभव नहीं है; भले ही जान-बूझकर, अपना एक विशेष उद्देश्य रखकर वह लिखने में प्रवृत्त क्यों न हो। प्रतिनिधानी लेखक जाने या अन-

जाने मानव-मन को प्रभावित करता है और मानव-मन जाने या अनजाने उससे प्रभावित होता है। हर्बर्ट रीड के अनुसार नैतिक मूल्य सामाजिक मूल्य हैं और कलात्मक मूल्य मानवीय मूल्य हैं। नैतिक मूल्य एक विशेष जीवन-चर्या का संरक्षण करते हैं और उसे समृद्ध करते हैं जबकि कलात्मक मूल्य स्वयं जीवन को समृद्ध करता है और उसे सुरक्षित रखता है।

काव्य का सत्य

काव्य का 'सत्य' काव्य का ऐसा गुण है जो अविच्छिन्न रूप से उसमें निहित रहता है। यह अनिवार्य रूप से उसमें बना रहता है और कुछ ऐसा होता है कि उसके प्रति सहृदय पाठक सहज भाव से अपनी स्वीकृति देता है। काव्य में जो भिन्न-भिन्न वक्तव्य रहते हैं उनके अदारार्थ को चाहे हम सही मानें या गलत मानें, लेकिन यह उससे भिन्न होता है। आज काव्य में 'सत्य' का अध्ययन एक महत्त्व का विषय हो गया है। कविता के वक्तव्यों के प्रति, जिन्हें कवि का 'सत्य' कहा जाता है, पाठक की कैसी प्रतिक्रिया होती है इसे ध्यान में रखकर ही अध्ययन किया जाने लगा है। साहित्यिक कृति में, जिसे हम कवि का 'सत्य' कहते हैं या कवि का विश्वास कहते हैं उससे हम सहमत हों या न हों लेकिन उस तत्त्व को जिसे हम कवि का 'सत्य' कहते हैं, वह साहित्यिक कृति के रसास्वादन में पाठक के लिए कहाँ तक सहायक होता है या कहाँ तक बाधा की सृष्टि करता है इसके अध्ययन की ओर आलोचकों का ध्यान गया है। दर्शन के क्षेत्र में सत्य के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक (positivistic) दृष्टि उत्तरोत्तर प्रधान होती गई है, इसलिए काव्य में 'सत्य' के अध्ययन का प्रश्न अधिक महत्त्व का हो गया है।

जब कलाकृति के 'सत्य' पर हम विचार करते हैं तो दो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि कलाकृति की दृष्टि से 'सत्य' की बात करना अवान्तर प्रश्न है या प्रासंगिक तथा संगत है। दूसरा यह कि 'सत्य' का प्रयोग जब हम जीवन के संदर्भ में करते हैं तो क्या कलाकृति के सम्बन्ध में भी उसी अर्थ में उसका प्रयोग करते हैं। वैसे यह प्रश्न किसी न किसी रूप में प्लेटो के काल से ही चलता चला आ रहा है। साहित्यिक कृति में जिसे 'सत्य' का प्रतिपादन कहा जा सकता है उसे पाठक के विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास प्लेटो के बाद के विचारक भी करते आ रहे हैं। बराबर से एक ऐसी धारणा रही है कि कविता का मुख्य उद्देश्य सत्य को उपस्थापित करना है और इसी दृष्टि से कविता पर विचार किया जाता रहा है। पाठक के विश्वासों को तभी धक्का लगता है जबकि कलाकृति में सीधे-सीधे अविश्वसनीय बातों का समावेश हो। साधारणतः सन् ईसवी की अठारहवीं शताब्दी में पाठक के विश्वास का प्रश्न नाटकीय

कविता के संदर्भ में ही उठता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में कविता और विज्ञान में परस्पर इतना अन्तर आ गया कि विश्वास का प्रश्न प्रमुख हो उठा। वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि की प्रतिभा को पहले एक जैसी मानने का आग्रह था। अतएव आज जिस प्रकार विश्वास का प्रश्न उठाया जा रहा है उस प्रकार से यह प्रश्न किसी के मन में उदय ही नहीं होता था। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान का प्राधान्य हो गया और लोग उसी को सत्य मानने का आग्रह दिखाने लगे जो विज्ञान की दृष्टि से सत्य हो तथा जिसका परीक्षण प्रयोगशाला में किया जा सके। वैसे इस काल में 'विश्वास' की जो बात कही जाती है उसका अर्थ पहले की तरह 'सत्य' नहीं रह गया है।

कहा जाता है कि 'सत्य' का प्रश्न कलाकृति के लिए अप्रासंगिक है। जब किसी वस्तु पर कलात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है तब उसमें सत्य-मिथ्या का प्रश्न ही नहीं उठता। कलाकृति का उद्देश्य संवेगों को उद्दीपित करना है और भाषा का काम कलाकृति में संवेगों को लेकर ही रहता है, अतएव संवेगों या प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में 'सत्य' का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्य-मिथ्या का प्रश्न उन्हीं कथनों के सम्बन्ध में उठता है जो सूचना देने वाले या निर्देश देने वाले होते हैं। कलाकृति का हम रसास्वादन करते हैं, उसमें 'मूल्यों' का महत्त्व होता है। वैसे रसास्वादन करते समय यह मन में अवश्य आता है कि उन्हें कितने महत्त्व का माना जाय, यह व्यक्ति की दृष्टिभंगी पर निर्भर करता है। फिर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि किसी कलात्मक वस्तु का महत्त्व किस बात में निहित है। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि 'सत्य' की समस्या जितनी उलझनदार है उतनी ही 'मूल्य' की समस्या भी। अगर यह कहा जाय कि कलाकृति में 'मूल्यों' की जटिलताओं को समायोजित करने में ही उसका महत्त्व निहित है तो इसका अर्थ यह होगा कि कलाकृति के विवेचन के लिए जीवन को ध्यान में रखना होगा। शिप्ले का कहना है कि कला की दृष्टि से 'विश्वास' का प्रश्न अप्रासंगिक है, वैसे यह बात नहीं है कि किसी कृति के विचारों के साथ 'विश्वास' का मेल बैठ जाय तो उससे उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। पाठकों के 'विश्वास' (belief) से अगर काव्य में निहित 'सत्य' का साम्य हो तो वह सहज ही ग्रहणशील हो जाता है, भले ही यह ग्रहणशीलता शिथिल ढंग की हो। कला में 'सत्य' का अर्थ यह भी लिया गया है कि जीवन के साथ कला की सुसंगति होनी चाहिए। कला सम्बन्धी अनुकृति के सिद्धान्त का आधार यही विचारधारा है। कला में 'सत्य' को एक और ढंग से समझने का प्रयास किया गया है। कला को जो लोग किसी प्रकार का दस्तावेज (document) नहीं मानते, उनका कहना है कि कला के 'सत्य' की स्वीकृति उसी में निहित है, उसके लिए अन्यत्र प्रमाण ढूँढने की आवश्यकता नहीं। विको (Vico) का कहना है कि

कलाकृति मे 'सत्य' की कसौटी यह देखने मे है कि क्या वह सुसम्बद्ध है ? क्या उसके भिन्न-भिन्न अंश एक अखण्ड इकाई मे गुँथे हुए हैं ? क्या उसमे अन्तर्निहित 'मूल्य' सामजस्यपूर्ण और सुसगत है ? जीवन मे जिस सत्य की बात हम करते हैं वह कलाकृति की कसौटी नहीं हो सकता। मिड्लटन मर्री ने काव्य के 'सत्य' को अपनी समग्रता मे एक अखण्ड और 'पूर्ण वक्तव्य' (total statement) कहा है।

कलाओ—चित्रकला, मूर्तिकला आदि—के सम्बन्ध मे आज यह समझा जाता है कि वास्तव मे कलाएँ एक प्रकार से भाषा हैं। जिस प्रकार से हम अपने मनोभावो को भाषा द्वारा प्रकट करते है और भाषा के माध्यम से ही अन्य व्यक्ति हमारे मनोभावो को समझ पाते हैं, उसी प्रकार से कलाकार के भावचित्रो तथा दृष्टिभगी को हम उसकी कलाकृति द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। अतएव आधुनिक विचारक 'कला' को भाषा मानते है। ऐतिहासिक दृष्टि से कला पर विचार करने का यह नया दृष्टिकोण है। डुकास के अनुसार यह भाषा सवेदना, मनोदशा, भावना और सवेगो की भाषा है और यह उस भाषा से भिन्न है जिसके द्वारा हम मात्र सूचना देते है, उपस्थापन करते हैं या निर्देश देते है (डुकास आर्ट, दि क्रिटिक्स एण्ड यू, पृ० ५२-३)। आई० ए० रिचार्ड्स ने भी कला, साहित्य आदि पर विचार करते हुए उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भाषा के सम्बन्ध म अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए रिचार्ड्स ने कहा है कि जब हम कहते है कि 'यह चित्र अमुक चित्रकार का है', तो हम केवल मात्र सूचना देते हैं। यह सूचना सत्य भी हो सकती है, मिथ्या भी हो सकती है, लेकिन जब हम कहते हैं कि 'यह चित्र उत्कृष्ट है,' तो वास्तव मे हम चित्र के सम्बन्ध म कुछ नहीं कहते। ऐसा कहकर हम उस चित्र के सम्बन्ध मे अपनी दृष्टिभगी को ही प्रकाशित करते हैं। हम कहना चाहते हैं कि वह चित्र हमे अच्छा लगा है और सभवत हमारे मन मे यह बात भी रहती है कि सुनने वालो म भी हम उसी प्रकार के भाव उत्पन्न करें।

इस प्रकार से देखने पर यह कहा जा सकता है कि रिचार्ड्स यह मानता है कि कलात्मक कृतियो में सवेग और चित्त द्वारा भावो का प्रकाशन, भावो का उद्रेक तथा प्रभावोत्पादन का कार्य सपन्न होता है तथा उनम किसी मत का प्रतिपादन या सिद्धान्त-स्थापन नहीं होता और न वे किसी सत्य को प्रकाशित करने के लिए ही होते हैं ('the emotive theory of Ducasse and Richards is the view that art, as a system of signs, does not embody propositions or referential assertions, that is, truth claims but serves only as the expression or excitement of feelings, emotions and attitudes' - Morris Weitz, Philosophy of the Arts, p 136)

कर्नाप (Carnap) ने भी कला के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही बात कही है। कर्नाप ने कला की भाषा और शारीरिक चेष्टाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर बल दिया है। उसका कहना है कि जब हम हँसते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं या पैर पटकते हैं तो अपने भावों को प्रकाशित करते हैं और एक प्रकार से दूसरों में उन भावों को जाग्रत करना चाहते हैं। इन शारीरिक चेष्टाओं तथा क्रियाओं में भाव प्रकाशन तो निहित है लेकिन सत्य अथवा मिथ्या अथवा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन या स्थापन उनके द्वारा नहीं होता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दो सुन्दर कविताओं में एक ही विषय को लेकर दो ऐसे विचार व्यक्त किए गए हों जो एक-दूसरे का खंडन करने वाले हों अथवा किसी कविता में जो कहा गया हो वह पाठक के 'विश्वास' से मेल नहीं खाता हो तो उस समय उन कविताओं के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण क्या होगा? अथवा उन कविताओं पर विचार करते समय हमारे लिए क्या करना समीचीन समझा जाएगा? इन प्रश्नों पर नाना प्रकार से विचार किया गया है, लेकिन यह प्रश्न आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। पहले के 'विश्वास' का आधार विज्ञान का सत्य नहीं था लेकिन वह मन को शान्ति और सन्तोष पहुँचाने वाला था। आज का मनुष्य विज्ञान के बौद्धिक सत्य को नहीं छोड़ सकता, लेकिन संवेदनशील प्राणी होने के कारण मनुष्य उस सत्य के बिना भी नहीं रह सकता जिससे उसके मन को शान्ति पहुँचती है। धार्मिक विश्वास और विज्ञान का सत्य ये दोनों मेल नहीं खाते। अतएव मनुष्य के लिए आज यह आवश्यक-सा हो गया है कि वह ऐसा कुछ पा सके जो ठीक धर्म तो न हो लेकिन धर्म के जैसा ही मनुष्य को शांति पहुँचाए। मैथ्यू आर्नल्ड इस दृष्टि से कविता को उपयुक्त मानता है जिसमें विज्ञान का सत्य तो नहीं रहेगा, लेकिन धार्मिक विश्वास जैसी भी कोई वस्तु नहीं रहेगी जिसे आधुनिक युग, जिसमें विज्ञान का प्राधान्य है, स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। आर्नल्ड ने इसे काव्य का सत्य कहा है जिसमें सत्य की प्रतीति होती है लेकिन वह विज्ञान के सत्य जैसा नहीं है।

कविता में सत्य की जो प्रतीति होती है वह हमारे संवेगों को उद्दीपित करने वाली होती है। विज्ञान के सत्य जैसा नहीं होने पर भी काव्य का सत्य उसके जैसा नीरस और तथ्यात्मक नहीं होता। मनुष्य वास्तव में जिन मिथकों की सृष्टि काव्य में करता है वे उसके मन की एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। अतएव काव्य के सत्य और विज्ञान के सत्य के क्षेत्र अलग-अलग हैं और कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह इसके लिए किसी प्रकार की चिन्ता करे कि काव्य के सत्य से साथ पाठक के विश्वासों अथवा विज्ञान के सत्य का मेल नहीं बैठता। कवि के द्वारा निर्मित मिथक सबके लिए स्वीकार्य हो जाता है। रिचार्ड्स ने काव्य के 'सत्य' की चर्चा करते हुए कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त

किए हैं।

इलियट के मतानुसार कवि जिस परिवेश में वास करता है उसी से अपने विश्वास प्राप्त करता है। अपने काव्य में वह यह चित्रित करता है कि उन विश्वासों को लिए हुए वह कैसा अनुभव कर रहा है। इलियट का कहना है कि कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह 'विश्वासों' की सृष्टि करे अथवा उनकी पुष्टि का प्रयास करे। कवि उन विश्वासों के अनुरूप, उनसे सम्बन्धित वस्तुओं (co relates) को प्रस्तुत भर करता है। अतएव इलियट के अनुसार कविता की विशिष्टता की दृष्टि से 'विश्वासों' की विशिष्टता का कोई मूल्य नहीं, अर्थात् कविता की विशिष्टता विश्वासों की विशिष्टता पर निर्भर नहीं करती। इलियट का कहना है कि कविता की 'कविता' और कविता के 'विश्वासों' के साथ किसी भी प्रकार के 'सत्य' का कोई सम्बन्ध नहीं। अगर ये 'विश्वास' त्रुटिपूर्ण न हों तो कविता के पढ़ने में हमें कोई बाधा नहीं पहुँचती, भले ही उन 'विश्वासों' को स्वीकार करने को हमारा मन तैयार हो या न हो। वैसे इतना जरूर है कि समझदार व्यक्ति के लिए ये तर्कसंगत अवश्य प्रतीत होते हैं और इस प्रकार से स्वाभाविक प्रतीत होने के कारण कविता में अन्तर्निहित संवेगात्मक तत्त्वों (emotional elements) के आस्वादन में उसे कोई बाधा नहीं पड़ती वरन् लगता है जैसे संवेगात्मक तत्त्व ही उन 'विश्वासों' को अपने में लिए हुए हैं। कविता में 'विश्वासों' के प्रति हम तभी सचेतन होते हैं जब वे बचकाने हों और इसी अवस्था में हम कविता को सहानुभूतिपूर्ण हृदय लेकर पढ़ने में असमर्थ हो जाते हैं और हमारे लिए उसमें रस-ग्रहण करना कठिन हो जाता है। अतएव कविता में 'विश्वास' अगर सुसंगत और उपयुक्त हों तो कविता की संवेगात्मकता में बाधा नहीं पड़ती।

लेकिन आज के आलोचक, जो कविता को एक जैव इकाई (organic unity) के रूप में देखना चाहते हैं, इलियट से सहमत नहीं होंगे। वे 'विश्वासों' को असंगत और बचकाना मान लें तो कविता की जैव इकाई खंडित हो जाएगी। कहना पड़ता है कि चूँकि कवि इन विश्वासों को अपनी रचना का अविच्छिन्न अंग बना पाने में सफल नहीं हो पाते, इसीलिए वे रचना के अभिन्न अंग न होकर अलग एक विचार, एक धारणा, एक प्रत्यय के रूप में पाठक के सामने आ उपस्थित होते हैं। कवि की यह सबसे बड़ी असफलता है। इस अवस्था में स्वभावतः पाठक का ध्यान कविता के 'विश्वास' की ओर जाता है और उसका विवेचन वह उसी तरह करने लगता है जिस तरह किसी वैज्ञानिक तथ्य या दार्शनिक विचार का विवेचन किया जाता है। पाठक बाध्य होकर उसकी मौलिकता, उसके सही-गलत होने की परीक्षा में लग जाता है। चाहे जो भी हो यह प्रश्न रह ही जाता है कि कविता के वे वाक्य, जिन्हें विश्वासपरक कहा जा

सकता है, वे कविता के अभिन्न अंग हैं या नहीं। अतएव कविता में विश्वास का प्रश्न आज भी वैसे ही बना हुआ है।

रिचार्ड्स ने काव्य के 'सत्य' पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह सत्य निर्देशात्मक सत्य नहीं होता। उनका कहना है कि कलाकृति के संदर्भ में जब 'सत्य' की बात कही जाती है तो उसका अर्थ केवल उसकी आन्तरिक आवश्यकता (internal necessity) अथवा कलाकृति का औचित्य (rightness) होता है। वैज्ञानिक सत्य का सम्बन्ध यथार्थ की प्रकृति (nature of reality) से है जबकि कलात्मक सत्य का सम्बन्ध कलाकृति की आन्तरिक सुसंगति से है। अपनी बातों को स्पष्ट करने के लिए रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' में विस्तार से विचार किया है। रिचार्ड्स का कहना है कि राबिन्सन क्रूसो का 'सत्य' उसमें जो कुछ कहा गया है उसकी स्वीकृति में है। इसे स्वीकार नहीं कर लेने पर उसकी कथा में प्रभावोत्पादकता नहीं रह जाएगी। इस स्वीकृति का सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि सचमुच में एलेक्जेण्डर सेलकर्क ने क्या किया अथवा नहीं किया। लियर अथवा डान क्विक्जोट के सुखान्त या मिथ्यात्व इस बात में निहित है कि पूरी रचना का रसास्वादन जिन लोगों ने किया है वे इन रचनाओं को पूरा पढ़ने पर उनके सुखद अन्त को स्वीकार नहीं कर पाते। इसी अर्थ में 'सत्य' का अभिप्राय 'आन्तरिक आवश्यकता' अथवा 'औचित्य' है। आन्तरिक आवश्यकता या औचित्य इस बात में है कि सम्पूर्ण को देखते हुए उसमें कहीं असम्बद्धता या असंगति न हो। वस्तुगत या यथार्थ सत्य (objective truth) से लियर अथवा राबिन्सन क्रूसो के 'सत्य' से कोई मतलब नहीं। इसलिए रिचार्ड्स के अनुसार राबिन्सन क्रूसो के रसास्वादन के लिए किसी 'विश्वास' की आवश्यकता नहीं। रिचार्ड्स का कहना है कि किसी 'विश्वास' को लेकर अगर लियर को पढ़ें तो उसके भीतर की जो पूर्ण सुसंगति है उसमें बाधा पड़ेगी। उनका यह भी कहना है कि विज्ञान और कविता के क्षेत्र अलग-अलग हैं अतएव उनमें किसी प्रकार के विरोध की बात ही नहीं उठती।

एलेन टेट (Allen Tate) का कहना है कि कविता किसी वस्तु के सम्बन्ध में किसी प्रकार का वक्तव्य नहीं है। विज्ञान की तरह न यह किसी साधन (means) का निर्देश करती है और न धर्म की तरह किसी साध्य (end) का ही संकेत करती है। पाठक अपना परिणाम निकालने के लिए स्वतन्त्र है। टेट का कहना है कि कविता अपनी सम्पूर्णता में किसी वक्तव्य का प्रदर्शन नहीं करती। बाहर की किसी वस्तु से कविता का औचित्य नहीं सिद्ध हो सकता। कलाकार के द्वारा पाठक इसे ग्रहण कर पाता है। वैसे इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि या पाठक [illegible] निरंकुश हैं। मानव-आत्मा में निहित नियमों से ही कल्पना प्रतिपादित होती है। बाहरी प्रमाण की आवश्यकता उसी कवि को होती है जो उपदेश देना

चाहता है अथवा किसी उद्देश्य की सिद्धि को ध्यान मे रखकर वक्तृता करने वाले वक्ता को होती है।

हेनरी जेम्स के अनुसार कलाकार आशाओ, आकाक्षाओ, परितृप्ति अथवा नैराश्य से नियंत्रित नहीं होता। वह एक ग्रहणशील यंत्र की तरह होता है जो उतना ही विवरण देता है जितना कि उसे अतर का प्रकाश प्राप्त है और उस विवरण को 'सत्य' कहा जा सकता है। लेकिन उपन्यास मे कलाकार की इस तरह की निर्वैयक्तिकता के कारण कई तरह की समस्याओ के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। कथाकार को अगर अपनी दृष्टिभगी को अपनी रचना मे चित्रित करना है अथवा किसी तरह की सूचना देनी है तो अपने को वह कथा से अलग-थलग कैसे रख सकता है ? जासेफ कौनरैड तथा फोर्ड मैडौक्स फोर्ड का कहना है कि पाठक को कथाकार को एकदम भुला देना चाहिए जिससे कि ऐसा प्रतीत हो कि कहानी अपने आपको स्वय उपस्थित कर रही है और उसका विकास उसके अपने जीवन के अनुरूप हो रहा है। उपन्यासकार को पाठक से कहानी नही कहनी है बल्कि उसे इस तरह उपस्थित करना है कि जैसे कोई कार्य-व्यापार अपने आप घटित हो रहा है।

कला की शक्ति मतवाद पर निर्भर नही करती, अतएव मतवाद को उससे अलग कर देने पर भी कला का अस्तित्व बना रहता है। युग का कहना है कि एक महान् कलाकृति स्वप्न जैसी होती है। उसका कहना है कि कलाकृति मे सब-कुछ स्पष्ट रूप मे प्रतीति होने के बावजूद वह अपनी व्याख्या स्वय नही उपस्थित करती। कविता निर्देश नही देती। वह यह नही कहती कि यह सत्य है अथवा 'ऐसा करो, वैसा करो'। स्वप्न की तरह कविता भी एक चित्र उपस्थित करती है। जिस तरह प्रकृति एक पौधे को बढ़ने और पल्लवित-पुष्पित होने देती है और उसे देखकर कोई जो चाहे परिणाम निकाले, इसी प्रकार कविता भी होती है। हमारे समक्ष यह विकास पाने वाले पौधे की तरह है और उसका हम चाहे जो अर्थ निकालें।

नई आलोचना और कविता में तनाव

(क) नई आलोचना

नई आलोचना शब्द से स्पष्ट ही यह सकेत मिलता है कि पहले की आलोचना के जितने भी प्रकार रहे हैं उनसे आज के आलोचको को सतोष नही है, अतएव आलोचना का एक नया प्रकार वे पसन्द करते है। वास्तव मे बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक मे जिस प्रकार की कविताएँ या साहित्य की अन्य विधाओ का लिखा जाना शुरू हुआ उससे स्वभावत आलोचको को यह अनुभव होने लगा कि आलोचना की पहले की परम्परा को ध्यान मे रखकर तत्कालीन साहित्य का अध्ययन समुचित ढग से नही हो सकेगा। लेकिन नई आलोचना की एक कोई विशेष परिभाषा नहीं की जा सकती, सिवा इसके कि इससे आलोचना के क्षेत्र मे एक नई प्रवृत्ति का सकेत मिलता है। लेकिन वह स्पष्टतया क्या है, कहना कठिन है। वैसे इतना तो सहज ही कहा जा सकता है कि इस तरह की आलोचना का उद्देश्य इलियट के 'वेस्ट लैण्ड' और येट्स के 'टावर' जैसी कविताओं को समझना, उनकी बारीकियों को समझाना तथा उस जाति की कविताओ के विकास मे सहायता पहुँचाना था। आज उस काल की आलोचनाओ को देखने से लगता है कि भले ही प्रारम्भिक काल म उनकी कुछ उपयोगिता या लोगो ने अनुभव किया हो, लेकिन बाद मे चलकर वे बहुत काम की नहीं लगी। इस तरह की आलोचना मे वह व्यापकता नही थी कि उसको दृष्टि म रखकर साहित्य चाहे वह पुराना हो अथवा नया, उसका सम्यक् रूप से अध्ययन हो सके। बहुत बार तो यह व्यर्थ भी सिद्ध हुई, लेकिन उसका व्यवहार होता रहा और बहुत लोगो ने उसका गलत ढग से व्यवहार किया। नई आलोचना के नाम पर बहुत-कुछ ऐसा भी लिखा गया जिससे दायित्वहीनता का परिचय मिलता है। इसीलिए नई आलोचना की समीक्षा करने वालों ने इसके सबध मे नाना प्रकार के विचार प्रकट किए। जैसे कहा गया कि नई आलोचना म 'नई' का अर्थ केवल यही जतलाना नहीं है कि वह अब तक की चली आती हुई आलोचना की परपरा से भिन्न है बल्कि उससे यह भी जताना था कि पुरानी से वह उत्कृष्ट है। अग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के बाद कुछ लोगो ने यह समझ लिया कि जो कुछ

गया है यह उत्कृष्ट है और जो कुछ पुराना है वह किसी काम का नहीं। वैसे जो कुछ भी नया आरंभ होता है वह पुराने के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आरंभ होता है। पुराने में ऐसी बहुत-सी बातें आ जाती हैं जो मृत हो जाती हैं, जो विकास के पथ में बाधा उपस्थित करने वाली होती हैं। उसी गतानुगतिकता के विरुद्ध नया जन्म ग्रहण करता है। जो कुछ नया प्रारंभ होता है वह अपने काल की बहुत-सी बातों को इसलिए ग्रहण करता है कि उस काल में उसे ही वैज्ञानिक और तर्कसंगत समझा जाता है। जैसे सन् १६२० ई० के लगभग के नव-मानवतावादी रचनाकारों को आज के लेखक पुरातनपंथी समझते हैं।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में आलोचकों ने रचना को, केवल रचना को ध्यान में रखा। आलोचना के लिए लेखक के जीवन, उसके सामाजिक बोध अथवा पृष्ठभूमि के रूप में सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों की ओर ध्यान नहीं दिया। ग्राफ, आवर्त्त आदि का आकलन ही आलोचकों के लिए महत्त्व का हो गया। वैसे आलोचकों ने ऐसी सूची तैयार करनी शुरू की कि किसी कवि ने अथवा उसकी तुलना में अन्य कवि ने अपनी-अपनी रचनाओं में कितने प्रकार के अलंकार, बिंब आदि का प्रयोग किया है। इसका स्थान अर्थ-विज्ञान और शब्दों के विवेचन ने ले लिया। इस दृष्टि से आई० ए० रिचार्ड्स और एम्पसन ने बहुत ही महत्त्व का कार्य किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी कलात्मक कृतियों का अध्ययन शुरू हुआ। नई आलोचना ने कलाकृति की संरचना (गठन) पर अधिक ध्यान दिया। रचनाकार का व्यक्तित्व अथवा कलाकृति का पाठकों पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि बातें उनकी दृष्टि में गौण हो गईं। साहित्यिक 'वस्तु' का वस्तु के रूप में अध्ययन आलोचकों के लिए प्रमुख हो गया। उन्होंने इस बात की चिन्ता छोड़ दी कि उसमें संवेगात्मकता है या नहीं अथवा उसके उद्भव के मूल में कौन सी प्रवृत्ति काम करती रही।

आई० ए० रिचार्ड्स ने बहुत पहले कहा था कि आलोचना को 'विशुद्ध' करने की आवश्यकता है। नये आलोचना ने इस विशुद्धीकरण की ओर पूर्ण ध्यान दिया। वे यहाँ तक पहुँचे कि लोगों ने यह कहना शुरू किया कि नई आलोचना ने साहित्य को जीवन से अलग कर दिया है। सन् १९४१ ई० में जान क्रो रैन्सम (John Crowe Ransom) ने अपनी आलोचना संबंधी पुस्तक 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' को प्रकाशित किया। उस समय रैन्सम के मन में नई आलोचना कहने का तात्पर्य तत्कालीन आलोचना से था। रैन्सम ने अपनी इस पुस्तक में रिचार्ड्स, एम्पसन, इलियट, विन्टर्स की आलोचना-पद्धति की कड़ी और जमकर आलोचना की है, वैसे वह उनके प्रति बराबर सम्मान का भाव बनाए रहा। रैन्सम की इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद नई 'आलोचना' की धूम मच गई। वैसे उसने किसी विशेष पद्धति की प्रतिष्ठा नहीं की। अपनी इस

पुस्तक में, जिसे नई आलोचना कहा है, उसके पहले के तीस वर्षों की आलोचना की प्रवृत्तियों को ही नई की संज्ञा दी गई है। रैन्सम का ध्यान जिन प्रवृत्तियों ने आकृष्ट किया है उनमें प्रमुख रूप से विश्लेषण की बारीकी, स्पष्टीकरण का नैपुण्य, ब्यौरों में विस्तार में जाने की विशेषज्ञ दृष्टि है।

आज के सुप्रसिद्ध कवि परंपराभुक्त रूढ़िगत नियमों से दूर चले गए हैं। अतएव यह प्रश्न मन में आना स्वाभाविक है कि उनकी कृतियों का मूल्यांकन किस तरह किया जाए। काव्य में जब नये-नये परिवर्तन किए जाते हैं अथवा काव्यगत रूढ़ियों की सर्वपरकता को उसके अंतिम छोर तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है तो साधारण आलोचकों के लिए आलोचना का कारबार अत्यन्त दुष्कर हो उठता है। अच्छे निपुण आलोचक भी जिन कलात्मक सिद्धान्तों को अपनाए हुए रहते हैं उन पर फिर से विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं। आज की अस्त-व्यस्तता और डाँवाडोल परिस्थिति में कलाओं को अपरिचित और अत्यन्त तीव्र तथा सुविस्तृत अनुभूतियों की परिधि को सँभालना पड़ रहा है, अतएव यह स्वाभाविक है कि आलोचना को नाना प्रकार के ब्यौरों का ध्यान में रखना पड़ता है। इसके बिना आलोचना का पूर्ण रूप से कारगर होना अथवा कलाओं के विकास में हाथ बँटाना संभव नहीं होगा। आज के आलोचक को तुलना तथा विवेचना करनी पड़ती है। उसे विश्लेषण तथा व्याख्या एवं स्पष्टीकरण में प्रवृत्त होना पड़ता है। आलोचक को केवल उसी की व्याख्या नहीं करनी पड़ती जिसे हम पढ़ रहे हैं बल्कि उसे भी स्पष्ट करना पड़ रहा है जिसके बारे में हम पढ़ रहे हैं।

रैन्सम नई आलोचना की चर्चा करते हुए कहता है कि आलोचक को प्रथम अति संवेदनशील होकर किसी कविता या साहित्यिक रचना को पढ़ना पड़ता है और यह एक प्रकार से पुनरुक्ति होगी अगर यह कहा जाए कि पढ़ते समय आलोचक की संवेदना (sensitivity) अत्यन्त तीव्र हो उठती है। इसके बाद आलोचक को तुलनात्मक दृष्टि से तकनीक पर विचार करना पड़ता है अर्थात् अति निपुणता के साथ कविता को पढ़ना और तब उस पर टिप्पणी करनी पड़ती है। सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के निपुण ज्ञाता की दृष्टि से उसे यह समझना पड़ता है कि उस कविता की जातिगत विशेषताएँ क्या हैं? मनोविज्ञान और नैतिकता को ध्यान में रखकर कविता पर विचार करने को रैन्सम ठीक नहीं मानता। उसका कहना है कि मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर कविता पर विचार करने वालों का कहना है कि कविता मुख्य रूप से संवेदना और क्रियाशीलता लाने वाले उत्प्रेरक मनोवेगों को स्पर्श करती है। वे यह भी सब समय कहते रहते हैं कि विज्ञान की नीरसता और संवेगहीनता उसमें नहीं है। विज्ञान को वे बोधात्मक मन (cognitive mind) का विषय बतलाते हैं। रिचार्ड्स ने इस

बात को पूरी तरह से अस्वीकार किया कि काव्य का प्रभाव किसी वस्तुगत ज्ञान या विश्वास पर निर्भर करता है। रैन्सम का कहना है कि रिचार्ड्स ने यह नहीं बतलाया कि कविता किन संवेदनाओं और मनोवेगों को तृप्ति प्रदान करती है। रैन्सम के अनुसार रिचार्ड्स का काव्य-सिद्धान्त संभवत इतना गुह्य है कि उसे न सत्य प्रमाणित किया जा सकता है और न उसका खण्डन ही किया जा सकता है। रैन्सम का कहना है कि संभवत रिचार्ड्स और उसके पाठकों को यह काव्य सिद्धान्त इतना शामचलाऊ और काव्यानुभूति से असम्बद्ध लगा कि इन्होंने स्वयं इसका परित्याग कर दिया। रैन्सम इस धारणा का खण्डन करता है कि विज्ञान में इतनी नीरसता और शून्यता है। उसका कहना है कि प्रत्येक अनुभूति में, चाहे वह विज्ञान की ही क्या न हो, संवेदना (feeling) रहती ही है। कोई भी विषय बिना रुचि के देर तक नहीं चलाया जा सकता है और यह रुचि भी संवेदना का ही व्यापार है। एलिसिओ विवास ने कहा है कि वैज्ञानिकों में एक तीव्र आवेग होता है जिससे वे अपने अनुसंधानों में जुटे रहते हैं। रैन्सम विवास की बातों को स्वीकार करते हुए कहता है कि वैज्ञानिकों के अनुसंधान के फल से ही हम लोगों को मतलब होता है, उनके आवेगों के प्रति हम कोई दिलचस्पी नहीं। इसी प्रकार कविता में काव्य-वस्तु में ही हमारी रुचि रहती है। मनोविज्ञान के सहारे हम काव्य वस्तु में योग देने वाले आवेगों का कुछ परिचय पा सकते हैं, लेकिन पूरी कविता में, शब्दों में, पंक्तियों में, बहुत-से आवेग और संवेदनाएँ वर्तमान रहती हैं जिनमें से कुछ भले ही हमारा ध्यान आकृष्ट करें लेकिन बहुतों की जानकारी भी हम नहीं हो पाती और हम काव्य वस्तु को ही समग्र रूप में उपभोग करते हैं। कविता में एक ही संवेग (emotion) अपनी पूर्णता में बना रहता है और वही हमारे काम का है। उसे ही हम उपलब्ध करना चाहते हैं। इसलिए रैन्सम का कहना है कि काव्य-वस्तु—अपनी पूर्णता में कविता के संवेग—में ही हम अपने ध्यान को केन्द्रित करना है।

रैन्सम का कहना है कि इलियट अभिनव ढंग से कविता के संबंध में अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। इलियट कविता को संवेग (emotion) और संवेदना (feeling) की एक संरचना (गठन) मानता है। इलियट का कहना है कि कविता में संवेदनाएँ तो अनेक होती हैं लेकिन संवेग एक ही होता है। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि एक उद्धरण (passage) में एक संवेग हो। संवेदनाएँ कविता के शब्दों या वाक्यांशों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ हैं। ये सभी कविता के मुख्य संवेग या केन्द्रीय संवेग में एक हो जाती हैं और वह संवेग ही कविता के मूल विषय (theme) या उसमें निहित परिस्थिति (situation) में संलग्न रहता है। इलियट इन संवेदनाओं को मुख्य संवेग का अंग भी मानने को तैयार नहीं है। उसका कहना

है कि पाठक को पता भी नहीं चलता कि ये संवेदनाएँ कविता के संवेग से जुडी हुई है। रैंसम का कहना है कि इलियट ने जिस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए किया है वही त्रुटिपूर्ण है। रैंसम ने बतलाया है कि इलियट के सिद्धान्त का वह यही अर्थ लगाता है कि कविता की एक केन्द्रीय वस्तु है, उसका एक सार-तत्त्व है जिसकी व्याख्या हो सकती है और यह उचित ही है कि अपनी ओर वह हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। लेकिन रैंसम के अनुसार विज्ञान सबंधी निबंध और कविता मे एक सबसे बडा अन्तर यह होता है कि विज्ञान के निबंध में मुख्य वक्तव्य विषय से उसका ब्योरा अलग नही हो सकता और कविता मे मूल विषय तो महत्त्व रखता ही है, साथ ही कविता मे अन्य प्रसगो से युक्त ब्योरे भी होते हैं जो अपने-आप मनोरंजक होते हैं और स्वतंत्र रूप से अपना भी महत्त्व रखते हैं। रैंसम इसे कविता का संरचनात्मक (structural) अध्ययन कहता है। उसकी दृष्टि मे कविता का अध्ययन इसी दृष्टि से होना चाहिए।

रैंसम सौन्दर्य की अनुभूति और नैतिकता को तीव्र दृष्टि की परिधि के बाहर मानता है। उस दृष्टि से वह पकडाई में नहीं आ सकती। ठीक इसी प्रकार कामुक प्रवृत्ति की पकड के भी वह बाहर है। इन दोनो मे से किसी की भी प्रबलता होने पर न हम कविता को ही समझ सकते हैं और न मूर्ति को ही। नैतिक परिस्थिति को काव्यात्मक बनाने मे कवि भले ही सफल हो लेकिन नैतिकता की दृष्टि से कविता की आलोचना मे आलोचक सफल नही हो सकता। कविता के लिए शब्दो द्वारा सकेतित होने वाला कोई भी विषय उपयुक्त हो सकता है, जैसे कोई नैतिक परिस्थिति, मनोविकार कोई भाव या विचारधारा, एक फूल या एक प्राकृतिक दृश्य अथवा कोई एक वस्तु। इन वस्तुओं या विषयो में एक ऐसा कुछ जुड जाता है जिससे वे समृद्ध हो उठते है। कविता की वह वस्तु, जिसकी व्याख्या हो सकती है या जो तर्कमूलक है, जो उसकी प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तु है *जिसे हम उस कविता मे वर्तमान गद्य का अश कह सकते हैं वह बनी रहती* है। उसमें कमी नहीं होती। उसके अलावा उस कविता मे जो समृद्ध करने वाली, जो अभिवृद्धि करने वाली वस्तु है उसे ही हमे खोज निकालना है। यह खोज हमारे लिए तभी संभव है जब हम अन्य पूर्वग्रहो से अपने को मुक्त रखें। रैंसम ने इसीलिए कहा है कि कविता मे दो वस्तुएँ हैं - संरचना (गठन) और बनावट (ब्योरा)। आलोचक को इन्ही दोनो को दृष्टि मे रखकर कविता का अध्ययन करना है।

नई आलोचना का एक दूसरा पहलू भी ध्यान देने योग्य है। इसमे साहित्य के अध्ययन के लिए जैव सिद्धान्त (organic theory) पर अधिक बल दिया जाता है। इस सिद्धान्त की हम अन्यत्र चर्चा कर चुके है। संक्षेप मे जैव सिद्धान्त

काव्य को एक जीवधारी समझने की वकालत करता है। जीवधारी के अंग-प्रत्यंग का संपूर्ण शरीर के लिए महत्त्व होता है; जैसे शरीर के भीतर मस्तिष्क और हृदय में किसी को कम महत्त्व का नहीं माना जा सकता। ये एक-दूसरे को परिचालित करते हैं। इनमें अन्योन्याश्रय संबंध है। इसी दृष्टि से काव्य पर विचार करने की बात कही जाती है। नई आलोचना के समर्थकों में एक बात पर सहमति दीख पड़ती है। वक्तव्य-विषय (content) और रूप-विधान (form) के अन्तर को वे एकदम अस्वीकार करते हैं। इन दोनों की अन्तर्व्याप्ति (interpenetration) अलंकरण को ध्यान में रखने वाले अलंकार-विधान द्वारा ये संभव नहीं मानते। अलंकरण को ये बोझिल बना देने वाली वस्तु मानते हैं और उससे अलग ही रहना चाहते हैं। अतएव इस तरह के आलोचक कविता के पूरे संदर्भ अर्थात् कविता की संपूर्णता को ध्यान में रखकर प्रत्येक शब्द पर विचार करते हैं। शब्दों के अध्ययन में उनकी दृष्टि केवल इसी बात पर नहीं रहती कि कविता के पूरे संदर्भ में उनका क्या योग है, बल्कि वे यह भी देखते हैं कि संदर्भ में वे जिस स्थान पर हैं वहां रहकर वे ठीक-ठीक किस प्रकार अर्थवान होते हैं।

नई आलोचना की समीक्षा करने वालों को नई आलोचना के अपनाने वालों से यह शिकायत है कि वे अत्यन्त संकीर्ण भाव से शब्दों के माध्यम पर विचार करते हैं। उनके अनुसार नई आलोचना वाले भूल जाते हैं कि शब्द एक प्रकार के साधन हैं जिनके द्वारा काव्य में सम्पन्न होने वाली 'क्रिया' या 'वस्तु' (plot) रूप ग्रहण करती हैं। लेकिन इस तरह की आलोचना करने वाले नई आलोचना वालों के जैव सिद्धान्त को अपनी आँखों से ओझल कर देते हैं। नई आलोचना वाले यह मानते हैं कि शब्द अर्थों की वे प्रन्थियां हैं जिन (गांठों) के सहारे कविता में 'अर्थ' का संयोजन होता है। वे यह बिल्कुल मानने को तैयार नहीं कि कविता की 'क्रिया' या 'वस्तु' तथा शब्दों को अलग-अलग कर उन पर विचार किया जाय। उनके अनुसार साहित्यिक रूप-विधान (form) अपने-आपमें अर्थ का संघटन है।

(ख) कविता में तनाव

आज की आलोचना तथा सौन्दर्यशास्त्र की विवेचना में तनाव (tension) की चर्चा किसी न किसी रूप में आ ही जाती है। किसी आलोचना-विशेष में भले ही तनाव शब्द का व्यवहार न किया गया हो, लेकिन साहित्यिक कृतियों में आलोचक तनाव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उसे ध्यान में रखकर विवेचना भी करते हैं।

'मेटाफिज़िकल पोएट्री' की चर्चा करते हुए इलियट ने कहा है कि उस श्रेणी की कविताओं में कवियों का यह उद्देश्य रहा है कि दो अनुभूतियों को, जो परस्पर

एक-दूसरे को अलग रखना चाहती है, जिनका आपस मे विकर्षण है, उनमे एक प्रकार का सयोग स्थापित किया जाय। रिचार्ड्स का कहना है कि किसी प्रकार की अनुभूति मे विभिन्न मनोवेगो (impulses) का उद्दीपन और उनका पारस्परिक घात-प्रतिघात बना रहता है। रिचार्ड्स का कहना है कि सभी मनोवेग स्वभावत सुसगत और रागजस नही होते क्योकि साधारणत उनमे द्वन्द्व की सभावना बनी रहती है। लेकिन रिचार्ड्स के अनुसार सौन्दर्यानुभूति मे हमारे मनोवेग एक विलक्षण रीति से व्यवस्थित होते हैं। इस व्यवस्थित होने मे सघर्षशील मनोवेगो के द्वन्द्व का परिहार किया जाता है, लेकिन मनोवेगो को दबाकर यह साधित नहीं होता बल्कि आश्चर्य यह है कि उन्हे पूर्ण रूप से उन्मुक्त रहने देकर यह सभव किया जाता है। इस तरह के सन्तुलन की अवस्था म, भले ही वह क्षणस्थायी क्यो न हो, हम सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार रिचार्ड्स के सिद्धान्त म जहा सश्लेषण की बात कही गई है वहा तनाव का उल्लेख कर कलात्मक रचना म असगत या बेमेल तत्त्वो के सामजस्य की बात कही गई है। जान डेवी इस तरह के तनाव को आवश्यक बतलाता है। उसका कहना है कि आन्तरिक तनाव के नही रहने पर भावधारा का बहाव सीधे बिना बाधा के लक्ष्य पर पहुच जायगा और जिसे कलात्मक विकास अथवा कलात्मक उपलब्धि कहा जाता है उस तरह की कोई वस्तु नहीं रह जायगी। किसी रचना म तनाव का होना उसम बुद्धि तथा तर्कणा का स्थान निरूपण करता है। टी० ई० ह्यूम का कहना है कि प्रबल कल्पनाशील मन किसी कविता या चित्र के सभी महत्त्व के भावो को ग्रहण करता है और साथ ही उनका योग साधन करता है। अगर किसी क्षण किसी एक भाव को लेकर क्रियाशील रहता है तो साथ ही साथ उसके परिप्रेक्ष्य मे अन्य भावो म हेर फेर करता रहता है और उन भावो के पारस्परिक सबधो और क्रियाओ को भी नही भूलता। साप के चलने की क्रिया के रूपक से ह्यूम ने इस बात को समझाने का प्रयास किया है। पेट के बल जब वह चलता है तब उसके सारे शरीर म एक साथ गति बनी रहती है और साथ-साथ उसकी सकल्प शक्ति भी कार्य करती रहती है जिसे उसकी कुण्डली के विपरीत दिशाओ म सचरित होने म हम देख सकते हैं।

तनाव के सिद्धान्त का सबध उपन्यास और कविता के जैव सिद्धान्त (organic theory) से जोडा जाता है। सजनात्मक साहित्य म मन और बुद्धि के योग पर जैव सिद्धान्त मे अन्य बातो के अलावा बल दिया गया है। तनाव के सिद्धान्त की बात जब कही जाती है तब जैव सिद्धान्त के इस पक्ष को ही विशेष रूप से ध्यान म रखा जाता है। सजनात्मक साहित्य की आलोचना म जो लोग तनाव को ध्यान में रखते हैं वे लोग माध्यम (medium) और बुद्धि (तर्कणा) के पारस्परिक सबधो को निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं। वे लोग यह दिखाना

का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार एक भाव की दूसरे भाव के साथ संगति बिठाई जाती है और फिर इस संपूर्ण को किस प्रकार उसके माध्यम द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। आलोचक इन बातों की ओर निर्देश करने के साथ यह भी दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि यह अभिव्यक्ति कहाँ तक उपयुक्त है। तनाव का यह सिद्धान्त भावों के नाटकीय संघर्ष में प्रकाशन को अधिक पसन्द करता है अपेक्षा इसके कि उन्हें आडम्बरपूर्ण शैली में चित्रित किया जाय। शिथिल ढंग से भावों को क्यात्मक काव्य में पिरो देने की ओर भी उनकी रुचि नहीं है और न वे यही चाहते हैं कि साधारण प्रगीतों में उनका रोदन सुनने को मिले।

इलियट और रिचार्ड्स ने कविता में निहित तनाव और असमेल तत्त्वों की संगति बिठाने की बात कही है। इलियट ने कहा है कि टाइप करने वाली मशीन की आवाज, रसोईघर में पकने वाले खाद्य-पदार्थ की गंध, स्पिनोजा का अध्ययन और प्रेम में पड़ना, ये सभी ऐसे अनुभव हैं कि साधारण मनुष्य की दृष्टि में इन्हें एक-दूसरे से कोई मतलब नहीं, लेकिन कवि के लिए ये अनुभव सतत नई संपूर्णता में विलीन होकर एक ही रूप धारण करते हैं। रिचार्ड्स ने भी कुछ इसी प्रकार से कहा है कि ट्राफेलगर स्क्वायर में कबूतरों का चक्कर लगाना, हौज में भरे जल का रंग, किसी वक्ता की स्वर-लहरी अथवा उसके भाषण का इधर-उधर बहकना भले ही आपस में असम्बद्ध प्रतीत हों लेकिन कलाकार की दृष्टि में वे ऐसे नहीं होते। हम लोग एक छोटे-से दायरे में ही उत्तेजना को व्यवस्थित कर पाते हैं। रिचार्ड्स और इलियट की दृष्टि में लेकिन भेद है। इलियट भाव (thought) और संवेदना (feeling) के घुल मिल जाने में विश्वास करता है जबकि रिचार्ड्स प्रारंभ से ही पाठक में उत्पन्न संवेगात्मक अवस्था और उसे उत्पन्न करने वाले साधन के भेद को स्वीकार करता है। वाग्वैदग्ध्य (wit) जब किसी कविता में वर्तमान रहता है तो इलियट उसका कार्य कविता में आन्तरिक सन्तुलन लाना मानता है। रिचार्ड्स व्यंग्योक्ति (irony) को कविता में संतुलन है या नहीं इसकी परख का साधन मानता है। रिचार्ड्स किसी कविता को सुंदर और किसी को उदास मानने के पक्ष में नहीं है। व्यंग्यपरक चिन्तन को ध्यान में रखने पर अगर कविता टिक जाय तब तो ठीक है, नहीं तो उसे ठीक मानना कठिन होगा। रिचार्ड्स की यह व्यंग्यपरकता अनुभवों में संतुलन लाने का कार्य करे, या न करे लेकिन वह उसके संतुलन का सूचक अवश्य हो सकती है।

लेकिन रैन्सम इन दोनों के मत से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि सिर्फ इसलिए कि किसी कविता में परस्पर-विरोधी तत्त्वों का समावेश किया गया है या उन्हें किसी संवेगात्मक अनुभूति का अंग बना दिया गया है कि जिसमें वहाँ वे एक 'तनाव' की सृष्टि करें और ऐसा करने से उनमें संगति बैठ गई है या उनका विरोध मिट गया है, वह इसे मानने को तैयार नहीं। रैन्सम का कहना है कि

अगर विरोध मिट गया है, तो विरोध का यह अवसान तर्कमूलक है और जहा यह अवसान सभव नही हो सका है वहा हम पाते हैं कि उस कविता म सरचना (structure) की इकाई नहीं है।

रैन्सम ने कविता की बुनावट (texture) और सरचना (गठन) म भेद किया है। बुनावट का कविता के ब्योरे से सबध है और सरचना वह तर्कसगति है जो उसे 'रूप' देने का कार्य करती है। इन दोनो के विरोध से कविता में विशेषत्व आता है। सरचना पूरी कविता के भिन्न भिन्न तत्त्वो मे जो उसकी बुनावट के अग अर्थात् उसके ब्योरे हैं, अपनी तर्कमूलक विशेषता के कारण योगसूत्र स्थापित कर उन्हे रूप प्रदान करती है। सरचना की इस तर्कमूलक प्रक्रिया म कविता की बुनावट बाधा उपस्थित करती है अर्थात् कविता के ब्योरो को तकमूलक एक-सूत्रता प्रदान करने की सरचना म निहित प्रक्रिया को जैसे ब्योरो की असगतियो (अप्रासगिकताओ) स बाधा पहुचती है और इसी बाधा के कारण कविता एक विशेषता प्राप्त करती है।

मैक्स ईस्टमैन का मत है कि कलात्मक कृति का कार्य हमारी चेतना को दीप्त करना है और उसके अनुसार यह कार्य वह बाधा (obstructions) के सहारे सम्पन्न करती है। कलाकार हमारे भीतर एक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है और फिर उसे बाधित करता है। बाधा की सृष्टि करने का फल यह होता है कि हमारी चेतना दीप्तिमान हो उठती है। ईस्टमैन का कहना है कि रूपक आदि अलकार, सुदर विशेषण अर्थ को धुधला बनाते हैं। मानचित्र आदि बनाकर जैसे किसी चीज को स्पष्ट किया जाता है, ठीक वैसा स्पष्टीकरण रूपक आदि अलकारो से नही होता। मानचित्र आदि व्यावहारिक है और अलकार आदि अव्यावहारिक। लेकिन चूकि वे अव्यावहारिक हैं इसीलिए वे जैसे अनुभूतियो को सम्पन्न बनाकर हमे ग्रहण कराने मे सफल होते हैं।

टी० एस० इलियट

कवि और आलोचक की दृष्टि से इलियट का महत्व आधुनिक साहित्य में सर्वमान्य कहा जा सकता है। कम से कम अमेरिका और इंग्लैंड में तथा अंग्रेजी साहित्य के अध्येता और विद्यार्थियों के ऊपर उसका बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। पिछले चालीस-पचास वर्षों के समसामयिक साहित्य पर उसके इस प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है। वह जितना बड़ा आलोचक था उतना ही बड़ा कवि था। अंग्रेजी आलोचना के क्षेत्र में जैसे उसने एक नया युग ला दिया। साहित्य सम्बन्धी महत्व के प्रश्नों पर उसने नये सिरे से सोचने को बाध्य किया। उसने तुलनामूलक अध्ययन प्रस्तुत किया, व्याख्याएँ कीं, लेकिन इन सबका उपयोग उसने विश्लेषण और मूल्यांकन में किया।

टामस स्टियर्न इलियट का जन्म २६ सितम्बर, सन् १८८८ ई० में हुआ और मृत्यु ४ जनवरी, सन् १९६५ ई० में हुई। मिसौरी (अमेरिका) राज्य के सेंट लुई नामक स्थान में उसका जन्म हुआ, लेकिन सन् १९२७ ई० में वह ब्रिटेन का नागरिक हो गया। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में उसने शिक्षा पाई। उसके अध्यापकों में इर्विंग बैबिट तथा जार्ज सन्तायन जैसे विचारक और आलोचक थे। बाद में इलियट ने बैबिट को अधूरे आलोचकों में गण्य किया। बैबिट को वह नैतिकतावादी कहता है। उसका कहना है कि बैबिट ने साहित्य की आलोचना को कोई और वस्तु समझकर गड़बड़झाला कर दिया है। मैथ्यू आर्नल्ड से इलियट बहुत प्रभावित था, लेकिन उसका कहना है कि बैबिट की तरह वह भी भटक गया है तथा वह 'आलोचक हो सकता था'।

इलियट ने कविताएँ, नाटक, निबन्ध और आलोचनाएँ आदि लिखी हैं। उसके निबन्धों में साहित्य, दर्शन, राजनीति, धर्म आदि की चर्चा की गई है। उसके काव्य-ग्रन्थों में 'दि वेस्टलैंड,' 'दि हॉलोमैन,' 'ऐश वेडनेसडे,' 'कलेक्टेड पोएम्स,' 'फोर क्वार्टेट्स' सुप्रसिद्ध एवं बहुचर्चित हैं। 'दि सेलेक्टेड एसेज,' 'ऑन पोएट्री एण्ड पोएट्स,' 'पोएट्री एण्ड ड्रामा,' 'दि सेक्रेड वुड,' 'दि यूज ऑफ पोएट्री एण्ड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' आदि उसकी समीक्षात्मक कृतियाँ हैं। 'मर्डर इन दि कैथिड्रल,' 'दि फैमिली रियूनियन,' 'दि काकटेल पार्टी' आदि सुप्रसिद्ध नाटक हैं।

इलियट को सन् १९४८ ई० में नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। इन विविध रचनाओं से उसकी मौलिकता और व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। वास्तव में उसकी शिक्षा ने उसे उदार दृष्टि प्रदान की थी। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के बाद इलियट पेरिस गया और फिर ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की। दर्शन, धर्म तथा इस प्रकार के नाना विषयों का उसने अध्ययन किया। कहा जाता है कि संस्कृत, पाली का भी उसने अध्ययन किया था और इसके लिए वह सन् १९१५ ई० में जर्मनी भी गया था।

एफ० एच० ब्रैडले का वह प्रशंसक था, वैसे टी० ई० ह्यूम (T E Hulme) का उस पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। एजरा पाउन्ड के साथ उसकी मित्रता प्रसिद्ध है। आलोचना सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण पर पाउंड और रिचार्ड्स के साहचर्य का प्रभाव देखने को मिलता है। ह्यूम परम्परावादी था। दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण उसने सुचिंतित ढंग से साहित्य और परम्परा सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किए हैं। ह्यूम ने स्वच्छन्दतावाद (romanticism) का रूसो के सिद्धान्त से सम्बन्ध जोड़ा है जिसमें कहा गया है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है और उसमें जो बुराई दीखती है उसके मूल में खराब नियम-कानून तथा रीति-रस्म हैं जिन्होंने उसे दबा रखा है। ह्यूम स्वाभाविक धार्मिक दृष्टिभंगी के साथ क्लासिकल दृष्टिभंगी का साम्य बतलाता है। क्लासिकल दृष्टिभंगी मनुष्य की सीमाओं को तो स्वीकार करती है लेकिन नियम और परम्पराओं से अनुशासित होने के कारण उसे शालीन और संयत मानती है। स्वच्छन्दतावादी, मनुष्य के भीतर असीम संभावनाओं की बात को स्वीकार करते हैं। ह्यूम सनातनपंथी विचार को स्वीकार करने की सलाह देता है लेकिन इन नैतिक और धार्मिक विचारों को इसलिए स्वीकार करने की सलाह नहीं देता कि वे साहित्य में उपदेशात्मक सिद्धान्तों के आधार बनें। ह्यूम नैतिकता और धार्मिकता को काव्य-रचना के सिद्धान्तों से अलग करके देखता है। धार्मिकता में असीम का जो स्थान है ह्यूम के अनुसार काव्य में उसे वह स्थान देना उचित नहीं। नैतिकता और धार्मिकता से भले ही काव्य को सपोषण मिले लेकिन उन्हें उसका वाहन या साधन नहीं बनाया जा सकता। ह्यूम के विचारों के साथ इलियट के विचारों का बहुत अधिक साम्य है, यद्यपि वे दोनों कभी मिले नहीं थे। प्रथम विश्व-महायुद्ध के पहले लंदन में ह्यूम और पाउन्ड का साथ रहा। ह्यूम सन् १९१७ ई० में युद्ध में मारा गया। ह्यूम की पुस्तक 'स्पेकुलेशन्स' सन् १९२४ ई० में प्रथम प्रकाशित हुई और उस पुस्तक का गहरा प्रभाव तत्कालीन साहित्यिकों पर पड़ा। इलियट ने कहा है कि संस्कृति में धर्म का बहुत महत्त्व का योग रहता है और साहित्य इस तथ्य को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दे सकता। इलियट के इस विचार में ह्यूम का पूरा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार काव्य की संरचना

(गठन) की विलक्षणताओं, जैसे बिम्ब और उसके स्पष्ट प्रभाव आदि के सम्बन्ध में भी इलियट पर ह्यूम का प्रभाव देखने को मिलता है। ह्यूम बिंबों को केवल काव्य का अलंकरण नहीं मानता बल्कि अंतःप्रज्ञात्मक (intuitive) भाषा का सारतत्त्व मानता है। कवि का कर्तव्य वह वैयक्तिक अभिव्यक्ति नहीं मानता बल्कि शिल्पविधान मानता है।

इलियट ने कला की निर्वैयक्तिकता पर बल दिया है। वह कवि पर ध्यान न देकर कविता पर ध्यान केन्द्रित करता है। वह कलाकृति को अपने-आप में महत्त्व का स्थान देता है। कलाकृति को वह जैव (organic) मानता है। कला की स्वयं की अपनी जैविक सत्ता है। उसका स्वयं का अपना एक जीवन है। कलाकृति के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध उसकी समीक्षात्मक छानबीन के लिए अत्यन्त महत्त्व के हैं। ये सम्बन्ध अपने-आप में उलझने वाले हैं। अपनी पुस्तक 'दि सेक्रेड वुड' की भूमिका (सन् १९२८ ई०) में इलियट ने इस पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि कुछ अर्थों में यह कहा जा सकता है कि कविता का अपना एक अलग स्वतन्त्र जीवन है। उसके विभिन्न अंग ठीक उस प्रकार के नहीं होते जैसा कि किसी जीवन-चरित में कुशलता और सफाई से सजाए हुए आँकड़े होते हैं। कविता में जिस संवेदना (feeling) अथवा संवेग (emotion) या दृष्टि (vision) के दर्शन होते हैं वे कवि के मन की संवेदना अथवा संवेग या दृष्टि से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार अपने निबन्ध 'ट्रैडिशन एण्ड दि इनडिविजुअल टैलन्ट' में इलियट ने कहा है कि कला का संवेग निर्वैयक्तिक होता है और कवि उस निर्वैयक्तिकता तक तब तक नहीं पहुँच पाता जब तक वह पूर्ण रूप से अपने आपको उसके प्रति, जिसे उसे करना है, समर्पित न कर दे। किसी भी क्षण में कवि चाहे जो कुछ भी हो उसे अपने-आपको एक बड़ी चीज के लिए पूर्ण रूप से देना पड़ता है। इसे एक प्रकार का आत्म बलिदान कह सकते हैं, और इस आत्म-बलिदान की प्रक्रिया क्षण-क्षण चल रही है। कवि जैसे प्रत्येक क्षण अपने व्यक्तित्व को विसर्जित करता जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में काम करने-वाले के समान यह निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया कवियों और कलाकारों पर भी लागू होती है। इसी निबन्ध में उसने कवि के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए कहा है कि कवि को व्यक्तित्व को अभिव्यक्त नहीं करना है बल्कि एक विशेष माध्यम को, जो मात्र माध्यम है, व्यक्तित्व नहीं और जिसमें प्रभाव (impressions) और अनुभूतियाँ विचित्र और अप्रत्याशित भाव से मिलकर एक हो जाती हैं। जो प्रभाव और अनुभूतियाँ व्यक्ति के लिए महत्त्व की हैं वे कविता में स्थान नहीं पा सकतीं और जो प्रभाव और अनुभूतियाँ कविता के लिए महत्त्व की हैं वे व्यक्ति (व्यक्तित्व) के लिए नगण्य हो सकती हैं। अतएव इलियट की दृष्टि में कविता संवेगों का मुक्त होना नहीं है बल्कि संवेगों से मुक्ति पाना है। कविता व्यक्तित्व

की अभिव्यंजना नहीं है बल्कि व्यक्तित्व से छुटकारा पाना है।

कविता के साथ कवि का क्या सम्बन्ध है, इसकी चर्चा करते हुए इलियट ने कहा है कि कलाकार की प्रगति उसके निरन्तर आत्मत्याग में है, निरन्तर व्यक्तित्व के विलोप में है। कहा जा सकता है कि इसी निर्वैयक्तीकरण में कला विज्ञान की अवस्था के निकट पहुँचती है। विज्ञान की एक प्रक्रिया का उदाहरण देकर इलियट ने अपनी बात समझानी चाही है। उसका कहना है कि जब ऑक्सीजन और सलफर डाई-ऑक्साइड गैस एक पात्र में बन्द हो और उसमें प्लैटिनम के सूक्ष्म तार का अल्प अंश प्रविष्ट करा दिया जाय तो उससे सलफ्यूरिक एसिड तैयार हो जायगी। यह रासायनिक क्रिया तभी सम्पन्न होती है जब पात्र में प्लैटिनम मौजूद हो, लेकिन जो रासायनिक पदार्थ तैयार हुआ उसमें प्लैटिनम का नाम-गंध तक नहीं रहता और स्वयं प्लैटिनम अपरिवर्तित रहता है। प्लैटिनम निष्क्रिय और तटस्थ रहता है। इलियट के अनुसार कवि का मन भी उसी प्लैटिनम के सूक्ष्म तार की तरह है। सर्जनात्मक मन मनुष्य के स्वयं के अनुभवों को अंशतः या पूर्ण रूप से प्रभावित कर सकता है, लेकिन कलाकार जितना ही निपुण होगा उतना ही भोक्ता मनुष्य और स्रष्टा मन पूर्णतया एक-दूसरे से अलग होंगे और मन उतनी ही पूर्णता से आवेगों को, जो काव्य के उपकरण हैं, पचाकर तथा उनमें रूपान्तर कर अपने काम में लाएगा। इलियट के अनुसार कवि का मन वास्तव में एक पात्र या आधान है जिसमें असंख्य संवेदनाएँ, वाक्यांश और बिम्ब पकड़ में आकर संचित होते हैं और तब तक वहाँ बने रहते हैं जब तक वे सभी कण, जिनके मिश्रण से एक नया रासायनिक पदार्थ तैयार होता है, इकट्ठे न हो जायँ। संवेगों की तीव्रता या उनकी 'महत्ता' काव्य के लिए महत्त्व की नहीं है बल्कि कलात्मक प्रक्रिया या उसके दबाव की तीव्रता महत्त्व की है जिसके द्वारा यह विलयन या संयोजन सम्पन्न होता है।

इलियट के कवि और कविता के सम्बन्ध में ऐसे विचारों को ग्रहण करने में बहुत-से आलोचकों ने अपने को असमर्थ बताया है। उनके अनुसार इलियट ने कवियों को एक स्वचालित यन्त्र की कोटि में रख दिया है जो एक प्रकार की निर्बुद्धिता के साथ बेसुध अपनी कविता उगलते हैं। विवास (Vivas) का कहना है कि जिन तत्त्वों से काव्य-वस्तु निर्मित होती है उनमें कुछ का तो सहज भाव से उसी प्रकार के शब्दों से निर्देश किया जा सकता है जिस प्रकार से संवेगों (emotions) का। विवास के अनुसार कविता में अन्य सब-कुछ को केवल इसीलिए स्थान नहीं मिलता कि वे किसी संवेग को उद्दीपित करें अथवा उस संवेग के संकेत के रूप में आएँ। रूपात्मक या भावात्मक तत्त्व या वे तत्त्व, जिनका पतन से सम्बन्ध है, अपने-आप में महत्त्व के हैं। वे अपने निजी वैशिष्ट्य को लिए हुए कविता में आते हैं। और यदि यह सही है कि जिन संवेगों की अभि-

व्यंजना कविता में होती है वे भी महत्त्व के हैं, फिर भी केवल वे ही महत्त्व के हैं या उन्हें ही केवल महत्त्व का माना जाना चाहिए यह ठीक नहीं। वैसे यह समझना अनुचित होगा कि इलियट की दृष्टि से कवि का मुख्य काम कुछ निश्चित और सुस्पष्ट विषयवस्तु, चाहे वह कोई भाव हो या संवेग, पाठकों के समक्ष रख देना है और उसकी सफलता उसी पर निर्भर करती है। इलियट के विचारों को समझने के लिए थोड़ी सावधानी आवश्यक है। उसने ऐसे बहुत-से शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें स्पष्ट समझने के लिए संदर्भों को ध्यान में रखना जरूरी है। बहुत बार उसने पहले के विचारों की भिन्न रूप में व्याख्या की है अथवा उसमें मत-परिवर्तन भी किया है।

कवि और कविता सम्बन्धी उसके उपर्युक्त मत में अपनी असहमति प्रकट करते हुए इवोर विन्टर्स (Yvor Winters) ने कहा है कि कवि को स्वचालित यन्त्र बना देना कविता के लिए दुर्भाग्य की बात होगी। विन्टर्स के अनुसार कलात्मक प्रक्रिया मानव अनुभूतियों का नैतिक मूल्यांकन है। कवि अपनी अनुभूतियों को विवेकपूर्वक समझने का प्रयास करता है और उसे अपनी रचना में उपस्थित करता है, लेकिन उसके साथ ही साथ शब्दों के द्वारा वह उन संवेगों का भी संकेत करता है जो उस 'विवेकपूर्वक समझने के प्रयास' से अनुप्रेरित होते हैं। इसलिए विन्टर्स के अनुसार कवि का अपनी रचना पर पूर्ण नियंत्रण रहना चाहिए। इलियट ने एक स्थल पर कहा है कि वह इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि कला अपने से परे किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन बन सकती है, लेकिन कला के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे उस उद्देश्य की जानकारी हो। अंग्रेजी के 'मेटाफिजिकल पोएट्स' के संदर्भ में इलियट ने कहा है कि वे मन और संवेदना की अवस्थाओं के अनुरूप शब्दों के खोजने का प्रयास करते थे। विन्टर्स का कहना है कि कवि के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उस तरह के शब्दों की खोज का प्रयास करे जो मनोदशा और संवेदना की अवस्थाओं के अनुरूप हैं बल्कि उसे यह निश्चित रूप से जानना चाहिए कि वह क्या कह रहा है। विन्टर्स का कहना है कि फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के समान कवि का यह कहना व्यर्थ है कि घोड़े की गर्दन पर उसने लगाम डाल दी है और अब चाहे वह जहाँ ले जाय। विन्टर्स के अनुसार कवि का काम मनोदशा और संवेदना की अवस्थाओं की परख करना है और उनका मूल्य आँकना है।

विन्टर्स ने कविता की संरचना (structure) को लेकर भी कई प्रश्न उठाए हैं। उसका कहना है कि तर्कसंगत संरचना ही कविता में संवेगों को नियंत्रित करती है इसलिए वह आज के कवियों के इस मत से सहमत नहीं कि वह एक अस्तव्यस्त, विशृंखल युग का चित्रण कर रहा है, इसलिए उसकी कविता के रूप-विधान में अस्तव्यस्तता और बेढंगापन आ जाना स्वाभाविक है। विन्टर्स का

कहना है कि अगर इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि कविता का रूप विधान उसके उपकरणों के अधीन है और उन्ही से उसका नियमण हो रहा है, अर्थात् कविता की सरचना सवेगो से नियन्त्रित हो रही है। आज का कवि शायद ही इसे स्वीकार करे। विन्टर्स को इलियट से इस बात की शिकायत है कि बहुत बार वह युग की असगतियो-विसगतियो को प्रतिबिम्बित कर सतोष कर लेता है। अपनी अनुभूतियो पर अधिकार करने और उनकी परख करने और मूल्य आंकने के बदले यह मात्र उनका प्रतिरूप उपस्थित करके रह जाता है। वैसे यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विन्टर्स इस बात की अपेक्षा नही रखता कि कविता साफ-साफ स्पष्ट रूप से तर्कसगति की दृष्टि म रखकर व्यवस्थित हो। वह इतना ही यथेष्ट मानता है कि उसम व्यवस्था अविवक्षित एव अपरवश रूप मे वर्तमान है।

कविता की निर्वैयक्तिकता के सम्बन्ध मे इलियट के 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' (अर्थात् आवेग के साथ सपक्ति वस्तु) के सिद्धान्त ने लोगो का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया। वैसे इलियट ने यह सोचा भी नही था कि इसको इतना महत्व दिया जाने लगेगा। इलियट ने सन् १९५६ ई० मे इसके सम्बन्ध मे कहा है कि यह उक्ति इसी प्रकार की अन्य उक्तियो मे से एक है जिसने इतनी प्रसिद्धि पा ली है जितनी कि उसे मिलनी नही चाहिए थी। सच्ची बात यह है कि इस उक्ति की चर्चा ही बहुत हुई है लेकिन व्यवहार मे यह कम ही लाई गई है। फ्रासीसी प्रतीकवादियो के प्रभाव से इलियट तथा ह्यूम (Hulme) और पाउन्ड कविता सम्बन्धी इस सिद्धान्त की ओर आकृष्ट हुए थे। प्रतीकवादियो का कहना था कि कविता सवेगो को सीधे अभिव्यक्त नही कर सकती। सवेगो को केवल उभाडा जा सकता है। बोदलेयर का कहना था कि प्रत्येक वर्ण, गध और शब्द तथा सवेग जिसन एक धारणा का रूप ले लिया है, उसकी तथा प्रत्येक चाक्षुष बिम्ब की अनुरूपता दूसरे-दूसरे क्षेत्रो मे पाई जा सकती है। अतएव प्रतीकवादियो ने बहुत से सुझाव दिए कि किस प्रकार सवेगो को उभाडा जा सकता है।

कवि अपने सवेगो अथवा भावो को सीधे पाठको तक नही पहुचा सकता इसलिए कुछ मध्यवर्ती ऐसा होना चाहिए जिससे यह सभव हो सके। इलियट ने अपने निबध 'हैमलेट एण्ड हिज प्राब्लेम्स' (सन् १९१९ ई०) मे बतलाया है कि कलात्मक रूप मे सवेगो को अभिव्यक्त करने का एकमात्र उपाय उनके साथ सपर्कित वस्तु (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) को खोज निकालना है—दूसरे शब्दो मे वस्तुओ के एक समूह, एक परिस्थिति, घटनाओ की एक शृ खला को खोज निकालना है जो उन विशेष सवेगो के फार्मूला या सूत्र होंगे। यह कुछ इस प्रकार से होगा कि इन्द्रियानुभूति मे समाप्त होने वाले ये बाहरी तथ्य जब उपस्थित होगे

तो तत्काल संवेग उद्दीपित होंगे। इस प्रकार से कवि जो कुछ कहना चाहता है उसका बाहरी तथ्यों के रूप में चित्रण किया जा सकता है और इन्हीं तथ्यों के सहारे पाठक उन संवेगों तक पहुंच सकता है। इन्हीं के सहारे हम यह समझ सकते हैं कि कवि क्या कहना चाहता है। इलियट आदि ने स्वच्छन्दतावादी तथा विक्टोरियन युग के कवियों की अस्पष्टता के प्रति अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की जिससे फलस्वरूप इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। आधुनिक युग के कवियों ने ठोस और स्पष्ट को अधिक अपनाया।

बहुत-से आलोचकों ने ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव के सिद्धान्त को असन्तोष-जनक बतलाया। जैसे विन्टर्स ने संकेत किया है कि यह सिद्धान्त साहित्यिक रचना में संवेगों को प्राथमिकता और प्रधानता देता है। विन्टर्स बुद्धिवादी था। उसकी दृष्टि में संवेगों को प्राथमिकता देने की बात युक्तियुक्त नहीं। विवास (Vivas) का कहना है कि इस सिद्धान्त के द्वारा यह व्याख्या करने का प्रयास किया गया है कि कविता किस प्रकार कवि के संवेगों को अभिव्यक्त करती है। उसकी दृष्टि में यह एक ऐसे मनोविज्ञान का सहारा लेता है जिसे असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। साहित्य के एक सिद्धान्त के रूप में वह इसे त्रुटिपूर्ण मानता है। रेने वेलेक इसे कलाकृति की प्रतीकात्मक संरचना (गठन) मात्र मानने को तैयार है। विवास का कहना है कि इलियट का अभिप्राय यह मालूम होता है कि संवेगों और संवेदनाओं के वस्तुपरक चित्रण द्वारा ही कविता की सृष्टि हो सकती है लेकिन विवास इससे अपनी असहमति प्रकट करता है। उसका यह भी कहना है कि ठोस और स्पष्ट वस्तुओं के सहारे कवि अपने को अभिव्यक्त करेगा और ठीक अपने संवेगों के अनुरूप पाठक में संवेग उत्पन्न करेगा, यह मानना कठिन है।

आधुनिक काल में इलियट ने ही ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव की चर्चा शुरू की। इसका इतना अधिक प्रचार हुआ है कि साधारणत लोगों के मन में यह धारणा बन गई है कि इस सिद्धान्त का प्रवर्तक इलियट ही है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। विन्टर्स का कहना है कि पो ने इसका उल्लेख किया है। विन्टर्स का अनुमान है कि सम्भवत पो से भी पहले इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पाउन्ड ने 'दि स्पिरिट ऑफ रोमान्स' (सन् १९१० ई०) में कविता को एक प्रकार से अनुप्रेरित गणित कहा है जो मनुष्य के संवेगों के समीकरण (equations) उपस्थित करती है जिस प्रकार से गणित में त्रिभुज आदि के समीकरण होते हैं। प्राज़ (Praz) का अनुमान है कि इसी से इलियट को अपने सिद्धान्त की प्रेरणा मिली। रेने वेलेक ने दिखलाया है कि वाशिंगटन आलस्टन ने अपने 'लेक्चर्स आन आर्ट' (सन् १८५० ई०) में मन और बाह्य जगत् के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का प्रयोग किया है। सन्तायन ने 'पोएट्री और रिलिजन' (सन् १९०० ई०) में कहा है कि कवि की कलासंवेगों से संपर्कित बहुत

दूर तक बिखरी हुई वस्तुओं को एकत्र कर सवेगो को उद्दीपित करती है।

सन् १९१७ ई० से लेकर सन् १९२२ ई० तक इलियट ने कवि और कविता के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से बहुत कुछ लिखा है और यह स्पष्ट करना चाहा है कि काव्य-सर्जन के पीछे कौन-सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्रियाशील रहती है। अभी तक उसके विचारो से परिचय पाने का हम प्रयत्न करते रहे हैं। यहा पर सक्षेप मे उसके विचारो को कुछ शब्दो मे यो समझा जा सकता है। इलियट के अनुसार जब कवि सर्जन म सलग्न रहता है तब उसका उद्देश्य यह होता है कि अनजाने जो अनुभव उसके मन में संचित हैं और जो अज्ञात रूप से उसके भीतर उत्तेजना की सृष्टि करते रहे हैं अपने उसी मन की अत्यन्त जटिल कुछ भाव-ग्रन्थियो को वह अभिव्यक्ति दे। अगर वह ऐसा करने मे सफल होता है तो उसकी कविता एक प्रकार से निर्वैयक्तिक होगी। उसम यह देखा जा सकता है कि उसके अनुभवो ने उसके भीतर कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न की है, उन्हें अपने भीतर लिए हुए कवि कैसा अनुभव करता है। स्पष्ट ही यहा कवि के भाव प्रधान नही होगे। उस कविता म उसकी प्रतिक्रिया अर्थात् उसे कैसा महसूस हो रहा है यही प्रधान होगा। इलियट उस कविता को इसलिए निर्वैयक्तिक कहना चाहता है कि वह वास्तव म उसके जीवन की किसी विशेष परिस्थिति से उत्पन्न सीधी सवेगात्मक प्रतिक्रिया नही है। अतएव उस कविता के मूल्याकन का आधार भाव नही होंगे बल्कि उसकी प्रतिक्रिया का रूपायन होगा। कवि को कैसा अनुभव हो रहा है इसे ही वह रूप देता है और यही 'रूप' उसकी कविता के मूल्याकन का आधार होगा। लेकिन इलियट यह भी स्पष्ट करना चाहता है कि इसका अर्थ यह नही है कि कविता मे बुद्धि के लिए कोई स्थान नही है। वास्तव मे कवि के लिए इलियट यह आवश्यक मानता है कि उसमे अधिक से अधिक बुद्धि का विकास होना चाहिए, व्यापक रूप से शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र मे उसका प्रवेश होना चाहिए। इसके साथ ही अगर वह सवेदनशील हुआ तो नाना प्रकार के विचारो, भावों और अनुभूतियो को ग्रहण करने म समर्थ होगा। कवि के लिए यह भी उपादेय है कि वह किसी निरवच्छिन्न, सुसगत सास्कृतिक परम्परा को विरासत मे पाए हुए है। इतना सब होने पर ही भावो और अनुभूतियो को वह सवेगात्मकता के साथ आत्मसात् कर सकेगा और वे उसकी कविता के समुचित उपकरण हो सकेंगे। कवि को अपनी कविता मे इस बात का प्रयास करना पड़ता है कि विरोधी तत्त्वो मे वह एक प्रकार का सामजस्य स्थापित करे। इलियट की दृष्टि म कवि में ऐसी योग्यता होनी चाहिए कि वह हल्कापन और गम्भीरता मे सन्तुलन ला सके। उसे इस बात का विवेक होना चाहिए कि अनुभूतियो की अपनी एक सीमा होती है। उसकी अनुभूतियाँ एक सीमा मे बधी हुई हैं, ऐसी समझ के कारण उसके स्वर मे सन्तुलन और एक प्रकार की प्रौढता आती है।

इलियट के इन विचारों की छानबीन बड़ी गहराई के साथ हुई है। आलोचकों ने उसके इन विचारों से असहमति प्रकट की है। बाद में चलकर स्वयं इलियट अपनी कविताओं में इन विचारों से बँधा नहीं रहा। 'दान्ते' (सन् १९२९) तथा 'पोएट्री एण्ड प्रोपेगेन्डा' (सन् १९३०) जैसी आलोचनात्मक रचनाओं में इलियट ने कवि और उसके विश्वासों आदि की ओर अधिक ध्यान दिया है। उसके उपर्युक्त विचारों के विरोध में मुख्य रूप से यह कहा गया है कि इलियट ने संभवतः कविता सम्बन्धी मनुष्य के कारबार के साथ उसके अन्य क्रिया-कलापों के अन्तर को अत्यन्त ऐकान्तिक मान लिया है और दोनों को सम्पूर्ण रूप से अलग स्वीकार कर लिया है। इलियट की इस बात को भी मानने में लोगों को संकोच है कि भाव या विचार निश्चित रूप से निर्वैयक्तिक होते हैं। इलियट के आलोचकों की दृष्टि में भाव या विचार गतिशील होते हैं। उन्हें वे इलियट की तरह स्थितिशील बना देने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी दृष्टि में भाव या विचार को व्यक्तिनिष्ठ ही माना जाना चाहिए। भाव या विचार हमारे भीतर आकर या रहकर हमारे संवेगों में कुछ न कुछ हेरफेर करते ही हैं। इस दृष्टि से भी इलियट की बात को आलोचकगण पूर्णतया स्वीकार नहीं कर पाते। आलोचकों का यह भी कहना है कि जिस प्रकार से इलियट ने कवि की चेतना को इन्द्रियग्राह्य बनाने पर बल दिया है उसका अर्थ यह हो जायगा कि कवि को वह यह अवसर नहीं देना चाहता कि नैतिकता और धार्मिकता के परिप्रेक्ष्य में वह अपनी कविता पर दृष्टि डाले या उसके संस्कार या संशोधन की बात सोचे। इन आलोचकों का कहना है कि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि साधारणतः मनुष्य की चेतना में नैतिकता और धार्मिकता एक महत्त्व की भूमिका अदा करते हैं।

इलियट ने कहा है कि कविता में लय और संगीतात्मक गठन होता है। कविता में जो संगीत है उसका बोलचाल की भाषा के संगीत के साथ बहुत बड़ा संबंध होता है। समय बीतने के साथ कविता की भाषा में ताजगी नहीं रह जाती, वह रूढ़िग्रस्त हो जाती है। उसका बोलचाल की भाषा के साथ संबंध नहीं रह जाता। इलियट तथा उसके समकालीन कवियों और आलोचकों ने फिर से कविता को समसामयिक काव्य-भाषा के निकट ला दिया है। इलियट का कहना है कि उसका या उसके जैसे विचार रखने वालों का उद्देश्य यह नहीं है कि कवि समसामयिक काव्य-भाषा के नाम पर अपनी, अपने परिवार की, अपने मित्रों की अथवा अपने विशेष अंचल की बोलचाल की भाषा को ज्यों का त्यों उतार दे। किन्तु उसे उसकी काव्य-भाषा वहीं मिलेगी। इलियट का कहना है कि कवि को मूर्तिकार के समान अपने माध्यम के प्रति निष्ठावान होना चाहिए। वह जिन ध्वनियों और आवाजों को सुनता है उन्हीं से उसे अपनी कविता में स्वर माधुर्य

और सामंजस्य लाना चाहिए। इलियट ने शब्दों में संगीत की भी चर्चा की है। शब्दों का यह संगीत उनके तुरन्त पहले और तुरन्त बाद में आए हुए शब्दों और फिर सन्दर्भ के अवशेष अंशों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जैसे उन सबों के मिलन-स्थल पर इस संगीत का अस्तित्व है। इसी प्रकार सन्दर्भों में निहित अर्थों के साथ इन शब्दों के अर्थों का जो सम्बन्ध है उसमें भी कविता का यह संगीत वर्तमान रहता है। इस प्रकार से कवि के लिए यह आवश्यक है कि समसामयिक जीवन्त भाषा से अपने लिए शब्द, लय और गठन संग्रह करे। शब्दों, उनके अर्थ, उनकी संयोजकता सबको बड़े आयासपूर्वक कवि को आयत्त करना पड़ेगा।

कविता और नाटक के सम्बन्ध में भी इलियट ने इस संगीतात्मक गठन का उल्लेख किया है। उसका कहना है कि गद्य में नाटक लिखने वाले इब्सन और चेखव जैसे महान् नाटककार हैं, जिन्होंने कुछ ऐसा कर दिखाया है कि इलियट के लिए विश्वास करना संभव नहीं होता कि गद्य में भी ऐसा कुछ किया जा सकता है। इतना होने पर भी इलियट यह अनुभव करता है कि गद्य में लिखने के कारण उनकी अभिव्यंजना को बाधा पड़ी है। अपनी अत्यन्त तीव्रता के क्षण में संवेदना की अभिव्यक्ति नाट्य-कविता द्वारा संभव है। ऐसे क्षणों में संवेदना की उस सीमा तक हम पहुँच जाते हैं जिसे सिर्फ संगीत ही अभिव्यक्ति दे सकता है। लेकिन संगीत का उदाहरण कविता अपने समक्ष नहीं रख सकती क्योंकि उस अवस्था में कविता का अस्तित्व ही नहीं रह जायगा।

इलियट ने कला में संवेगों के निर्वैयक्तिक होने की बात कही है और संकेत किया है कि यह तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार निर्वैयक्तिकता की स्थिति लाने के लिए उस कार्य के प्रति, जो उसे करना है, अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर दे। इलियट का कहना है कि रचनाकार तब तक यह नहीं जान सकता कि उसे क्या करना है जब तक वह केवल वर्तमान के प्रति ही नहीं बल्कि वर्तमान क्षण में भूतकाल के प्रति भी जागरूक न रहे अर्थात् भूतकाल को प्रत्यक्ष करने के साथ ही साथ यह भी न भूले कि वह अतीत हो चुका है। ऐतिहासिकता के प्रति उसे सचेतन होना चाहिए। भूतकाल की रचनाएँ वर्तमान में भी जी रही हैं। कवि को इसका बोध होना चाहिए कि पुरानी परम्पराएँ उसमें जीवित हैं और उन्हें उसे वर्तमान के सन्दर्भ में देखना चाहिए। इसे ही इलियट ने Present moment of the past (अतीत का वर्तमान क्षण) कहा है। इलियट यह भी मानता है कि वर्तमान और अतीत के बीच अन्योन्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्थितिशील मानना उसकी दृष्टि में उचित नहीं। उसके अनुसार सचमुच में कैसी नवीन साहित्यिक कृति पुरातन कीर्तिस्तम्भ द्वारा लाई गई व्यवस्था में परिवर्तन ला देती है। इस तरह के लचीलेपन और परिवर्तनशीलता के समावेश को अगर स्वीकार नहीं किया जाय तो निश्चित रूप से परम्परावाद किए-कराए

पर पानी फेर देनेवाला सिद्ध होगा। टी० एस० इलियट का निबन्ध 'ट्रेडिशन एण्ड दि इनडिविजुअल टेलेन्ट' सन् १६१७ ई० में प्रकाशित हुआ था। उस समय कविता के क्षेत्र में नये-नये परीक्षण चरम सीमा तक पहुच गए थे। इलियट के इस निबन्ध का तथा ह्यूम आदि के परम्परावाद सम्बन्धी विचारों का उस काल के कवियों तथा आलोचकों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

बाद में चलकर इलियट ने अपने निबन्ध 'दि फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज्म' में परम्परा के सम्बन्ध में अपने पहले के प्रकट किए हुए विचारों की चर्चा की है। उसका कहना है कि परम्परा का बोध रचनाकार में होना चाहिए। परम्परा के बोध से उसका तात्पर्य रचना और आलोचना की व्यवस्था से है। इलियट का कहना है कि जब वह परम्परा की चर्चा कर रहा था तब उसके मन में व्यापक रूप से साहित्य की बात थी। वह विश्व-साहित्य, यूरोपीय साहित्य अथवा किसी देश-विशेष के साहित्य को व्यक्तियों की रचनाओं का समूह नहीं मानता बल्कि उन्हें 'जैविक सम्पूर्णता' (organic wholes) मानता है। उन्हें वह एक प्रणाली मानता है जिसके परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की रचनाएँ अथवा विशेष कृतियाँ अपना अर्थ रखती हैं। इसका मतलब यह है कि रचनाकार के बाहर ऐसा कुछ है जिसकी वश्यता वह स्वीकार करता है। उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति रख आत्मत्याग कर ही वह अपना विशिष्ट स्थान बना पाता है। समान विरासत और समान उद्देश्य जाने या अनजाने रचनाकारों में ऐक्य स्थापित करते हैं। वैसे यह ऐक्य अनजाने ही स्थापित होता है। इस प्रकार से अनजाने अपने-आपको समर्पित कर देना प्रथम श्रेणी के कलाकारों के लिए ही सम्भव है। जिसे बहुत कुछ देना है वही अपने आपको अपने कार्य में भूल पाता है। वही कुछ दे सकता है, सहयोग कर सकता है अथवा विनिमय कर सकता है। दूसरी श्रेणी के कलाकार छोटी छोटी बातों में ही उलझे रहते हैं। साधारण भेदों को ही वे अपना वैशिष्ट्य मानते हैं।

आलोचक और आलोचना के सम्बन्ध में भी विस्तार के साथ अपने निबन्ध 'दि फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज्म' में इलियट ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। आलोचना का उद्देश्य वह कलाकृतियों का स्पष्टीकरण और रुचि का परिष्कार मानता है। वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि आलोचना को सर्जन की अपेक्षा है अथवा सर्जन को आलोचना की अपेक्षा है। वह यह भी मानने को तैयार नहीं कि आलोचना और सर्जन के अलग-अलग युग होते हैं जैसा कि बहुत लोगों की धारणा है कि बौद्धिक अन्धकार में डुबकी लगाकर ही हम आध्यात्मिक प्रकाश का संधान पा सकेंगे। संवेदना (sensibility) की ये दोनों दिशाएँ—सर्जन और आलोचना एक दूसरे की पूरक हैं। संवेदना वाञ्छनीय होने पर भी सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर होती है, अतएव कम स्थलों पर ही वह देखी जा सकती है, इसलिए संभावना इस बात की ही रहती है कि कवि और आलोचक साधारणत

एक ही व्यक्ति हो।

आलोचक से वह इस बात की अपेक्षा रखता है कि अगर एक स्वस्थ, अच्छी परम्परा वर्तमान हो तो उसे कायम रखे। आलोचक के लिए वह यह आवश्यक मानता है कि वह धीर स्थिर दृष्टि वाला हो और साहित्य को उसकी सम्पूर्णता में देखे। यह देखने का अर्थ वह यह नहीं मानता कि आलोचक उन्हीं कृतियों को केवल विशिष्ट माने जो समय के लम्बे व्यवधान के कारण प्रतिष्ठित मानी या समझी जाती हैं। जिस प्रकार वह समकालीन विशिष्ट साहित्य पर दृष्टि रखता है, उसी प्रकार समान भाव से वह पचीस सौ वर्ष पहले की कृतियों पर दृष्टि रखे। दोनों पर विचार करने की दृष्टि में किसी प्रकार के विभेद को वह उचित नहीं मानता। आलोचक का यह भी कर्तव्य है कि तुकबन्दी करने वाले की वह सहायता करे जिससे कि वह अपनी सीमा से अवगत हो।

इलियट की दृष्टि में निश्वास-प्रश्वास के समान आलोचना भी अपरिहार्य है। अगर हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं और उसे पढ़ते समय जैसा भी हम अनुभव करते हैं उसे शब्दों में प्रकट करें तो अच्छा ही रहेगा। ऐसा करते समय हम देखेंगे कि जिस कवि की हम प्रशंसा कर रहे हैं उसकी रचना में हम कुछ ऐसा पा रहे हैं जिसके तुल्य हमें अन्य कवियों में नहीं मिल रहा है। वैसी हालत में हमारे मन में होता है कि वह उस कवि की अपनी विशेषता है। हम उसके तत्काल पहले के कवियों से उसकी तुलना करते हैं और अपने प्रिय कवि की रचनाओं में कुछ ऐसी ही विशेष बात अलग कर लेते हैं और उसका आस्वादन करते हैं। इलियट कहता है कि अगर इस पूर्वाग्रह को छोड़कर हम किसी कवि की रचना को पढ़ें तो पाएंगे कि केवल उत्कृष्ट अंश ही नहीं बल्कि वे अंश भी जिन्हें हम उसकी विशिष्टता माने बैठे हैं, वैसा उसके पहले के कवियों ने बड़ी उत्तमता के साथ प्रस्तुत किया है। फिर भी इलियट इस बात को पसन्द नहीं करता कि परम्परा उसे ही कहेंगे जिसमें पहले के कवियों की रचनाओं, उनकी रीतियों को अन्ध-भाव से आने वाली पीढ़ी मानकर चले। अगर इसे ही परम्परा कहा जाय तो वह इसे त्याग देने की सलाह देता है। पुनरावृत्ति की अपेक्षा वह नवीनता को ग्रहण करने की बात पसन्द करता है। उसका कहना है कि परम्परा इससे कहीं व्यापक अर्थ रखती है। यह उत्तराधिकार के रूप में नहीं पाई जा सकती और अगर हम इसे पाना चाहें तो इसके लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। इलियट का कहना है कि सबसे पहले तो कवि में ऐतिहासिकता का बोध होना जरूरी है और पचीस वर्ष से अधिक की उम्र के बाद भी अगर वह कविता लिखना चाहता है तब तो यह अत्यधिक जरूरी है। ऐतिहासिक बोध हम बाध्य करता है कि जब हम लिखें तो केवल हमारी ही पीढ़ी हमारे सामने नहीं रहे बल्कि होमर से लेकर आज तक यूरोप का तथा स्वयं उसके देश का साहित्य साथ-साथ उसके भीतर बने रहें और उसके भीतर व्यवस्था

लाए। यह ऐतिहासिक बोध जिसमें कालकी अनन्तता और उसकी अल्पकालिकता दोनों साथ बनी रहती हैं किसी रचनाकार को परम्परावादी बनाता है। यह ऐतिहासिक बोध उसके भीतर एक ऐसी तीव्र चेतना ला देता है कि वह अनन्त काल और अपनी समकालीनता के परिप्रेक्ष्य में यह समझ पाता है कि उसका स्थान कहाँ है। कोई भी कवि अथवा कलाकार अकेले निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर अपना अर्थ खो बैठता है। अतीत के कवियों और कलाकारों को दृष्टि में रखने पर ही उनका मूल्यांकन और उनका ठीक-ठीक अर्थ समझा जा सकता है। अतीत के कवियों और कलाकारों से उनकी तुलना करके ही उनको ठीक से समझा जा सकता है। इलियट इसे कला के मूल्यांकन का सिद्धांत कहता है। इसे वह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना नहीं मानता।

इलियट ने कविता के सम्बन्ध में समय-समय पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे काव्य-सम्बन्धी किसी सुनिश्चित सिद्धांत का निर्धारण करना कठिन है। लगता है कि जिस प्रकार की कविता वह स्वयं लिखने की सोच रहा था प्रकारान्तर से उन्हीं की वकालत करते हुए वे विचार उसने प्रकट किए थे। वैसे यह भी सही है कि भले ही उसके कुछ निष्कर्ष विवादास्पद हैं, फिर भी आधुनिक काव्यशास्त्र के अधिकांश महत्त्व के प्रश्नों पर उसने विचार प्रकट किए हैं और उन पर सोचने के लिए लोगों को बाध्य किया है। इलियटकी आलोचना सम्बन्धी रचनाओं को पढ़ते समय पूरी सतर्कता और सावधानी की आवश्यकता है। उसकी पारिभाषिक शब्दावली कभी-कभी अस्पष्ट-सी हो गई है। ऐसा भी हुआ है कि पहले के अपने प्रकट किए हुए किसी मत में बाद में चलकर उसने स्वयं परिवर्तन किया है। कभी-कभी यह भी समझ में नहीं आता कि जो कुछ वह कह रहा है वह विश्लेषणात्मक है या प्रभाववादी (impressionistic)। फिर यह भी होता है कि इस प्रकार से वह जो कुछ कह रहा है वह अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कह रहा है या सभी कवियों की रचनाओं के सम्बन्ध में अथवा कुछ ही कवियों की रचनाओं के सम्बन्ध में।

के लिए मिला करता था। पढ़ाई के अंतिम वर्ष में एम्पसन ने गणित छोड़कर साहित्य को अपने अध्ययन का विषय चुना। रिचार्ड्‌स उसके निर्देशक (Director of Studies) हुए। रिचार्ड्‌स ने लिखा है कि उन्होंने पाया कि एम्पसन ने उनसे कहीं अधिक अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन किया है। उन्हें लगा कि हाल ही में एम्पसन ने यह सब-कुछ पढ़ा है और उनमें कहीं अच्छी तरह से पढ़ा है और शीघ्र ही अब यह स्थिति आने वाली है कि गुरु शिष्य का और शिष्य गुरु का स्थान ले लेंगे। तीसरी बार जब एम्पसन रिचार्ड्‌स से मिलने आया तब अपने साथ एक सॉनेट लेता आया और उसकी कई व्याख्याएँ रिचार्ड्‌स के सामने प्रस्तुत कीं। यह सॉनेट शेक्सपियर लिखित 'दि एक्सपेन्स ऑफ स्पिरिट इन ए वेस्ट ऑफ शेम' (The Expense of Spirit in a Waste of Shame) था जिसकी अनेकार्थता पर राबर्ट ग्रेव्स तथा लौरा राइडिंग ने प्रकाश डाला था। उन्हीं लोगों से एम्पसन को यह प्रेरणा मिली थी। उसने रिचार्ड्‌स से कहा कि ऐसा किसी भी कविता के साथ किया जा सकता है और उसने प्रस्ताव किया कि क्या वे ऐसा करके देखना नहीं चाहेंगे? रिचार्ड्‌स का कहना है कि उसके लिए जो निर्देशक (डायरेक्टर ऑफ स्टडीज) था यह प्रसंग ईश्वरीय वरदान जैसा था। उन्होंने एम्पसन से कहा कि वह जाकर ऐसा कर लाए। एक सप्ताह के बाद भी एम्पसन इस कार्य को लेकर अपनी टाइप करने वाली मशीन से जूझता रहा। रिचार्ड्‌स उसे उत्साहित करते रहे। दूसरे सप्ताह टाइप किए हुए कागज़ों का एक मोटा-सा पुलिन्दा लेकर एम्पसन आया। रिचार्ड्‌स का कहना है कि बाद में प्रकाशित होने वाली एम्पसन की पुस्तक के ये लगभग तीस हज़ार शब्द थे। यह पुस्तक एम्पसन की 'सेवन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी' (Seven Types of Ambiguity) थी जिसका प्रकाशन सन् १९३० ई० में हुआ। इस घटना से रिचार्ड्‌स के उदार हृदय और विद्यानुराग का परिचय मिलता है। रिचार्ड्‌स का जन्म सन् १८९३ ई० में हुआ।

रिचार्ड्‌स की प्रथम पुस्तक 'दि फाउन्डेशन ऑफ इस्थेटिक्स' सन् १९२२ ई० में प्रकाशित हुई। सी० के० आग्डेन और जेम्स वुड के साथ मिलकर यह पुस्तक लिखी गई थी। आग्डेन के साथ उसने दूसरी पुस्तक 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' लिखी जो सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुई। 'दि लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' सन् १९२४ ई० में तथा 'साइन्स एण्ड पोएट्री' सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुईं। रिचार्ड्‌स की अन्य पुस्तकें 'दि प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म' (सन् १९२९ ई०), 'कालरिज आन इमेजिनेशन' (सन् १९३४ ई०), 'मेन्सियस ऑफ दी माइण्ड (सन् १९३२ ई०), 'दि फिलासफी ऑफ रेटरिक' (सन् १९३६ ई०) आदि हैं।

रिचार्ड्‌स कविता पर मनोविज्ञान और शब्दार्थ-विज्ञान की दृष्टि से विचार करता है। 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म' तथा 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म'

इन दोनों पुस्तकों में रिचार्ड्स ने जिन काव्यात्मक मूल्यों का निर्धारण किया है उनका आधार मुख्य रूप से पाठक के मनोवेग हैं। पाठकों में उत्पन्न संवेगात्मक अवस्था (emotional state) और जिन साधनों से वे उत्पन्न होते हैं, दोनों के अन्तर को रिचार्ड्स ने शुरू से ही अपने ध्यान में रखा है। इस अन्तर को ध्यान में रखकर ही उसने मूल्य (विषयवस्तु) और सम्प्रेषण (रूप-विधान पर आधारित) को अलग-अलग रखकर विचार किया है और इसी प्रकार उसने महत्त्वहीन अनुभवों के सम्प्रेषण तथा महत्त्व के अनुभवों के त्रुटिपूर्ण सम्प्रेषण से उत्पन्न दो प्रकार के दोषों को भी अलग-अलग रखकर विचार किया है। इस तरह से अन्तर करने के मूल में रिचार्ड्स की उस दृष्टि का हाथ है जिससे वह कविता का विवेचन, उद्दीपन, उत्तेजना (stimulus) और प्रतिक्रिया (response) को ध्यान में रखकर करना चाहता है। पाठक के मनोवेग को मनोवैज्ञानिक और दैहिक क्रिया मानकर उसने अपने मत का प्रतिपादन किया है। उसका कहना है कि मनुष्य दैनंदिन जीवन में अपने भीतर संगति और सामंजस्य बनाए रखने के लिए क्रियाशीलता को प्रेरित करने वाले मनोवेगों के अधिकांश भाग को दबा रखता है। उसका कहना है कि कविता पढ़ते समय मनोवेग उद्दीप्त हो उठते हैं और यह उद्दीपन सामान्य से अधिक होता है। रिचार्ड्स के अनुसार उनका समंजस साधन कुछ इस प्रकार से सम्पन्न होता है कि उन्हें दबा रखने की आवश्यकता नहीं होती और पाठक पर उसका प्रभाव तीव्र और संतुलित होता है। यह संतुलन पाठक में तत्काल सम्पन्न होता है और इसी से पाठक के व्यवस्थित जीवन के भाव के रूप में यह प्रभाव परिलक्षित होता है। कवि और पाठक के बीच सम्प्रेषण एक सेतु का काम करता है। सर्जन के समय कवि के मनोवेगों और उसके मन की अवस्था के साथ अगर पाठक के मनोवेगों के साथ साम्य न हो तो सम्प्रेषण संभव नहीं। रिचार्ड्स का कहना है कि यह निश्चित है कि मात्र प्रेषण की संभावनाओं के सुचिन्तित अध्ययन तथा संप्रेषण की इच्छा चाहे वह जितनी तीव्र क्यों न हो कभी भी पर्याप्त नहीं होंगे जब तक कि कवि के मनोवेगों के साथ पाठक के मनोवेगों का स्वाभाविक रूप से साम्य न हो। जिन्हें अत्यन्त सफल संप्रेषण कहा जाएगा उनमें यह साम्य वर्तमान रहता है और इसका स्थान कोई भी योजना नहीं ले सकती। सुविवेचित, जान-बूझकर किए हुए संप्रेषण का प्रयास भी उतना सफल नहीं हो सकता जितना कि अचेतन अप्रत्यक्ष ढंग से हो सकता है।

रिचार्ड्स के इस मत से बहुत-से आलोचक सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि रिचार्ड्स के मत में अनिष्पादित दोष है। उनका यह भी कहना है कि व्यावहारिक रूप से इस मत का उपयोग आलोचना में संभव नहीं। यह भी कहा जाता है कि रिचार्ड्स ने काव्य के रूप-विधान को अपनी आँखों से ओझल कर दिया है। लगता है कि दूसरी कलाओं के रूप विधान से इसके अन्तर को समुचित रूप

से स्पष्ट नहीं किया गया है। यह भी कहा गया है कि विशेष परिस्थिति में मनोवेगों का ठीक-ठीक वैज्ञानिक रीति से लेखा-जोखा अथवा स्पष्टीकरण का कोई उपाय नहीं। यह भी संकेत किया गया है कि ऊपर-ऊपर से देखने पर रिचार्ड्स का कथन भले ही युक्तिसंगत लगे लेकिन सम्प्रेषण का दोषपूर्ण होना और महत्त्वहीन अनुभवों का सम्प्रेषण इन दोनों का भेद करना वास्तव में संभव नहीं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि किसी विशेष कविता में मूल्यों को समुचित ढंग से उद्घाटित नहीं किया जा सका है। रिचार्ड्स का कहना है कि उसने पाठक में उत्पन्न संवेगात्मक अवस्था और उसे उत्पन्न करने के साधन पर इसलिए बल दिया है कि लोग साधन को ही साध्य न समझ लें, तकनीक को ही मूल्य न मान बैठें। लेकिन रिचार्ड्स के लिए यह कठिनाई और भी प्रबल रूप से उठ खड़ी होती है जब वह कविता के जैव सिद्धान्त (organic theory) को मानने का संकेत करता है। जैव सिद्धान्त में अंग-प्रत्यंग का महत्त्व है। जीवधारी के शरीर में एक अंग का दूसरे से संबंध है। उसमें किसको साधन कहा जाएगा और किसको साध्य? हृदय के बिना मस्तिष्क और मस्तिष्क के बिना हृदय अगर हो तो शरीर के अस्तित्व की कल्पना कठिन है। हृदय का संचालन, उसकी क्रियाशीलता और मस्तिष्क का संचालन परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं। इनमें किसी को साधन और किसी को साध्य कहकर अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता, अतएव जीवधारी के अस्तित्व अर्थात् उसके अवयवों और संपूर्ण शरीर के संबंध को ध्यान में रखकर इस बात पर विचार किया जाना चाहिए।

शब्द ही वे उपकरण हैं जिनसे अर्थ या रूप-विधान की उपलब्धि होती है। किसी कविता में शब्दों के घात-प्रतिघात, भाषागत गठन, कविता के भीतर के भाषागत ढाँचों का पारस्परिक संबंध, अक्षरार्थ, शब्दों की आलंकारिक और प्रतीकात्मक अभिव्यंजना, शब्दों द्वारा बिंबों की सृष्टि आदि का आज के विश्लेषणवादी आलोचक गहरे में जाकर अध्ययन करते हैं। रिचार्ड्स उन आलोचकों में है जिन्होंने कविता के अध्ययन की इस दिशा की ओर ध्यान आकृष्ट किया। रिचार्ड्स ने कविता में अर्थ की समस्या पर प्रकाश डालकर इस तरह के अध्ययन की प्रेरणा दी। रिचार्ड्स काव्यात्मक भाषा पर समग्र दृष्टि से विचार करना चाहता है। वह काव्य की सर्जन-क्रिया को अन्य क्रियाओं से भिन्न मानने के पक्ष में नहीं है।

रिचार्ड्स ने भाषा के व्यवहार के दो पक्ष बताए हैं - (१) वैज्ञानिक, (२) रागात्मक। निर्देश या संकेत करने के लिए किसी वक्तव्य का उपयोग हो सकता है। वह संकेत गलत हो या सही। यह भाषा का वैज्ञानिक ढंग से उपयोग है। लेकिन भाषा का प्रयोग किसी वक्तव्य में इस प्रकार से भी हो सकता है कि उससे हमारे संवेगों का उद्दीपन हो या उससे हमारे मनोभाव में किसी प्रकार का

परिवर्तन हो सकता है जो हमारे आचार-व्यवहार या रख मे प्रकट होता है। भाषा का यह रागात्मक या संवेगात्मक पक्ष है। रिचार्ड्स विज्ञानसम्मत कथन को वक्तव्य कहता है और कविता के वक्तव्य को वह 'वक्तव्याभास' या 'छद्म वक्तव्य' (pseudo statement) कहता है। वैज्ञानिक और रागात्मक भाषा के प्रयोग मे हमारी मानसिक प्रक्रिया एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हो जाती है, वैसे उधर हमारा ध्यान नही जाता। वैज्ञानिक वक्तव्य मे अगर निर्देश या सकेत मे थोडी-सी त्रुटि रह गई तो भाषा की वहाँ असफलता मानी जायगी। रागात्मक भाषा म ऐसी बात नहीं होती। इसके द्वारा जो सकेत किया जाता है उसका अभीप्सित परिणाम अगर निकले तो इससे कुछ आता जाता नही कि जिसका सकेत किया गया है वह सटीक या निश्चित नही है अथवा अस्पष्ट रह गया है। वैज्ञानिक भाषा के गठन का आधार उसकी तर्कसंगति है, लेकिन संवेगात्मक भाषा मे यह कोई जरूरी नहीं कि यह हो ही। कभी-कभी तो उसकी तर्कसगति बाधा की भी सृष्टि करती है। सवेगात्मक भाषा की अपनी अलग की तर्कसगति होती है। सवेगो का पारस्परिक सबध उसके अतर्विधान का आधार होता है जो तर्क-सगत हो भी सकता है, नही भी हो सकता। रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'दि मिनिंग ऑफ मीनिंग' मे बतलाया है कि शब्द चिह्न या प्रतीक होते हैं और किसी वस्तु का सकेत या निर्देश करते हैं। शब्दो के सकेत या निर्देश करने की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सकेत (reference) और सकेतित (referent) का साम्य कहाँ तक चित्रित हुआ है। रिचार्ड्स ने कहा है कि शब्द किसी विशेष सदर्भ मे सम्मिलित रूप से क्रियाशील होते हैं। रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'साइन्स एण्ड पोएट्री' (सन् १९२६ ई०) मे बल देकर कहा है कि भाषा म ज्ञान (knowledge) तभी आता है जबकि उसके वक्तव्यों की प्रामाणिकता सामान्य (सार्वजनिक) रूप से सिद्ध की जा सके। कविता मे व्यक्त बहुत-सी उक्तियाँ ऐसी नही होती। वास्तव म वे सवेगो की अभिव्यक्ति हैं अर्थात् कविता निर्देशात्मक नही होती इसलिए बौद्धिक दृष्टि से विज्ञान की अपेक्षा कविता को सम्मान स्थान नही दिया जाता। मैक्स ईस्टमैन ने अपनी रचना 'दि लिटररी माइन्ड' (सन् १९३१ ई०) और जान क्रो रैन्सम (John Crowe Ransom) ने कविता और विज्ञान सबधी उपर्युक्त विचार से मतभेद प्रकट किया है। उनका कहना है कि विज्ञान वास्तव मे विशुद्ध ज्ञान की खोज मे नही रहता। उसका उद्देश्य उपयोगिता को ध्यान मे रखकर सबधो की जानकारी प्राप्त करना है। वैज्ञानिक जगत् के ये सबध मानव जाति के काम मे आ सकते हैं। वस्तुओ के स्पष्ट और ठोस (concrete) विशेषत्व का दीप्तिमान् और निरुद्देश्य बोध तथा उसे शब्दों म रूपायित करने की आकाक्षा से कविता का प्रादुर्भाव होता है। रिचार्ड्स ने बतलाया है कि कविता के पढने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वह अत्यन्त

जटिल होती है। कविता का पढ़ना वास्तव में संवेगों का सम्यक् रूप से नियोजित करना तथा सामंजस्य स्थापित करना है। ऐसे रिचार्ड्स संवेगों से ध्यान हटाकर मनोवृत्ति (attitudes) की बात करता है। कविता पाठक की मनोवृत्ति को नियोजित करती है जिससे कि वह जीवन में परिपूर्णता और उन्मुक्तता का अनुभव करे। सम्यक् रूप से मनोवृत्ति का संयोजन रिचार्ड्स के अनुसार संवेगात्मक भाषा द्वारा सम्भव होता है। इस भाषा को वह निर्देश करने वाली भाषा से भिन्न मानता है।

अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में रिचार्ड्स ने 'अर्थ' के सिद्धान्त पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। उसने इस बात पर पूरा बल दिया है कि कविता का अर्थ निरपेक्ष नहीं होता और ऐसा भी नहीं है कि उसकी अन्तिम व्याख्या कर दी जाए। रिचार्ड्स के अनुसार 'अर्थ' नित्य नवीन रूप में प्रकट होते हैं। पाठक अपने ढंग से भिन्न-भिन्न अर्थ निकालते हैं। कविता के निर्देशात्मक होने की बात रिचार्ड्स ने बहुत पहले कही थी, बाद में चलकर इस समस्या पर नये सिरे से विचार करने के लिए वह स्वयं अग्रसर हुआ। अपनी रचना 'कालरिज ऑन इमेजिनेशन' (सन् १९३४ ई०) में उसने कान्ट के मत का सहारा लिया है। कान्ट के अनुसार प्रत्येक मनुष्य बहुत-सी मिली-जुली प्रेरणाएँ और उद्दीपन करने वाली संवेदनाएँ ग्रहण करता है। इन मिली-जुली संवेदनाओं और प्रेरणाओं के भीतर से वह अपने लिए वास्तविकता (यथार्थ) की सृष्टि करता है। कान्ट का यह भी कहना है कि केवल इतना ही नहीं, मनुष्य के नित्यनैमित्तिक जीवन के अनुभव भी उसके मन के गढ़े हुए होते हैं। अतएव रिचार्ड्स का कहना है कि उन वस्तुओं के संयोजन (योग) से कवि जो सृष्टि करता है तात्विक दृष्टि से देखने पर वह सृष्टि उन्हीं वस्तुओं में से घटाकर वैज्ञानिकों द्वारा गढ़ी हुई वस्तु से कम वास्तव (यथार्थ) नहीं होती। दोनों भिन्न जाति की नहीं हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कवि की क्रिया जोड़ने की और वैज्ञानिक की घटाने की होती है।

'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में रिचार्ड्स ने संकेत किया है कि अर्थ चार बातों पर निर्भर करता है। ये चार हैं भाव अथवा तात्पर्य (sense), संवेदना (feeling), स्वर की भंगिमा (tone) तथा उद्देश्य (intention)। स्वभावतः काव्य-भाषा में संवेदना का प्राधान्य रहता है। 'अर्थ' की चर्चा करते हुए रिचार्ड्स ने बतलाया है कि शब्दों का अर्थ संदर्भ-सापेक्ष है। शब्द किसी संदर्भ में आकर अर्थ प्रदान करते हैं। पूरे संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में शब्दों में अर्थवत्ता आती है और पूरे संदर्भ को वे अर्थवान बनाते हैं। संदर्भ के अलावा उसमें आए हुए शब्द परस्पर एक-दूसरे को अर्थ की गरिमा से मंडित करते हैं। रिचार्ड्स की दृष्टि में किसी कविता या साहित्यिक रचना में कुछ अंश को उसका प्रधान वक्तव्य और उसके अलावा अन्य सब-कुछ को गौण मानना या यह समझना कि वे अलंकरण

के लिए आए हैं, गलत है। सभी प्रकार के आन्तरिक घात-प्रतिघात और क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं 'अर्थ' में निहित हैं। उन सबको ध्यान में रखकर ही 'अर्थ' तक पहुँचा जा सकता है। किसी रचना में प्रयुक्त शब्द गतिशील होते हैं। उन्हें अलग-अलग विशेष अर्थ में बांध रखना उचित नहीं, अर्थात् यह मानना कि किसी विशेष शब्द का उस रचना में एकमात्र वही अर्थ है, रिचार्ड्स की दृष्टि में उचित नहीं। लेखक की तरह पाठक भी अपने ढंग से प्रयत्न करता हुआ 'अर्थ' तक पहुँचता है। रिचार्ड्स की दृष्टि में 'मेटाफर' (रूपक) केवल तुलनामूलक अलंकार ही नहीं है, उसमें बहुत-से संदर्भ सन्निविष्ट हैं। हम अन्यत्र भी रिचार्ड्स के अर्थ संबंधी सिद्धान्त पर प्रकाश डाल चुके हैं।

अर्थ संबंधी अपने पहले के सिद्धान्त में रिचार्ड्स ने बाद में संशोधन-परिवर्तन किया है। रिचार्ड्स ने पहले कहा था कि कविता में शब्दों के संवेग उनके तात्पर्य से अलग, स्वतंत्र होते हैं, अथवा उसने पहले भाषा के दो पक्ष निर्देशात्मक, सांकेतिक (referential) तथा रागात्मक (emotive) बतलाए थे। अपनी पुस्तक 'फिलासफी ऑफ रेटरिक' (सन १६३६ ई०) में जैसे इस अन्तर को वह भूल गया है। उसने अपनी इस पुस्तक में कहा है कि पुराने आलंकारिक द्वयार्थकता अनेकार्थता (ambiguity) को भाषा का दोष मानते थे और इस बात के लिए सचेष्ट थे कि चाहे तो इसे दूर ही कर दिया जाए अथवा इसे सीमित कर दिया जाए। आधुनिक अलंकारशास्त्र का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। रिचार्ड्स कहता है कि यह भाषा की शक्ति का सुनिश्चित परिणाम है और काव्य में इसके बिना बहुत-सी महत्त्व की उक्तियां संभव नहीं हो सकती। भाषा में शब्दों की अनेकार्थता उसके व्यवहार करने वालों पर निर्भर करती है। वह भाषा को सामाजिक तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों का वाहक मानता है। संदर्भ अगर स्थिर तथा स्थितिशील हों तो अर्थ भी स्थितिशील होंगे। कृत्रिम उपायों से भी संदर्भों को स्थितिशील बनाया जा सकता है। वैज्ञानिक शब्दावली परम्परा द्वारा सीमित तथा रूढ़िगत हो जाती है। लेकिन विज्ञान के बाहर यह संभव नहीं। विज्ञान के बाहर साधारण बोलचाल की भाषा में भी अर्थ बदलते रहते हैं। अगर ऐसा न हो तो भाषा में बारीकी और लचीलापन नहीं रह जाएगा और उस हालत में भाषा हमारे बहुत काम की नहीं साबित होगी। रिचार्ड्स ने छन्दों और लयात्मकता को भी अर्थ के परिप्रेक्ष्य में देखा है। छन्द और लय अर्थ को प्रभावित करते हैं और स्वयं अर्थ से प्रभावित होते हैं। छन्द और लय में स्वर का प्राधान्य रहने पर भी उन्हें अर्थ से अलग रखकर देखना उचित नहीं होगा। कविता के केवल छन्द और लय पर विचार करना और अर्थ की ओर दृष्टि न रखना कविता पर हल्के भाव से विचार करना कहलाएगा।

एरिस्टाटल ने कहा है कि कविता में इतिहास से अधिक मूल्यवान 'सत्य'

वर्तमान रहता है। रिचार्ड्स का कहना है कि कविता में किसी सत्य का निर्देश नहीं रहता और जब कविता के संबंध में सत्य की बात कही जाती है तब उस 'सत्य' का अर्थ उसकी 'आभ्यन्तरिक आवश्यकता' (internal necessity) या उस काव्यात्मक कृति के औचित्य की ओर संकेत करना होता है। वैज्ञानिक सत्य या प्रकृति में पाए जाने वाले यथार्थ के साथ साम्य होता है, लेकिन काव्य का 'सत्य' आभ्यन्तरिक संगति से सम्बद्ध है। अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म' में रिचार्ड्स ने कहा है कि अधिकांश काव्य में जितनी उक्तियाँ हैं उनकी सत्यता की जाँच करने का प्रयास करने वाला मूर्ख ही होगा। वे ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं जिनकी प्रामाणिकता की जाँच की जाए। जीवन के तथ्यों को, जो गलत हों, या सही हों तर्क के आधार पर जाँचा जा सकता है, लेकिन कविता में अधिकांश निर्दिष्ट वस्तुओं के संयोजन का आधार तार्किकता नहीं है। और सही बात यह है कि कविता में कोई चीज पाठक को खटकने वाली न लगे और उसमें कोई ऐसी वस्तु मिल भी जाए जो तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे तो उससे कविता का कुछ आता जाता नहीं। और सचमुच में किसी कविता में सत्य का चित्रण तर्कसंगत हो भी तो रिचार्ड्स की दृष्टि में उसे कविता का गुण नहीं कहेंगे जब तक कि उस कविता में कविता के गुण न हों।

आलोचक और आलोचना की चर्चा करते हुए रिचार्ड्स ने कहा है कि आलोचक का कर्तव्य मूल्यों की पड़ताल और निर्धारण है। उसने आलोचक के तीन गुण बतलाए हैं। उसमें पहला गुण तो यह होना चाहिए कि वह सनकी होकर तरंग में बहने वाला न हो बल्कि उसके अनुभवों में उसकी सूक्ष्मता का प्रमाण मिलना चाहिए। जिस कलाकृति का वह विवेचन कर रहा है उसके साथ उसके मन की अवस्था का मेल खाना चाहिए। कलाकृति और उसके मन की अवस्था असम्बद्ध हो तो उसका विवेचन उपयुक्त नहीं होगा। रिचार्ड्स ने आलोचक का दूसरा गुण यह बतलाया है कि उसमें ऐसी योग्यता होनी चाहिए कि विभिन्न अनुभूतियों के वास्तविक अन्तर को ठीक-ठीक समझ सके और उनके ऊपर-ऊपर की वस्तु में ही उलझा न रह जाए। और तीसरा गुण उसमें यह होना चाहिए कि मूल्यों की जाँच बहुत गहराई में जाकर कर सके। रिचार्ड्स ने केवल सिद्धान्तों का उल्लेख करही सन्तोष नहीं कर लिया है। उन्होंने विस्तार में जाकर इन सभी बातों पर विचार किया है। उन्होंने स्वयं बतलाया है कि अपनी पुस्तक 'दि प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म ए स्टडी ऑफ लिटररी जजमेन्ट' लिखने में उनका क्या उद्देश्य रहा है। रिचार्ड्स ने लिखा है कि इस पुस्तक के लिखते समय उनके मन में तीन बातें थीं। पहली बात तो यह उनके मन में थी कि समकालीन संस्कृति संबंधी उन कुछ नई बातों को वे लिपिबद्ध कर दें कि आलोचक, दार्शनिक, अध्यापक मनोविज्ञान में रुचि रखने वाले अथवा अन्य जिज्ञासु व्यक्ति उनका

फायदा उठा सकें। उनके मन में दूसरी बात यह थी कि लोगों को एक नई तकनीक से वे परिचय करा दें जिसमें वे लोग अगर उनकी रुचि हो तो स्वयं इस बात का ज्ञान प्राप्त कर सकें कि वे कविता के बारे में या उससे सबधित अन्य विषयों के संबंध में क्या सोचते या अनुभव करते हैं और क्यों उसे उनको पसन्द या नापसन्द करना चाहिए। तीसरी बात उनके मन में यह थी कि इसके अध्यापन का एक समुचित ढंग से मार्ग-प्रदर्शन हो जाए जिसमें कि हम जो कुछ पढ़ते या सुनते हैं उसे समझने का और उस पर समुचित ढंग से विचार करने का विवेक हमें प्राप्त हो जाए।

रिचार्ड्स ने काव्य के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन को आलोचना की प्रक्रिया के तीन आवश्यक अंग बतलाए। उन्होंने विश्लेषण के लिए भाषा और मनोविज्ञान का आधार बनाया। आई० ए० रिचार्ड्स ने विश्लेषण में अत्यन्त व्यापक दृष्टि रखी। इसका फल यह हुआ है कि उनका विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टि-सपन्न हो गया है। जहाँ तक मूल्यों का प्रश्न है, रिचार्ड्स ने इसका आधार पाठक की प्रतिक्रिया को बनाया है। आलोचना के क्षेत्र में रिचार्ड्स ने एक नई दृष्टि दी है। व्यावहारिक आलोचना का प्रारंभ रिचार्ड्स से ही हुआ। नए-नए प्रश्नों की ओर दृष्टि आकर्षित कर उनका समाधान भी रिचार्ड्स ने प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में रिचार्ड्स का गहरा प्रभाव पड़ा है।

कलाकृतियों के मूल्यांकन का प्रश्न

कलाकृतियों अर्थात् स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य का मूल्यांकन पाश्चात्य विचारकों और दार्शनिकों के सामने एक बड़ा प्रश्न रहा है। नाना दृष्टिकोणों से इनके मूल्यांकन का प्रयास पाश्चात्य देशों में किया जाता रहा है। यह प्रयास आज भी जारी है और निश्चय ही भविष्य में भी जारी रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त सभी कलाओं की छानबीन के प्रयास एक लम्बे काल से होते रहे हैं, लेकिन उन कलाओं में भी काव्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। काव्य के वैशिष्ट्य को अति प्राचीन काल में स्वीकार किया गया है और उसकी खूबियों को समझने की चेष्टा की गई है। पाश्चात्य देशों में काव्य की समस्या पर व्यापक दृष्टि से बड़ी गहराई में जाकर विचार किया गया है।

जब हम कलाकृति की चर्चा करते हैं तो उसका यह मतलब नहीं होता कि जिन प्राकृतिक दृश्यों या घटनाओं को हम देखते हैं अथवा जिनकी हमें इन्द्रियानुभूति होती है उनका साधारण चित्रण या मात्र वर्णन कलाकृति है। कलाकृतियाँ उन साधारण वस्तुओं में जैसी नहीं होतीं जिन्हें हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं। किसी घटना या प्राकृतिक दृश्य अथवा मनोभाव आदि का साधारण-सा वर्णन कलात्मक नहीं कहा जा सकता। जब हम एक चित्र देखते हैं या गान सुनते हैं अथवा किसी काव्य का पाठ करते हैं, तब हममें से प्रायः सभी मोटे तौर पर उस प्रतिबिम्बित आकृति, रंग, रेखा को देख लेते हैं, सुर, लय को अपने ढंग से सुन-समझ लेते हैं तथा काव्य का पाठ करनेवाले साधारणतः उसमें व्यक्त भावों को कुछ न कुछ समझ लेते हैं। लेकिन हममें से कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस चित्र या संगीत अथवा काव्य में 'और कुछ' देख, सुन या पढ़ पाते हैं अथवा अनुभव करते हैं जो अन्य लोगों के लिए सब समय सम्भव नहीं हो पाता। उनका देखना, सुनना अथवा अनुभव करना अन्य लोगों से भिन्न प्रकार का होता है। 'और कुछ अधिक' के प्रति वे जागरूक होते हैं। 'और कुछ अधिक' के बोध की क्षमता उनमें साधारण लोगों से अधिक होती है। इस 'और कुछ अधिक' के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना कलाकृतियों के अध्ययन में लगे व्यक्तियों के लिए आवश्यक है। जिस दर्शक द्वारा यह अनुभव प्राप्त हुआ इसकी जानकारी के साथ-साथ यह भी

जानना आवश्यक है कि उस अनुभव का कोई औचित्य है या नहीं। दूसरे शब्दों में इसे मूल्यांकन कहा जा सकता है। फिर भी यह जानना आवश्यक है कि उस मूल्यांकन का आधार क्या है। किस कसौटी पर उस मूल्यांकन को जाँचा जा सकता है।

साहित्य की आलोचना की सबसे बड़ी और कठिन समस्या आलोचक के सामने उस समय उपस्थित होती है जब वह आलोचना के आधारभूत मूल्यों की चर्चा करने बैठता है अथवा जब वह उन संवेदनाओं को समझने की चेष्टा करता है जो किसी कलाकृति के अच्छे या बुरे समझे जाने के मूल में हैं। जब वह मूल्यों के जंगल में पहुँचता है तब वह सहज ही समझ जाता है कि उससे बाहर निकलना आसान काम नहीं है। कहीं उसे काँटेदार झाड़ियाँ मिलती हैं, कहीं ऊबड़-खाबड़ जमीन और अगर कहीं कुछ समतल भूमि मिल भी गई तो थोड़ी दूर जाकर वह समाप्त हो जाती है और सामने का पथ अवरुद्ध हो जाता है। सहज रूप में इसे यों कह सकते हैं कि जब वह मूल्यों के निर्धारण में लगता है तब उसे एक-दो नहीं बल्कि बहुत-से प्रतिमानों का सामना करना पड़ता है। वह अपने को भिन्न-भिन्न विचारधाराओं से घिरा हुआ पाता है जिनकी प्रतिक्रियाएँ उसके मन को भिन्न-भिन्न रंगों से रंजित कर देती हैं। अगर वह कोई अटल नियम या विचारधारा अपने सम्मुख पाता तो उसका काम अत्यन्त सहज-सरल हो जाता, लेकिन ऐसा होता नहीं। कोई निरपेक्ष, स्वतन्त्र सिद्धान्त या विचारधारा ऐसी नहीं जिसका सहारा वह ले सके। यहाँ यह समझ लेना ठीक होगा कि जब भी हम मूल्यांकन करने बैठते हैं हमारी वैयक्तिक दृष्टिभंगी वर्तमान रहती है, लेकिन साथ ही अगर हम ध्यान से देखें तो पाएँगे कि किसी भी मूल्यांकन में वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक दोनों ही तत्त्व बने रहते हैं।

कला या साहित्य का मूल्यांकन जब हम करने लगते हैं तब यह बात अपने-आप ही मन में आ जाती है कि कोई कलाकृति या साहित्यिक रचना अन्य किसी कलाकृति या साहित्यिक रचना की अपेक्षा अच्छी है या बुरी है या समान है, अर्थात् जीवन की नानाविध अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में हम उनकी परीक्षा करने लगते हैं। अनुभूतियों की विविधता हम मूल्यांकन के लिए दृष्टि प्रदान करती है। इन अनुभूतियों के द्वारा अथवा इन अनुभूतियों के कारण हमारे भीतर एक रुचि पैदा होती है। यह रुचि व्यक्ति की होती है, समाज की होती है या समस्त मानव-जाति की होती है। इसको और स्पष्ट रूप में यों समझ सकते हैं। कला के किसी विशेष क्षेत्र, जैसे संगीत का ही ले लें। विभिन्न प्रकार के गान सुनकर हम लय, तान अथवा ताल से परिचित होते हैं, उनकी अलग-अलग विशेषताओं को हम जान पाते हैं और साथ ही धीरे-धीरे यह भी समझने की शक्ति हमारे भीतर आ जाती है कि कौन-सा राग बेसुरा अलापा जा रहा है अथवा किसका परिवेशन

उचित ढग से हो रहा है। इसी तरह काव्य, चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य आदि विभिन्न कलाओ की खूबियो से हम जानकारी प्राप्त करते है। इन क्षेत्रो मे हमारे भिन्न-भिन्न अनुभव हमारे सहायक होते है और उन अनुभवो से हमारे भीतर एक प्रकार की रुचि पैदा होती है।

रुचि के सबध मे एक बात हमे यहा समझ लेनी चाहिए कि हमारे भीतर जो रुचि उत्पन्न होती है उससे विभिन्न कलाकृतियो से आनन्द तो हम अवश्य पाते हैं और उनके प्रति हमारा आकर्षण भी बढ जाता है लेकिन हमारे लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि कोई चित्र या कविता हमें क्यो अच्छी लगती है अथवा दो चित्रो मे किसी को उत्कृष्ट और किसी को साधारण क्यो कहते है ? अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि रुचि का होना तथा आनन्द का उठाना तो ठीक है लेकिन इसके अलावा भी एक वस्तु है जिससे यह समझने मे हम समर्थ होते है कि कोई वस्तु हमे क्यो अच्छी लग रही है ? उससे हमे जो आनन्द की उपलब्धि हो रही है उसका कारण क्या है ? इस अन्तर को और भी स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है अगर हम उपन्यासो का उदाहरण लें। हममे से अधिकाश लोग उपन्यास पढते हैं और उससे आनन्द पाते हैं, लेकिन कम ही लोग हैं जो उपन्यासो के पढने से आनन्द उठाने के पश्चात् उनकी बारीकियो की छानबीन मे लगते हैं, जिसे हम अध्ययन करना कह सकते हैं। साधारण ढग से पढकर आनन्द उठा लेने तथा अध्ययन कर गहराइयो मे जाने मे अन्तर है। इस अध्ययन करने को ही हम आलोचना कह सकते हैं।

कलात्मक कृतियो का व्याख्याता न इतिहासज्ञ की तरह कलाकार या साहित्यकार की जन्मतिथि, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का ही ब्योरा बनाता है और न उन विद्वानो की तरह होता है जो किसी कृति के पाठ-निर्धारण मे लगे हुए हैं। पाठ निर्धारण करने वालो की तुलना कुछ लोगो ने उन व्यक्तियो से की है जो किसी धूल, धब्बा आदि पडे हुए चित्रो को परिष्कृत करने मे निपुण होते हैं, वैसे इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि ऐसे व्यक्तियो का अपना एक अलग महत्त्व है। लेकिन इनके परिश्रम का फल कृतियो की कलात्मकता के मूल्याकन मे सहायक नही होता, अर्थात् उनके परिश्रम का यह फल नही होता कि कलात्मक कृतियो की अच्छाई या बुराई की जाच उससे हो सके। ऐसा कहने का अर्थ यह नही है कि उस प्रकार के परिश्रम का मूल्याकन की दृष्टि से कोई मतलब नहीं। कुछ सहायता तो इससे अवश्य होती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि कलाकृतियो के मूल्याकन का प्रतिमान क्या होना चाहिए ? एक ही कृति के सम्बन्ध म नाना प्रकार के विचार प्रकट किए जाते हैं या किए जा सकते हैं। अतएव मूल्याकन का प्रश्न महत्त्व का हो जाता है। कुछ उदाहरण लेकर हम इसे समझने की चेष्टा करें। तुलसी साहित्य को

कोई महत्त्व का कह सकता है। तुलसी की वर्णन-शैली अथवा दोहा-चौपाई वाली शैली की कोई प्रशंसा कर सकता है। अब अगर इसे ही कविता की उत्कृष्टता का मानदंड स्वीकार कर लिया जाय तो कबीर, सूर अथवा आज के कवियों की रचनाओं को कविता नहीं माना जाना चाहिए। स्पष्ट ही यह गलत है। कुछ लोगों ने मूल्यांकन के लिए एक अन्य दिशा की ओर संकेत किया है। वे इस बात की ओर अधिक शक्ति लगाना सार्थक मानते हैं कि कवि जब अपनी रचना में प्रवृत्त था तब वह क्या सोच रहा था, अथवा अपने मन की किस भावना को अभिव्यक्ति देना चाहता था इसकी जानकारी हम प्राप्त होनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस जानकारी से उस रचना की व्याख्या सहज-सरल हो सकती है। मूल्यांकन की तरह व्याख्या के महत्त्व को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हो सकता, लेकिन जिस प्रक्रिया से व्याख्या में सहायता मिलने की बात ऊपर कही गई है उसे मूल्यांकन नहीं कहा जा सकता। यहां एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि कलाकृति रचनाकार के मन की दशा तथा रचना करने की उसकी शक्ति का योगफल नहीं है। मन की दशा का वर्णन एक चीज है और नाटक, काव्य आदि अन्य वस्तु। लेखक के मन की दशा एक अलग चीज है और जिस काव्य या नाटक को उसने लिखा है वह अलग वस्तु है। जैसे कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल जब लिखा होगा उस समय के उनके मन की दशा को नाटक में ढूंढने का प्रयास कुछ उचित नहीं होगा। दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोदशाओं के चित्रण में कालिदास के उस नाटक के प्रणयन के समय की मनोदशा को देखना बहुत काम का नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार आलोचक भी किसी कलाकृति की आलोचना के आधार पर आलोचना के उस क्षण के मन की दशा को समझना व्यर्थ का परिश्रम होगा। आलोचक अपने मन की दशा का वर्णन नहीं करता बल्कि साहित्यकार की कृति का मूल्यांकन करता है।

कुछ लोगों ने कहा है कि मूल्यांकन के आधार के निर्धारण के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि काव्य जीवन की आलोचना है। इस वक्तव्य पर थोड़ा विचार अगर हम करें तो पाएंगे कि वास्तव में इसका अर्थ यह है कि काव्य में जीवन को देखने की एक विशेष दृष्टिभंगी होती है। काव्य किसी 'वस्तु' को रूप देता है। इस रूप में एक विशेष नाम, एक विशेष दृष्टिभंगी निहित है और वह एक विशेष ढांचे में सजाया हुआ है। इसे दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विशेष ढांचे में बांधकर, एक अर्थ से अर्थवान् कर 'वस्तु' को उपस्थित करना काव्य अथवा किसी कलाकृति की विशेषता है। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह ढांचा और वह अर्थ कलाकार या साहित्यकार की विशेष दृष्टिभंगी का परिणाम है। काव्य या कलाकृति में वस्तु विधान और

वक्तव्य-विषय दोनों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि असंख्य प्रकारों में वह एक प्रकार है। केवल मात्र वही प्रकार हो सकता है, या वही पूर्ण है या वही अच्छा है ऐसा कहना स्पष्ट ही गलत है। भिन्न-भिन्न कलाकारों या कवियों की रुचि, संस्कार, व्यक्तित्व तथा कला और परिस्थिति के अनुसार एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप या अर्थ हो सकते हैं। सामाजिक समस्याओं के समाधान में जिस प्रकार से कवियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का परिचय दिया है, उसी प्रकार ताजमहल के सौन्दर्य के वर्णन में भी। अतएव यह सहज ही देखा जा सकता है कि इस प्रकार के असंख्य दृष्टिकोण हो सकते हैं और परिणामस्वरूप एक ही 'वस्तु' के असंख्य रूप। अब काव्य या कलाकृतियों के मूल्यांकन में प्रवृत्त होने का मतलब यह होता है कि उन असंख्य दृष्टिकोणों को समझा जाय और उनका विवेचन-विश्लेषण किया जाय और उनकी विशिष्टताओं से परिचय प्राप्त किया जाय। समस्या यहीं तक नहीं रहती। आलोचकों की भी अपनी-अपनी दृष्टि-भंगी होती है। वह भी अपनी सीमाओं में बँधा रहता है। कोई भी दृष्टिभंगी जो तर्कसंगत हो साहित्य के लिए उपयुक्त मानी जा सकती है और उसे आलोचना कहा जा सकता है अगर वह कलाकृति के किसी भी अंग पर अपने को केन्द्रित रखे। किसी विशेष दृष्टिकोण की उपादेयता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पीछे कितनी साधना है, कितना अध्ययन है तथा विवेचना में कितनी दक्षता है। आलोचक अगर इस प्रकार से शक्ति-सम्पन्न हो तो निश्चय ही उसकी बात प्रभाव डालने वाली होगी, लेकिन इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि आलोचक को अपने को उचित सीमा में निबद्ध रखना पड़ता है। शक्ति-सम्पन्न होने पर भी अगर उसमें अपने को उचित सीमा में निबद्ध रखने की क्षमता न हो तो उसके विचारों का समादर करना कठिन हो जाता है। उचित सीमा की बात जब हम कहते हैं तो उसका मतलब यही है कि आलोचक जो कुछ कहता है वह युक्तिसंगत है अथवा उसमें मात्रा का अतिक्रम नहीं है। आलोचक इस परिधि के भीतर तभी रह सकता है जब वह विषयवस्तु के बाहर न जाकर अपने ऊपर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचक के विशेष दृष्टिकोण की उपादेयता इस बात पर निर्भर करती है कि वह शक्ति-सम्पन्न है और अपने को सीमा में नियन्त्रित रख अपनी बात तर्कसंगत ढंग से उपस्थित करता है। जिस सीमा में निबद्ध रहने की बात हम कह रहे हैं, उसके निर्धारण में पाठक की रुचि और दृष्टिभंगी का कम हाथ नहीं रहता।

आलोचक जब किसी कलाकृति की विवेचना में लगा रहता है तब वह सर्वप्रथम उसको ध्यान से रख उस कृति को आत्मसात् करता है। उस कृति में व्याप्त सत्य को वह ध्यान में रखता है और उसके आधार मानकर कृति की मार्मिकता तक पहुँचता है और तब उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रक्रिया में आलोचक

अगर इधर-उधर बहक जाय, दूसरों के दिखाए मार्ग का अन्ध-भाव से अनुसरण करने लगे तो उस कृति की बारीकियों तक पहुंचना उसके लिए कठिन हो जायगा। एक उदाहरण लें। अगर नैतिकता के संकुचित क्षेत्र में हम अपने को निबद्ध रखकर अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' अथवा जैनेन्द्रकुमार की 'सुनीता' पर विचार करना शुरु कर दें तो उन कृतियों के प्रति हम न्याय नहीं कर पाएंगे। अतएव यहां स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि कोई भी आलोचक जब किसी कृति की विवेचना करने बैठता है तब वह किसी विशेष सिद्धान्त को ध्यान में रखकर वैसा नहीं करता और न वैसा करना उसके लिए संभव ही है। जब किसी तथ्य पर हम प्रकाश डालते हैं या किसी विचारधारा की छानबीन करते हैं तो उसके विभिन्न पहलुओं की ओर हमारी दृष्टि जाती है। यहां तक तो बात ठीक रहती है लेकिन विताडा का प्रारम्भ उस समय होता है जब हमारी दृष्टि में अस्पष्टता हो या जब वह दृष्टि सुलझी हुई न हो। उस हालत में सीमा के औचित्य और अनौचित्य का ध्यान नहीं रहता और तर्काभास का प्राधान्य हो जाता है। *उस समय हम आवेगों से परिचालित होने लगते हैं और हमारी तार्किकता अथवा* सोचने के ढंग में स्पष्टता नहीं रह जाती।

इसके सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि एक क्रियाशील मस्तिष्क जिस साधन का उपयोग करता है उस समय उसकी सीमित शक्ति का ध्यान नहीं रखता। वह किसी भी मतवाद या विशेष सिद्धान्त पर आधारित विचारधारा को मन की सहज प्रक्रिया मान बैठता है। उसे यह समझने का अवकाश नहीं रहता कि जिसे वह मन की सहज प्रक्रिया मान बैठा है वह वास्तव में उस मतवाद तथा विशेष सिद्धान्त से अभ्यस्त हो जाने के कारण होता है। किसी विशेष सिद्धान्त से चिपटे रहकर उसे सब पर लागू होने वाला सिद्धान्त मान लेने पर जैसी परिस्थिति आलोचना के क्षेत्र में उत्पन्न होती है वही भय का कारण है। जब आलोचक अंध-भाव से किसी विशेष सिद्धान्त से चिपटा रहता है तब पहले से ही बिना किसी तर्क का सहारा लिए किसी बात को ठीक मान बैठता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि जो कुछ वह कहने जा रहा है उसके प्रमाण उसे उस कृति में मिलेंगे या नहीं। ऐसे आलोचक जोर से अपनी बात मनवा लेना चाहते हैं। वे मान लेते हैं कि जोर देकर अगर कोई बात कही जाय तो वह सत्य मान ली जाएगी। केवल इतना ही नहीं, ऐसा भी होता है कि अपनी बात को तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए वह तथ्यों को तोड़-मरोड़ भी डालता है, लेकिन इस तरह के आलोचकों में एक बात अवश्य देखने को मिलती है और वह यह है कि यद्यपि अपनी मान्यता की सीमा में घिरे रहने के कारण वे व्यापक दृष्टि से किसी कृति का अध्ययन नहीं करते, फिर भी अपनी संकीर्ण सीमा में विषय के प्रतिपादन के लिए बहुत-से प्रमाण और तथ्य उन्हें इकट्ठे करने पड़ते

हैं। इस प्रकार से सकीर्ण क्षेत्र मे काम करने के कारण उनकी आलोचना मे हमें दो वस्तुए प्राप्त हो जाती हैं—एक तो बहुत-से विद्वतापूर्ण तथ्यो और विचारो से परिचय और दूसरी सीमित क्षेत्र मे गहराई मे पैठने की उनकी दृष्टि।

आलोचक वास्तव मे कृतियो की व्याख्या करने मे इसलिए प्रवृत्त होता है कि उससे कृतियो की कलात्मक खूबियोका सही-सही मूल्याकन हो सके। इस दृष्टि से साहित्य क्षेत्र मे लगे हुए शोधकर्त्ताओ और साहित्य का इतिहास लिखने वालो से आलोचक का काम भिन्न हो जाता है। शोध करने वाले या इतिहास लिखने वाले वैज्ञानिको की तरह आकड़ो तथा तथ्यो को इस प्रकार उपस्थित करते है कि उनकी सत्यता और प्रामाणिकता की जाच सहज मे ही की जा सकती है। साहित्य के मूल्याकन की इस प्रकार से जाच नही हो सकती जिस तरह वैज्ञानिक तथ्यो और आकडो की जाच की जाती है।

कुछ लोगो ने यह सुझाव दिया है कि कुछ कलाकृतियो के अध्ययन के बाद कुछ ऐसे सिद्धात स्थिर किए जा सकते हैं जिन्हे ध्यान मे रखकर कलाकृतियो का मूल्याकन किया जा सकता है अथवा अपनी कृति के निर्माण मे लगा हुआ कलाकार उन्हे सब समय अपने ध्यान मे रख सकता है अथवा उसे उनका सब समय ध्यान रखना चाहिए। लेकिन होता यह है कि बाद मे कुछ और कृतियो के अध्ययन के बाद वे सिद्धात उचित नही जँचते। काल और वातावरण के परिवर्तन के साथ भी यह देखने को मिलता है कि ये सिद्धान्त तालमेल बनाए रखने मे समर्थ नही हो पाते। सबसे बड़ा खतरा तो उस समय उपस्थित होता है जब ये सिद्धान्त ऐसे व्यक्तियो के हाथो मे पड़ते हैं जो अध-भाव से यन्त्रवत् उनका सहारा लेने लगते हैं।

इसीलिए बहुत लोगो ने कहा है कि आलोचना वास्तव मे इस बात मे सहायक होती है कि किसी कलाकृति की खूबियो को देखने मे हम समर्थ हो और उसके द्वारा हमारे भीतर कला के सौन्दर्य-तत्त्व को समझने की शक्ति का विकास हो। उनका कहना है कि आलोचना के द्वारा हम एक ऐसी दृष्टि पाते हैं जिससे हम कलाकृतियो को उचित ढग से 'देख' पाते हैं। आलोचक सिद्धान्तो की स्थापना नही करते जिन्हे हम यन्त्रवत् कलाकृतियो के समझने मे लागू करें।

कहा जाता है प्रत्येक कलाकृति अपने-आप मे 'अद्वितीय' है, वह अपने-आप मे अकेली है तथा उसके मूल्याकन के लिए कही अन्य प्रतिमान ढूँढने नहीं जाना होगा। वह प्रतिमान उस कलाकृति मे ही निहित है। कलाकृतियो को 'अद्वितीय' कहने का तात्पर्य यह है कि अगर कलाकार भी चाहे तो उसी 'वस्तु' को दुबारा निर्मित नहीं कर सकता। उसकी प्रत्येक कृति अपने-आप मे अकेली और स्वतन्त्र है। जीवन के विशेष क्षण को स्थायी बनाने का प्रयास उन कृतियों मे होता है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अपने मे अद्वितीय है, उसी प्रकार वाल्मीकि की

रामायण भी। दोनों कृतियों में रामकथा को ही आधार बनाया गया है, लेकिन दोनों में कोई भी एक-दूसरे का स्थान नहीं ले सकती। तुलसीदास की ही अन्य रचनाएँ अपनी-अपनी अलग-अलग विशेषताएँ लिए हुए हैं।

कलाकृतियों को 'अद्वितीय' जब हम कहते हैं तब उसका मतलब यह हो जाता है कि उसकी परीक्षा के लिए उससे बाहर किसी मानदंड को खोजना व्यर्थ है, क्योंकि अपने जैसी वह अकेली कृति है और उसकी परीक्षा का प्रतिमान उसी में ढूँढना होगा। लेकिन एक बात हमें समझ लेनी चाहिए कि 'अद्वितीय' होने पर भी यह सही है कि कलाकृतियाँ सब-कुछ से विच्छिन्न नहीं हैं। विच्छिन्न रूप में अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। वे कृतियाँ अपने ही जैसी अन्य कृतियों में आसन ग्रहण किए हुए हैं और वे किसी एक परम्परा की परिधि में निबद्ध हैं। किसी भी कला के इतिहास पर अगर हम ध्यान दें तो पाएँगे कि काल-क्रम से उस कला के लिए कुछ विधि-निषेधों की सृष्टि हो गई है। सचेत आलोचक किसी कलाकृति को नियमों की कगार में खड़ी कर उस पर विचार करना नहीं चाहेगा, फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उस कलाकृति के सम्बन्ध में उसके मन में जो ज्ञान अपने-आप आते हैं उन्हें वह कालक्रम से प्रतिष्ठा पाए हुए नियमों से संयमित करने का प्रयास करता है। उन नियमों को संपूर्ण रूप से अपनी दृष्टि से ओझल कर देना उसके लिए संभव नहीं होता। वैसे उनकी अवहेलना की जा सकती है, फिर भी इतना सही है कि वे नियम इस दृष्टि से लाभदायक हैं कि उनके द्वारा अनुशासन का जन्म होता है और आलोचक को एकांगीपन के खतरे से बचाने में वे सहायक सिद्ध होते हैं।

अभी तक हम जिन बातों की चर्चा करते रहे हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकृतियों के मूल्यांकन के लिए कोई प्रतिमान खोज निकालने का काम कितनी उलझनें उपस्थित करता है। हाल में इस मूल्यांकन के आधार खोजने में जो प्रयास हुए हैं उनमें तीन प्रमुख हैं। सबसे पहला तो यह है कि अभी तक काव्य का मूल्यांकन कवि को दृष्टि में रखकर किया जाता रहा है, लेकिन आज काव्य के मूल्यांकन के लिए लक्ष्यीभूत श्रोता को ध्यान में रखने की बात कही जाने लगी है। कवि या रचयिता को ध्यान में रखकर अध्ययन का जो प्रकार रहा है उसमें यह समझने की चेष्टा थी कि विशेष रचना के पीछे कौन-सी प्रेरणा क्रियाशील थी। कवि किस प्रेरणा से परिचालित हो रहा था। इस बात की जानकारी प्राप्त करने के साथ-साथ आलोचक उसके देश, उसके समाज, उसके वंश तथा परि-पार्श्व से परिचय प्राप्त करना आवश्यक मानता था। पाश्चात्य देशों में हाल तक मूल्यांकन का यही आधार रहा है। रचनाकार की रचना के आधार पर उस रचनाकार के ज्ञान, उसकी दृष्टि की गहराई, उसकी ईमानदारी अथवा उसकी भावनाओं की वास्तविकता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

लेकिन अब इस दृष्टिभंगी में एक परिवर्तन-सा आ गया है। लक्ष्यीभूत श्रोता, जिसे संस्कृत के आचार्यों ने सहृदय कहा है, मूल्यांकन के लिए मुख्य हो गया है। अब यह तथ्य निरूपित किया जाने लगा है कि जिस श्रोता को ध्यान में रखकर रचनाकार अपनी रचना में प्रवृत्त हुआ उसका स्वभाव, उसके संस्कार आदि क्या थे। इस अध्ययन के फलस्वरूप अब यह कहा जाने लगा है कि रचनाकार जानता था कि वह जिससे कहने जा रहा है, अतएव वह समझ रहा था कि उसे कैसे और क्या कहना चाहिए। इसके आधार पर अब रचनाकार की सफलता या असफलता का निरूपण किया जाने लगा है। वास्तव में किसी कृति का विवेचन कहा जा सकता है कि काल-विशेष और परिवर्तन-विशेष में वह उस (कृति) का रूपायन या प्रत्यक्षीकरण है। अतएव विज्ञान और गणित में जिस प्रकार से काल और स्थान को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, वैसा कलाकृतियों की आलोचना में नहीं किया जा सकता। तर्कों द्वारा कलाकृतियों के गुण-दोषों को सिद्ध कर देना आलोचना नहीं है। काल, स्थान और पाठक के अनुसार गुण या दोष के प्रतिमान स्थिर होते हैं, वैसे यह भी सही है कि आलोचना उन्हीं से बँध नहीं जाती क्योंकि ऐसा अगर होता तो आज न हम कालिदास या वाल्मीकि के काव्य में आनन्द पाते और न शेक्सपियर या इब्सन के नाटकों में।

मूल्यांकन का दूसरा मुख्य आधार भाषा और शब्दों के विश्लेषण को बताया जाता है। काव्य के मूल्यांकन में शब्दों के प्रयोग, भाषा, वाक्य-विन्यास आदि का अपना एक अलग महत्त्व है, क्योंकि जब कवि शब्दों आदि का प्रयोग करता है तो उसके प्रयोग करने के ढंग अथवा उन शब्द-विशेषों द्वारा वह मूल्यांकन भी करता जाता है। भले ही उन शब्दों या उनके प्रयोगों तथा कहने के ढंग का मूलभूत मूल्यों से दूर का सम्बन्ध हो, फिर भी यह तो नहीं भुलाया जा सकता कि काव्य शब्दों के द्वारा रचित होते हैं। इसको थोड़ा और स्पष्ट रूप में समझने की चेष्टा करें। जैसे कोई कह उठे—वाह! अरे! बस-बस! छि-छि! तो वह इन शब्दों के प्रयोग तथा कहने के ढंग से अपने भीतर के भावों को, जो अभी स्पष्ट रूप नहीं धारण कर सके हैं, अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्ति देता है। फिर यह भी होता है कि कोई कहता है कि यह घृणित है अथवा यह अन्याय है या कोई यों कहे कि कितना सुन्दर है अथवा कितना भद्दा है तो इन प्रयोगों द्वारा अपने भावों या प्रतिक्रियाओं को अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त देता है। कुछ ऐसे भी शब्द या वाक्य या उनके प्रयोग हैं जिनमें अपने-आप में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कुछ अभिव्यक्त करने की शक्ति नहीं होती, लेकिन प्रसंगानुसार वे ऊपर के बताए दोनों प्रकार के शब्दों आदि से कहीं अधिक हमारे भावों तथा हमारी संवेदनाओं को व्यक्त करते हैं तथा सुनने वालों को प्रभावित करते हैं। जैसे समाज के किसी अनिष्ट या किसी अनिष्टकारी के लिए, जो समाज के लिए अत्यन्त सुपरिचित है

को अधिक शक्तिशाली और अर्थपूर्ण माना है और उनका कहना है कि आदिम मानव के मिथक, धार्मिक कृत्य आदि मनुष्य के अवचेतन मन के मूल मे है जो साहित्य, कला आदि को रूप दे रहे हैं।

काव्य मे जिन भाव-चित्रो को हम पाते है उनके मूल मे हमारा अवचेतन मन है अर्थात् मिथक ही भाव-चित्रो का रूप ग्रहण करते हैं, अथवा उनके रूप-ग्रहण करने के मूल मे होते है। इस मत को स्वीकार करने वाले कहते हैं कि भिन्न-भिन्न भाव-चित्रों का संकट्य काव्य को रूप देता है और काव्य के रूप ग्रहण करने की इस प्रक्रिया मे तार्किकता रहती ही नही या रूप-ग्रहण करने की प्रक्रिया की सबलता और सत्यारम्भकता कुछ ऐसी होती है कि तार्किकता उसे छू नही पाती। इन लोगो के अनुसार काव्य के द्वारा कवि सम्पूर्ण समाज के मौन, मूक अतर को छूकर झकृत कर देता है और वह उन चित्रो और स्वप्नो का उपभोग करने लगता है। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज के मौन, मूक अन्तर से आशय यहाँ समाज के अवचेतन मन से है और जिसके मूल मे आदिम मानव-समाज के मिथक तथा धार्मिक कृत्यो के सस्कार आदि हैं।

अब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मिथको और स्वप्नो का सिद्धान्त क्या ऐसा आधार उपस्थित करता है जिससे काव्य को समझा जा सके और उसका आस्वादन किया जा सके? किसी कवि को उत्कृष्ट और किसी को साधारण कहने का फिर क्या यह अर्थ होगा कि उत्तम कविता लिखने वाले ने उत्तम मिथक को अपनाया है और साधारण कवि ने साधारण मिथक को? अथवा क्या इसका यह अर्थ होगा कि उत्तम कवि ने मिथको के उपयोग मे निपुणता दिखलाई है और साधारण कवि वैसा करने मे असमर्थ रहा? अगर ये प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं तो मूल्यांकन के जो आधार अब तक स्वीकृत हैं उनसे इसमे फर्क कहाँ है?

ऊपर हमने जिन तीन सिद्धातो की चर्चा की है उनमे मनुष्य के समाजगत रूप को ही ध्यान मे रखा गया है। लेकिन आज का मनुष्य अपनी वैयक्तिकता को लिए हुए हमारे समक्ष उपस्थित होता है, अतएव कलात्मक कृतियो के मूल्यांकन मे इसका ध्यान रखना आवश्यक है। कलाकृतियो के अच्छा या बुरा कहने का मतलब 'व्यक्ति' की पसदगी और नापसदगी से सबद्ध है। किसी कलाकृति को जब कोई अच्छा या बुरा कहता है तब वह निर्णय देता है। और अपने निर्णय की सगति बिठाने के लिए हम युक्ति और तर्क देते हैं। वास्तव मे कलाकृति का सबध केवल हमारी बौद्धिकता से नही है बल्कि उसके साथ हमारा रागात्मक सबध स्थापित हो जाता है। अतएव किसी व्यक्ति के तर्क या उसकी युक्ति को ऐसा प्रतिमान नही स्वीकार किया जा सकता जिसका उपयोग सर्वत्र किया जा सके। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल्यांकन निर्वैयक्तिक नही होता। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि काल और स्थान को बिना ध्यान मे रखे किसी मत

या आलोचना के आधार को स्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं होगा। इसलिए यह कहना असंगत नहीं होगा कि कलाकृतियों के गुण-दोष का निर्देश करने के लिए आलोचना एक ऐसा साधन है जो निर्धारित या निश्चित पथ नहीं पकड़ती। आलोचना का उद्देश्य किसी बात को सिद्ध करना नहीं है। तर्क पर आधारित सत्य, वैज्ञानिक प्रणाली अथवा कानूनी या नैतिक नियमों में एक प्रकार की जो स्थिरता देखने को मिलती है आलोचना के क्षेत्र में उसकी खोज करना कुछ अर्थ नहीं रखता। काल, स्थान और पाठक के अनुरूप आलोचना के सिद्धांत रूप-ग्रहण करते हैं लेकिन समय के परिवर्तन के साथ मनुष्य की 'दृष्टि' भी परिवर्तित हो जाती है। अतएव 'साहित्य के मूल्यांकन' का स्थिर किया हुआ सिद्धांत शाश्वत नहीं हो सकता। इतना स्वीकार करने पर भी एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि देश और काल की सीमा का अतिक्रम कर जब कुछ बातें लोगों के मस्तिष्क पर अधिकार किए हुए रहती हैं तब यह परिणाम निकालना उचित समझा जाना चाहिए कि उनके पीछे कुछ ऐसे तत्त्व क्रियाशील हैं जो सब समय काम करते रहते हैं और अपना प्रभाव बनाए रहते हैं। अगर इसे हम स्वीकार न करें और आलोचना को केवल काल और स्थान-सापेक्ष मानें तो इसका हमारे पास क्या उत्तर होगा कि दूसरी-दूसरी संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न युगों की कलाकृतियों में हम क्यों आनन्द पाते हैं ?

सब-कुछ को देखने पर लगता है कि किसी रचना या कलाकृति पर विचार करने के लिए एक ही प्रतिमान नहीं हो सकता बल्कि उस पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर ही कृति या रचना का मूल्यांकन हो सकता है। अंत में कहा जा सकता है कि मानव-जाति की सहज बुद्धि को ही काव्य अथवा अन्य कलाकृतियों की अच्छाई-बुराई के मूल्यांकन का आधार मानना उचित है। कला सृजन है, अन्वेषण नहीं। इसी प्रकार आलोचना और मूल्यांकन भी सृजनात्मक हैं। कलाओं की विशेषताएँ इन्द्रियग्राह्य हैं और इन्द्रियों के माध्यम से ही ये कल्पना को गतिशीलता प्रदान करती हैं। हमारी अनुभूतियों का वैविध्य, कलाओं से हमारे परिचय का वैविध्य तथा हमारी विवेचना और अनुशीलन की शक्ति हमारे सौन्दर्य-बोध को विकासशील बनाती है और कलाकृतियों के मूल्यांकन के लिए एक विशेष 'दृष्टि' प्रदान करती है।